स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद की पी-एच.डी. उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

1994

शोधार्थी :

रूपेन्द्र सिंह एम. ए., एम. फिल्.

शोध निर्देशिका और विभागाध्यक्षा :

प्रो. शशि मुदिराज डी. लिट्,

हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय,

हैदराबाद–500 134.

NAME OF THE RESEARCH SCHOLAR : ROOPENDRA SINGH

DEPARTMENT / CENTRE : HINDI

UNIVERSITY OF HYDERABAD

This is to certify that I, ROOPENDRA SINGH have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the Ph.D. Ordinances of the University.

I declare that no part of this thesis was earlier submitted for the award of any research degree or diploma to any University.

R Singh 19/12

DATE: 19-12-1994 SIGNATURE

Sinha 19/12/94
(RESEARCH SUPERVISOR)

Sinha 19/12/94
(HEAD DEPARTMENT/CENTRE)

Prof. & Head, Dept. of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

R. Ramanan
(DEAN OF SCHOOL)
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad,
Hyderabad-500 134.

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

विषयानुक्रमणिका

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

विषयानुक्रमणिका

		पृष्ठ संख्या
0	प्राक्कथन	1-4
	प्रथम अध्याय	
1	भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और बुद्धिजीवी वर्ग का उदय	5-60
1.1	आधुनिकीकरण की परिभाषा	6
1.2	भारत में आधुनिकीकरण	11
1.2.1	आधुनिकीकरण : आर्थिक संदर्भ में	12
	अ§ ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन	12
	आ§ औद्योगीकरण	16
	इ§ शहरीकरण या नगरों का विकास	18
1.2.2	यातायात एवं संचार साधन तथा भौगोलिक एकीकरण	20
1.2.3	आधुनिकीकरण का सामाजिक संदर्भ और मध्यवर्ग का उदय	23

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

पृष्ठ संख्या

1.2.4	परिवार का विघटन	27
1.2.5	शिक्षा का प्रचार-प्रसार	29
1.3	भारतीय समाज की वर्ग संरचना और बुद्धिजीवी वर्ग का उदय	31
1.3.1	भारतीय समाज में नये वर्गों का उदय	32
1.3.2	भारतीय मध्यवर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग	43
1.3.2.1	बुद्धिजीवी वर्ग की परिभाषा	46
1.3.2.2	बुद्धिजीवी वर्ग का विकास	46

द्वितीय अध्याय

2	स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग - प्रस्थिति और भूमिका	61-77
2.1	राजनैतिक - आर्थिक घटनाक्रम	62
2.2	नये आर्थिक दबाव और परिवार का विघटन	68
2.3	सामाजिक संरचना में बदलाव और मध्यवर्ग का महाकाल	70
2.4	दोहरी मूल्य - व्यवस्था और दोहरा चरित्र	71
2.5	स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग की स्थिति	74

तृतीय अध्याय

3	स्वातन्त्र्य पूर्व हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग की प्रस्तुति	78-110

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

पृष्ठ संख्या

चतुर्थ अध्याय

4	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण : व्यावसायीकरण के परिप्रेक्ष्य में	111-178
4.1	व्यावसायीकरण, आर्थिक दबाव और बुद्धिजीवी वर्ग	111
4.2	महत्वाकांक्षा और सफ़लता की अंधी दौड़	119
4.3	शोषक और शोषित की दोहरी भूमिका	149
4.4	दोहरी नैतिकता और दोहरे मानदण्ड	158

पंचम अध्याय

5	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण : संवेदनशीलता का असाहचर्य	179-212
5.1	संवेदनशीलता का असाहचर्य और भावनात्मक शोषण	181
5.2	आत्मविश्लेषण	189
5.3	आत्मनिर्वासन	198

षष्ठ अध्याय

6	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी वर्ग की प्रगतिशील भूमिका	213-266
6.1	परम्परा और यथास्थिति से विरोध	213
6.2	महत्तर मूल्य और संघर्ष	231

पृष्ठ संख्या

6.2.1	पारिवारिक स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना व संघर्ष	232
6.2.2	सामाजिक व व्यावसायिक स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना व संघर्ष	238
6.2.3	आत्मगौरव की भावना	258
6.2.4	स्वाभिमान की भावना	264

सप्तम् अध्याय

7	बुद्धिजीवी वर्ग की प्रकृति और नियति	267-278
	उपसंहार	279-296
	ग्रन्थानुक्रमणिका	297-301

o
o o
o

प्राक्कथन

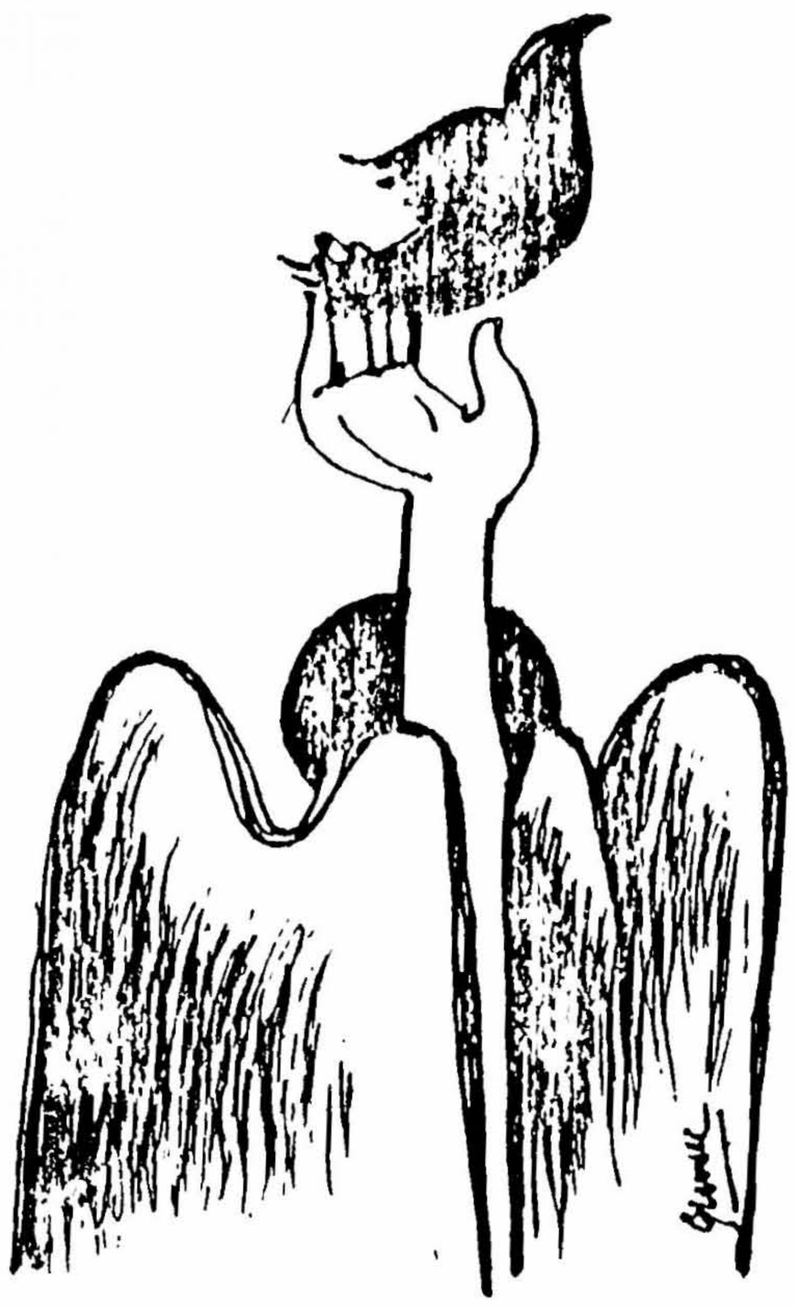

प्राक्कथन

प्रस्तुत अध्ययन की प्रेरणा मिली स्वातन्त्र्योत्तर भारत के यथार्थ को तीखी व्यंजना देने वाले कवि धूमिल की इन पंक्तियों में -- "मगर जो जिन्दगी को किताब से नापता है / जो असलियत और अनुभव के बीच / खून के किसी कमज़ात मौके पर कायर है /" -- एकाएक यह सवाल कौंधा कि यह किसके लिए कहा गया है ? मेरे प्रश्न के उत्तर में बार-बार समाज का एक वर्ग उभर कर आने लगा, मेरे सवाल जाकर एक ही तस्वीर पर रुकने लगे और वह तस्वीर थी एक ऐसे वर्ग की जो विचारधारा के चश्मे से दुनिया को देख रहा है, जो किताबों के ज़रिए ज़िन्दगी को समझ रहा है, जो सर्वहारा, आइडियॉलोजी, प्रोक्सी जैसे बड़े-बड़े शब्दों से जूझ रहा है, अपने सामने खड़े सवालों के जवाब में कभी भारतीय दर्शन और परम्परा तो कभी पश्चिमी देशों की आइडियॉलोजी की ओर देख रहा है और अधिकतर आमने-सामने के संघर्ष से कतरा रहा है। बड़ी दिलचस्प तस्वीर है यह लेकिन बड़ी कारुणिक और शोचनीय भी, क्योंकि यह आधुनिक भारत के बुद्धिजीवी की तस्वीर है। ऐसा क्यों ? यह विसंगति, यह अकर्मण्यता, यह पुंसत्वहीनता क्यों ? तब धूमिल ने बताया "आग सबको जलाती है / यह तो संयोग की बात है कि कुछ को शब्द मिल चुके हैं / और कुछ अक्षरों के आगे अन्धे हैं / जो हर अन्याय को चुपचाप सहते हैं / और पेट की आग से डरते हैं /" --- तब मेरी आँख के

आगे से पर्दे हटने लगे और वस्तु-सत्य उभरने लगा। व्यवस्था का खूंखवार शोषक चेहरा जो कभी मार से तो कभी प्यार से बुद्धिजीवी वर्ग को पालतू बना रहा है। फिर मैंने मुक्तिबोध को पढ़ा जिससे कई वैचारिक भ्रम साफ़ होने लगे। फिर मुक्तिबोध की कहानियाँ मैंने पढ़ी और आलोचना भी जिसमें उन्होंने बार-बार मध्यवर्गीय सफ़ेदपोश की दोहरी मानसिकता की ओर संकेत किया और इसके कारण-निवारण पर विचार किया है। तब मेरी उत्सुकता बढ़ती गई, तब मुझे लगा कि आधुनिक भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की प्रगति और अगति को रचना के स्तर पर समझने और आस्वादित करने के लिए उपन्यास बहुत अच्छा माध्यम है क्योंकि यह स्वयं "मध्यवर्ग का महाकाव्य" (हीगल) है। इसके सर्जक, आस्वादक और विषय-वस्तु तीनों ही केन्द्रों पर बुद्धिजीवी विद्यमान है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के उपन्यास मुझे इस अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त लगे।

स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में अधिकांशत: उपन्यासों को इस अध्ययन में समेटने की कोशिश की गयी है। उपन्यासों के चयन में प्रतिनिधिकता का ध्यान इस दृष्टि से रखा गया है कि इनमें बुद्धिजीवी वर्ग के अधिक-से-अधिक पहलू चित्रित किये गये हों। प्रस्थान-बिन्दु एवं पृष्ठभूमि के रूप में स्वातन्त्र्यपूर्व उपन्यासों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन को समुचित सैद्धान्तिक आधार देने के लिए प्रथम दो अध्यायों में क्रमश: भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया, बुद्धिजीवी वर्ग

के उदय तथा स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग की प्रस्थिति और भूमिका पर विचार किया गया है। अगले चार अध्यायों में उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में बुद्धिजीवी वर्ग का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और सातवाँ अध्याय इस पूरे सामाजिक-आर्थिक सैद्धान्तिक तथा उपन्यासों में उसके विनियोग को एक विवेचनात्मक परिणति देता है। अंत में प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों को "उपसंहार" के अन्तर्गत समाकलित किया गया है।

मेरी प्रारम्भ से ही यह इच्छा थी कि प्रो. शशि मुदिराज जी के निर्देशन में शोध कार्य करूँ। इसका कारण था उनका गहन अध्ययन और चिन्तन। जिससे मैं अपने एम.ए. के समय से ही प्रेरित होता रहा था। मैं भाग्यशाली हूँ कि मेरी इच्छा पूरी हुई और उनके निर्देशन में एम. फिल्. का कार्य पूरा करने के बाद पुनः पी-एच.डी. करने का भी अवसर मिला। सच तो यह है कि मुझे न केवल उनसे मार्गदर्शन व प्रेरणा ही मिली बल्कि शोध के लिए विषय-चयन से लेकर विश्लेषण और उपसंहार तक, एक-एक पग पर उनकी सहायता भी मिलती रही है। वास्तव में उनकी सद्प्रेरणा तथा निर्देशन के बिना इस शोध प्रबन्ध की कल्पना भी असम्भव थी। मेरे पास उनके प्रति समुचित आभार प्रकट करने के लिए न तो उपयुक्त शब्द हैं और न ही साहस। बस, भविष्य में भी पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थी और उनके आशीर्वाद का याचक हूँ।

अपने मित्रों डॉ. रवि रंजन, राम प्रकाश, सुभाष, गोपाल, सुहास, फल्नीकर, पुष्पा, संजय सिंह, नायुडु, नरेन्द्र, राजकिशोर आदि से हमेशा प्रोत्साहन मिलता रहा है। अतः उनके प्रति आभार प्रकट करना तो मात्र औपचारिकता होगी फिर भी लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

साहित्यिक स्वभाव के श्री गोविन्द अक्षय जी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध की पाण्डुलिपि को अत्यन्त अल्पावधि में शुद्ध, सुन्दर और आकर्षित रूप में टंकित कर दिया है।

अपने परिवार के पूज्य बाबा और माँ का न केवल प्रोत्साहन रहा बल्कि उनसे यथावश्यक सहायता और सहयोग भी मिला। उनके प्रति आभार व्यक्त करने का साहस नहीं हो रहा है -- उनके आशीर्वाद का प्रार्थी हूँ। तथा अन्य सदस्यों बड़े भैया, सतेन भैया, भाभी जी, दोनों बड़े जीजी-जीजाजी, लक्ष्मण सिंह काकाजी, स्वरूप सिंह फूफा जी, बुआ जी, ब्रज मामाजी, मामी जी, दिनेश भाई, मनमोहन भाई, तिलक भाई, जयराज और दोनों छोटी बहनों -- स्वर्णा, शशि के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जो कि मेरे कार्य के साक्षी रहे हैं।

यह शोध-कार्य समर्पित है मेरे अकाल दिवंगत रवि भाई साहब को जिनकी अथक प्रेरणा, उत्साह और सहायता के कारण मेरा यह कार्य बढ़ता रहा किन्तु परिणति पर पहुँचने के पूर्व ही वे अपनी जीवन-लीला समाप्त कर गये। विधि के विधान को क्या कहूँ। यही विश्वास संबल देता है कि आज वे होते तो मेरे कृतकार्य होने पर सबसे अधिक प्रसन्नता उन्हीं को होती।

(रूपेन्द्र सिंह)
शोधार्थी

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

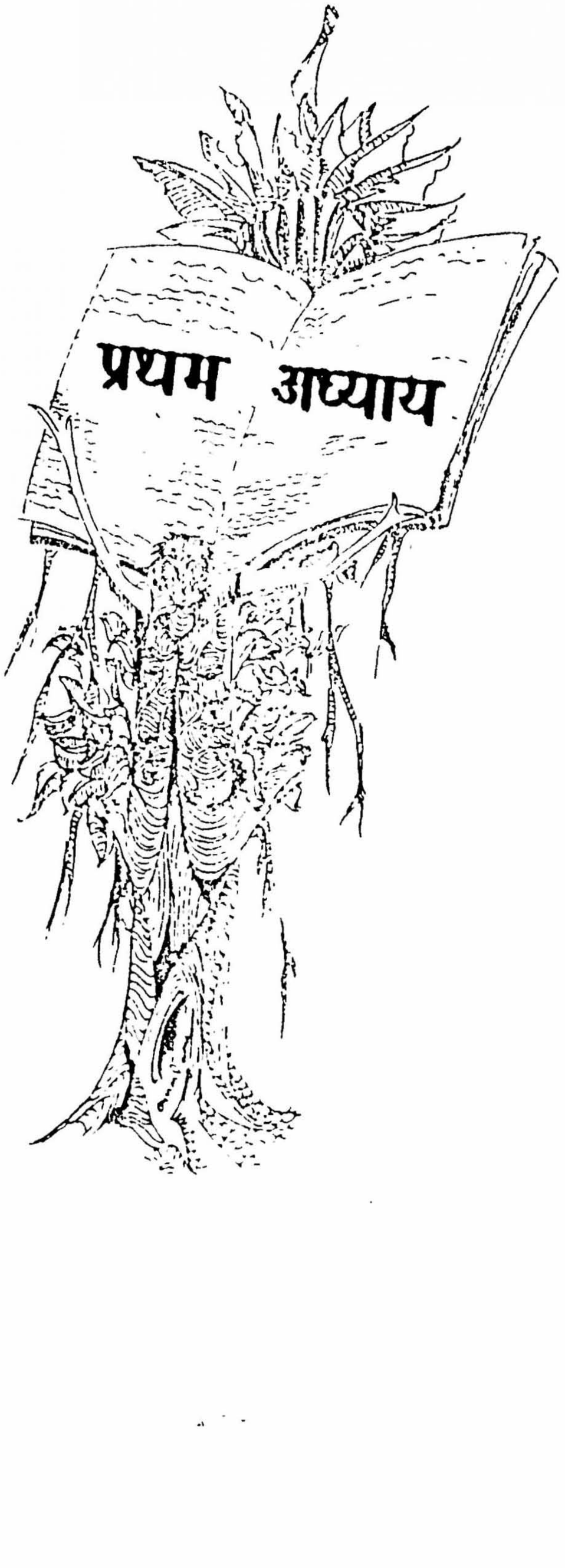

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

प्रथम अध्याय

1. भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और बुद्धिजीवी वर्ग का उदय

1.1 आधुनिकीकरण की परिभाषा

1.2 भारत में आधुनिकीकरण

1.2.1 आधुनिकीकरण : आर्थिक संदर्भ में

अ§ ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन

आ§ औद्योगीकरण

इ§ शहरीकरण या नगरों का विकास

1.2.2 यातायात एवं संचार साधन तथा भौगोलिक एकीकरण

1.2.3 आधुनिकीकरण का सामाजिक संदर्भ और मध्यवर्ग का उदय

1.2.4 परिवार का विघटन

1.2.5 शिक्षा का प्रचार-प्रसार

1.3 भारतीय समाज की वर्ग संरचना और बुद्धिजीवी वर्ग का उदय

1.3.1 भारतीय समाज में नये वर्गों का उदय

1.3.2 भारतीय मध्यवर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग

1.3.2.1 बुद्धिजीवी वर्ग की परिभाषा

1.3.2.2 बुद्धिजीवी वर्ग का विकास

प्रथम अध्याय

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और बुद्धिजीवी वर्ग का उदय

आधुनिकीकरण का अर्थ है -- आधुनिकता की दिशा में अग्रसरित होने की प्रक्रिया। प्राचीन व पारम्परिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तन तथा नये मूल्यों व आस्थाओं का प्रकाश में आना ही आधुनिकीकरण है। श्री एम. एन. श्रीनिवास ने "आधुनिकीकरण का अर्थ अच्छाई से लिया है। किसी भी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी गैर पश्चिमी देश में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण है। आधुनिकीकरण में कुछ परिवर्तनों को सम्मिलित कर सकते हैं जैसे नगरीकरण, साक्षरता का प्रसार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, वयस्क मताधिकार तथा तर्क का विकास। आगे वे आइजन स्टेड का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि "ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण उस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमरीका में और बीसवीं शताब्दी तक दक्षिणी अमरीकी एशियाई तथा अफ्रीकी देशों में विकसित हुई।" सामान्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि आधुनिकीकरण आधुनिक समाज की विशेषताओं से सम्बद्ध है। अतः स्पष्ट है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया किसी एक ही दिशा या क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन को प्रकट नहीं करती वरन् यह एक बहुदिशा वाली प्रक्रिया है। साथ ही यह किसी प्रकार के मूल्यों से बंधी हुई नहीं है परन्तु कभी-कभी इसका अर्थ अच्छाई और इच्छित परिवर्तन से लिया जाता है।"[1]

प्रश्न यह उठता है कि कौन-कौन से परिवर्तन और प्रक्रिया होने पर तथा कौन-सी स्थिति उत्पन्न होने पर हम आधुनिकीकरण की संज्ञा दे सकते हैं ? इस सम्बन्ध में बेनडिक्स का मत है कि "आधुनिकीकरण से मेरा तात्पर्य उस किस्म के सामाजिक परिवर्तन से है जो 1760-1830 में इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति तथा 1789-1794 में फ्रांस की राजनैतिक क्रांति के दौरान उत्पन्न हुए।"[2] भारत के संदर्भ में रमेश कुंतल मेघ कहते हैं कि "भारत का समसामयिक काल (1947-) आधुनिकीकरण के अन्तर्गत एक विश्व आर्थिक क्रांति और राष्ट्रीय सामाजिक आन्दोलन का है जिससे कि शताब्दियों से निम्नतर जीवन गुजारने वाली जनता का जीवन खुशहाल हो, सामाजिक व्यवस्था में समाजवाद के विश्वजनीन आधार आ सके, अवकाश उपलब्ध होने पर सृजनात्मकता की प्रचुरता हो।"[3] इस तरह औद्योगिक क्रांति, राजनीति के क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली, आधुनिक शिक्षा प्रणाली तथा सामाजिक परिवर्तन की शुरूआत पश्चिमी देशों में हुई और इसी का अनुकरण भारत में हुआ। "अतः उन परिवर्तनों का, जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और अन्य क्षेत्रों में पश्चिमी देशों में हुए, दूसरे देशों में अनुकरण होता है तो सामान्यतः हम उसे आधुनिकीकरण की संज्ञा दे सकते हैं।"[4]

1.1 आधुनिकीकरण की परिभाषाएँ

रमेश कुंतल मेघ के अनुसार आधुनिकीकरण की परिभाषा इस प्रकार है "आधुनिकीकरण (मॉडर्नाइजेशन) की भौतिक तथा तकनीकी उपलब्धियों के द्वारा समाज-व्यवस्था का वह चरण आता है जिसमें मशीन, तकनालॉजी विवेकशील तथा धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण और बेहद विविकृत सामाजिक रचना-गठन प्रधान हो जाते हैं।

अतः यह देशों को वर्तमान समय में ले आता है। अतः परम्परागत समाज* के व्यतीत होकर विकसित तथा आर्थिक दृष्टि से समृद्ध देश का निर्माण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया है जो समसामयिक दुनिया में घटती है।"[5] बी. बी. शाह ने "प्राब्लम ऑफ़ मॉडर्नाइजेशन ऑफ़ एजुकेशन इन इंडिया" नामक लेख में आधुनिकीकरण के संदर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि "यह बहुद्देशीय प्रक्रिया है जो आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

क§ आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ औद्योगीकरण का बढ़ना, अधिक उत्पादन, मशीनीकरण, मुद्रीयकरण व शहरीकरण में वृद्धि आदि हैं। व्यक्ति व सामूहिक सम्पत्ति में भेद किया जाता है। रहने और काम करने के स्थान अलग-अलग होते हैं। लोगों को व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होती है। उनमें तर्क और गतिशीलता की वृद्धि होती है। आय, खरीद, बचत तथा पूंजी लगाने के क्षेत्र में नये दृष्टिकोण का विकास होता है।

ख§ राजनैतिक क्षेत्र में धर्मनिरपेक्ष व कल्याणकारी राज्य की स्थापना होती है जो शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान एवं रोजगार की व्यवस्था करता है। कानून के समक्ष सभी को समानता प्रदान की जाती है तथा सरकार को चुनने अथवा बदलने, स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने की छूट होती है।

---

* परम्परागत समाज सामंतीय या उपनिवेशवादी अवशेषों में जकड़ा होता है। उसमें मौखिक परिपाटी तथा नैतिक मर्यादा, दोनों का कड़ा नियन्त्रण होता है। उसमें गोत्र §वर्ण§ के सम्बन्धों का प्रभुत्व रहता है, नाना तरह के पारलौकिक जादू का व्यवहार तथा विकसित औज़ारों का परित्याग होता है। जब समाजों में आचरण और चित्र का अनुमोदन कोई पवित्र विधान करता है तब वे परम्परागत के साथ-साथ "आदिम" समाज भी होते हैं अर्थात् उनमें वर्णगोत्रबद्धता §किन्शिप§ के साथ-साथ कर्मकांड §रिचुअल§ भी केन्द्रीत होते हैं।§पृ. 75§

ग§ सामाजिक क्षेत्र में संस्तरण की खुली व्यवस्था होती है। प्रदत्त पद के स्थान पर अर्जित पदों का महत्व होता है तथा सभी को अवसर की समानता दी जाती है। विवाह, धर्म, परिवार तथा व्यवसाय के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है।

घ§ वैयक्तिक क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के लिए मानव प्रयत्नों में विश्वास किया जाता है। धर्मनिरपेक्ष, तार्किक, वैज्ञानिक और विश्वव्यापी दृष्टिकोण का विकास होता है। सामाजिक समस्याओं के प्रति समानतावादी और स्वतन्त्रतात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।"[6] आधुनिकता के संदर्भ में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए गंगाप्रसाद विमल कहते हैं कि "आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो उपभोक्ता संस्कृति के जन्म की भी उत्तरदायी है। वह कबीलों धर्मों और आदिवासी क्षेत्रों को उपभोक्ता की शर्तों के अनुरूप आधुनिक करती है। कबीलों के सांस्कृतिक रूपाकारों को प्रदर्शन की वस्तु बनाकर, धर्म को प्रचार माध्यम देकर और अच्छे भवन, प्रकाशन की सुविधाएँ देकर तथा आदिवासी क्षेत्रों को संग्रहालय की वस्तु बनाकर आधुनिकीकरण उन्हें समायानुरूप बनाने का भ्रम भी देता है, औद्योगिक केन्द्र, नगर विद्युतीकरण, संचार साधनों के व्यापक उपयोग, शिक्षा और वैज्ञानिक उपकरणों के व्यापक उपयोग द्वारा आधुनिकीकरण समाजों को अधिकाधिक विज्ञानाश्रित बनाता है। कलाओं में आधुनिकीकरण का संचार अनेकायामी है। सामाजिक स्थितियों में आधुनिकीकरण की उपस्थिति ने सामाजिकों की जीवन पद्धति में परिवर्तन प्रस्तुत किया है। उनकी क्रिया, व्यवहार, आदतों और अनुभावन के नियमों में अन्तर आया है। यही सत्य एक सामूहिक अनुभव के रूप में साहित्य कलाओं में प्रतिबिम्बित होता है।"[7] डॉ. आर.जी. सिंह ने अपनी पुस्तक "रूरल मॉडर्नाइजेशन कण्ट्राडिक्शन एण्ड चेन्ज" में आधुनिकीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि "आधुनिकीकरण विकास की प्रक्रिया को सामाजिक

यथार्थ के तीन रूपों -- संस्कृति, व्यक्तित्व और सामाजिक संरचना में होने वाले विचारों की प्रगति, वैज्ञानिक ज्ञान का विकास, सार्वभौमिक विवेकपूर्ण और सकारात्मक मूल्यों, संरचनाओं और भूमिकाओं में परिवर्तन से सम्बन्धित है। साथ ही इस प्रक्रिया के अन्तर्गत निरपेक्ष समस्याएँ, वैज्ञानिक विकास, धर्मनिरपेक्षता, अभिवृत्ति एवं व्यक्तित्व का विकास सम्मिलित है।"[8]
ए.आर. देसाई के अनुसार आधुनिकीकरण का प्रयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है बल्कि जीवन के सभी पहलुओं तक विस्तृत है।

§1§ बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ तर्क-शक्ति का बढ़ना है। भौतिक व सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या की जाती है। ईश्वर को आधार मानकर किसी घटना को स्वीकार नहीं किया जाता। धर्मनिरपेक्ष तार्किकता का ही प्रतीक है जिसके फलस्वरूप अलौकिक जगत् के स्थान पर इस दुनिया का दृष्टिकोण पनपता है।

§2§ सामाजिक क्षेत्र में - सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है। पुरानी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं को तोड़कर व्यक्ति नये प्रकार के व्यवहार को अपनाता है। व्यक्ति के व्यवसायिक एवं राजनैतिक कार्यों में परिवर्तन आता है। प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्व बढ़ता है।

§3§ राजनैतिक क्षेत्र में - सार्वभौमिक सत्ता की वैधता अलौकिक शक्ति से प्राप्त न होकर नागरिकों द्वारा प्राप्त होती है। राजनैतिक शक्ति का लोगों में व्यस्क मताधिकार के आधार पर हस्तांतरण होता है। समाज की केन्द्रीय कानूनी प्रशासकीय तथा राजनैतिक संस्थाओं का विस्तार एवं प्रसार होता है। प्रशासकों द्वारा जनता की भलाई की नीति अपनायी जाती है।

§4§ आर्थिक क्षेत्र में - उत्पादन, वितरण, यातायात तथा संचार आदि में पशु और मानव-शक्ति के स्थान पर जड़ शक्ति का प्रयोग होता है। आर्थिक क्रियाओं को परम्परात्मक स्वरूप से पृथक किया जाता है। मशीन, तकनीकी एवं औज़ारों का प्रयोग किया जाता है। उच्च तकनीक के प्रभाव के कारण उद्योग, व्यवसाय, व्यापार आदि में वृद्धि होती है। आर्थिक कार्यों में उत्पादन तथा उपभोग में वृद्धि। बढ़ता हुआ औद्योगीकरण जिसे हम आर्थिक आधुनिकीकरण की मुख्य विशेषता कह सकते हैं।"[9] निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि "आधुनिकीकरण की अवधारणा का प्रयोग परम्परागत तथा पिछड़े देशों की पश्चिमी पूंजीवादी एवं द्रुत गति से नगरीकरण तथा औद्योगीकरण कर रहे देशों के साथ तुलना करने के लिए किया गया है जो उसमें हो रहे परिवर्तनों की ओर इंगित करती है। आर्थिक क्षेत्र में परम्परागत प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी में परम्परागत न्यून उत्पादन का व्यावसायिक उत्पादन में मानव एवं पशु शक्ति से स्वचालन में तथा जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगर में प्रवासिता से है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि आर्थिक विकास से तात्पर्य उत्पत्ति एवं औद्योगीकरण के क्षेत्र में यन्त्रीकरण, मशीनीकरण एवं बृहद बाज़ार से है।

बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ सामाजिक और भौतिक घटनाओं का तार्किक विश्लेषण तथा उन्हें कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर स्वीकार करना है।

सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण से तात्पर्य नवीन मूल्यों के उदय, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि, परिवार के नवीन स्वरूपों का उदय तथा रक्त सम्बन्धों में शिथिलता आदि से है।

राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता का विकेन्द्रीकरण, वैयक्तिक स्वतन्त्रता वयस्क मताधिकार तथा शक्ति-संरचना के नवीन प्रतिमानों आदि से आधुनिकीकरण का तात्पर्य है।

और सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण से अभिप्राय व्यक्ति में नवीन सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का विकास तथा नवीन गुणों के अभिग्रहण से है।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में- घटनाओं की तार्किक व्याख्या, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि, राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण, औद्योगीकरण में वृद्धि, शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार, जड़ शक्ति का प्रयोग, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य में वृद्धि, अर्जित पदों का महत्व, व्यवसायों में विशिष्टता, परम्परागत मान्यताओं का ह्रास तथा प्राचीन प्राविधियों के स्थान पर नवीन प्राविधियों का प्रयोग आदि सम्मिलित है।"[10]

1.2 भारत में आधुनिकीकरण

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ अंग्रेज़ों के आगमन तथा उनके द्वारा किये गये औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रसार तथा पूंजीवादी व्यवस्था के कारण हुआ। "भारत के आधुनिक बनने की प्रक्रिया की शुरूआत एक शताब्दी पूर्व उसी समय (सन् 1757 ई.) से हो जाती है जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी की लड़ाई में हराया था।"[11] लेकिन पूर्ण रूप से "भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ 19वीं शती के पहले चरण से ही हो गया था जब अंग्रेज़ों ने भारत में व्यापार के अपने उद्देश्य के साथ राजनीतिक प्रसार की आकांक्षाओं को जोड़ लिया था और एक सुनियोजित प्रशासकीय नीति

के अन्तर्गत "लूट" को "शोषण" की प्रक्रिया में रूपान्तरित करना शुरू कर दिया था।"[12] रूडोल्फ एवं रूडोल्फ के मत के अनुसार यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि "अंग्रेज़ों ने भारत में आधुनिकीकरण की नींव रखी। उन्होंने भारत को नयी अर्थ-व्यवस्था और राजनैतिक एकता दी। प्रेस व नयी शिक्षा प्रणाली ने भारत में नये शिक्षित वर्ग को जन्म दिया। नवीन प्रविधियों, सिंचाई के साधनों तथा यातायात की वर्तमान सुविधाओं ने कृषि में क्रांति ला दी। गाँव की पृथकता व जड़ता सड़कों ने समाप्त कर दी। रेल यातायात ने उद्योगों को जन्म दिया जिससे परम्परागत जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज-व्यवस्था में परिवर्तन आये।"[13]

उपरोक्त उद्धरणों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ अंग्रेज़ों के भारत आगमन के साथ ही हो जाता है जिससे हमारे परम्परागत आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देने लगता है।

1.2.1 आधुनिकीकरण : आर्थिक संदर्भ में

आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने का पता हमें औद्योगीकरण व शहरीकरण के कारण चलता है। अंग्रेज़ों के द्वारा भारत में जो औद्योगीकरण व शहरीकरण हुआ वह भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करने के बाद ही सम्भव था। इसीलिए (अ) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन पर दृष्टि डालने के बाद ही (आ) औद्योगीकरण एवं (ई) शहरीकरण पर विचार किया जाएगा।

अ) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन

प्राचीन काल में भारत में उद्योग-धन्धे ग्रामीण और शहरी स्तर पर

अलग-अलग थे। अधिक ग्राम कृषि तथा कुटीर उद्योगों पर निर्भर थे जबकि नगर तीन भागों में विभक्त थे -- व्यापारिक नगर, धार्मिक नगर और राजनीतिक नगर। ग्रामीण क्षेत्र में घरेलू या कुटीर उद्योग गाँव की आवश्यकता की पूर्ति के लिए होते थे, उनके उत्पादन का उपभोग वे ही करते थे जबकि नगरों के उद्योग मूल्यवान वस्तुओं का निर्माण करते थे जैसे -- रत्न-जटित आभूषण, बारीक सूती, रेशमी कपड़े, वस्त्रों की रंगाई, नक्काशी आदि।

इंग्लैण्ड की जो औद्योगिक क्रांति हो रही थी, उसका आधार भारत था क्योंकि अंग्रेज़ों के हाथ से अमरीका निकल चुका था अतः उन्हें "कच्चे माल" की प्राप्ति भारत से ही हो सकती थी और अपने "तैयार माल" को खपाने के लिए भारत से अच्छा बाज़ार और कहाँ मिल सकता था। इसीलिए अंग्रेज़ों ने भारत के ग्रामीण कुटीर उद्योगों को नष्ट किया। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड के उद्योग भारतीय उद्योगों के मुकाबले कमज़ोर थे, वहाँ के वस्तुओं की क्षमता भारतीय वस्तुओं के समक्ष नहीं ठहर सकती, भारतीय वस्तुएँ उनकी तुलना में श्रेष्ठ होती थी। टॉमस मुनरों के उद्धरण से भारतीय माल की श्रेष्ठता का पता चलता है। एक बार उन्होंने भारतीय शाल खरीदा था जिसे वे सात सालों तक उपयोग में लाते रहे पर वे ज़रा भी खराब नहीं हुए, भारत की नकल में इंग्लैण्ड में बने शालों के बारे में उनका कहना था कि "मैंने यूरोप में बना हुआ कोई भी ऐसा शाल नहीं देखा जिसे मैं इस्तेमाल कर सकूं, चाहे वह मुझे उपहार-स्वरूप ही क्यों न दिया गया हो।"[14] ऐसी स्थिति में उन्हें भारतीय माल के बदले सोना-चाँदी देना पड़ता था जो वे अन्य उपनिवेशों को लूटकर तथा वेस्ट इंडिज तथा स्पेनिश अमरीका में गुलामों को बेचकर चुकाते थे ताकि इस भारतीय माल को विदेशी बाज़ारों में बेचकर अधिक लाभ कमा सके। प्लासी की लड़ाई के बाद जब भारत पर उनका अधिकार हो

गया तो मूल्य चुकाने की आवश्यकता नहीं रही, अब वे प्रशासन के नाम पर भारत को "लूटने" के लिए स्वतन्त्र थे। अतः उपरोक्त कारणों से अंग्रेज़ों ने भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम ग्रामीण कुटीर उद्योगों को नष्ट किया और भारत को एक बाज़ार के रूप में परिणत किया। फलस्वरूप पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था अपनी जड़ें जमाने लगी। 1720 में भारत की रेशमी वस्तुओं के आयात पर रोक लगा दी, भारतीय सूती वस्त्रों पर अधिक चुंगी लगा दी। ये कार्य व्यापारी वर्ग द्वारा किये गए, क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी का सम्पूर्ण भारतीय व्यापार पर एकाधिकार था और अन्य व्यापारीगण उससे द्वेष रखते थे। इसके बाद जैसे-जैसे निर्माताओं की उत्पादन-क्षमता बढ़ती गई वैसे-वैसे वे मुक्त व्यापार के नाम पर ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को खत्म करने की माँग करते गए फलस्वरूप 1813 में कंपनी का एकाधिकार समाप्त हुआ और उनके स्थान पर पूंजीपति वर्ग द्वारा शोषण होने लगा।" मुक्त व्यापार के नाम पर जो नई व्यवस्था लागू की गई, उसका स्वरूप कुछ ऐसा था कि इंग्लैण्ड के माल को भारत में लाने के लिए लगभग खुली छूट दे दी गई, जबकि भारतीय माल के इंग्लैण्ड प्रवेश पर भारी चुंगी लगाई जाने लगी। यही नहीं, कानून बनाकर भारत के माल को अन्य यूरोपीय देशों को जाने से भी रोक दिया गया। इस प्रकार मुक्त व्यापार के नाम पर भारत के उद्योगों का गला घोंट दिया गया।xxxxज्यों-ज्यों इंग्लैण्ड के उद्योग विकास करते गये, त्यों-त्यों भारतीय घरेलू उद्योग सिकुड़ते गये। सन् 1814 से 1835 के बीच भारत में इंग्लैण्ड के वस्त्रों का आयात 50 गुणा बढ़ गया जबकि इंग्लैण्ड को होने वाला भारतीय वस्तुओं का निर्यात 1844 में 1814 की अपेक्षा केवल 5 प्रतिशत रह गया। सन् 1850 तक आते-आते भारत, जो कि संसार भर को सूती सामान भेजा करता था इंग्लैण्ड के कुल सूती माल निर्यात के पच्चीस प्रतिशत का आयात करने लगा था।"[15]

उनके व्यापार का रूप इस प्रकार था -- "अंग्रेज़ लोग अपने गुमाश्तों के ज़रिये मनमाने ढ़ंग से यह तय करते हैं कि प्रत्येक निर्माता की कितनी वस्तुएँ ली जाएँगी। इसके लिए आमतौर पर गरीब जुलाहों की स्वीकृति जरूरी नहीं समझी जाती और गुमाश्ते जो कि कंपनी द्वारा तैनात किये जाते हैं; उनसे मनमाने काग़ज़ पर दस्तख़त करा लेते हैं। अगर जुलाहे दी जा रही कीमतें लेने से इन्कार करते हैं तो उन्हें खंभों से बाँधकर बेतों से पीटा जाता है। × × × इन जुलाहों में से बहुतों के नाम कंपनी के गुमाश्तों की बहियों में चढ़े होते हैं और इन्हें किसी और के लिए काम करने की मनाही होती है और गुलामों की तरह उनकी (गुमाश्तों के बीच) अदला-बदली होती है।"[16] यहीं से रुपये का चलन प्रारम्भ होता है।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के साथ ग्रामीण वर्ग-संरचना में भी परिवर्तन होने लगा। इसका कारण था अंग्रेजों द्वारा कृषि को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाना, उपज का व्यावसायीकरण, द्रव्य प्रणाली का प्रवेश, जमींदारी प्रथा लागू करना आदि। लार्ड कार्नवालिस ने सन् 1793 में बंगाल और उड़ीसा तथा बाद में बम्बई, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में जमींदारी प्रथा लागू की। सन् 1820 में सर टॉमस मुनरों ने ज़मीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में बदल दिया जिससे कृषि व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गई फलस्वरूप खेतों में उन वस्तुओं का उत्पादन होने लगा जो व्यवसाय की दृष्टि से लाभप्रद थे ताकि वे बाज़ार में बेचकर अधिक लाभ उठा सके। ऐसा उन्हें सरकार को लगान देने तथा महाजन को ब्याज चुकाने के लिए करना पड़ता था। महाजन से ब्याज पर ऋण उन्हें कृषि को व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाने तथा उसके बँटवारे हो जाने पर, अकाल पड़ने पर तथा समय-समय पर अंग्रेज़ों द्वारा लगान बढ़ा देने की वजह से भूमि को रहन रखकर लेना पड़ता था। और उनकी अंतिम परिणिति हुई "भूमि" बेचकर शहरी कारखानों में "मजदूर" बनकर। सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। *

---

* देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध का इसी अध्याय के अन्तर्गत उपशीर्षक "आधुनिकीकरण : सामाजिक सन्दर्भ में ।

आ§ औद्योगीकरण

भारत में औद्योगीकरण प्रथम महायुद्ध §1914§ से प्रारम्भ होता है। भारतीय उद्योग के क्षेत्र में यह समय अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि युद्धजनित परिस्थितियों के कारण भारत में उद्योगों का विस्तार होने लगा था।

भारत में अंग्रेज़ों को औद्योगीकरण की नीति की घोषणा जिन कारणों से करनी पड़ी, वे हैं -- अपने साम्राज्य को दृढ़ करने केलिए, देश की बढ़ती हुई ग़रीबी तथा नये विचारों के प्रचार के कारण भारतीय जनमत के संगठित होने से, भारतीय पूंजीपति वर्ग §जो विदेशी पूंजीवाद के दलाल के रूप में तैयार हुआ था। § के महत्वाकांक्षाओं के बढ़ जाने व औद्योगीकरण की सुविधा की माँग करने से, भारत के उत्तरोत्तर विदेशी व्यापारियों के लाभ का स्रोत बन जाने से, इंग्लैण्ड की व्यापार के क्षेत्र में अन्य देशों से स्पर्धा बढ़ जाने से, पश्चिम में लड़ाई छिड़ने पर जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों के आयात बंद हो जाने से तथा जापान का पूरे एशिया में शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर कर आने से। इन्हीं कारणों से उन्हें अपनी आर्थिक नीति में परिवर्तन कर नई औद्योगीकरण की नीति की घोषणा करनी पड़ी। "औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने की नीति हर दृष्टि से जरूरी है, न केवल भारत को आर्थिक स्थायित्व देने के लिए बल्कि उसकी जनता की आकांक्षाओं को तृप्त करने के लिए भी ... आर्थिक और सैनिक दृष्टियों से साम्राज्यीय हितों की भी यही मांग है कि अब से भारत के प्राकृतिक संसाधनों का बेहतर उपयोग होना चाहिए। हम अंदाज़ा नहीं लगा सकते हैं कि औद्योगीकृत भारत द्वारा साम्राज्य की शक्ति कितनी बढ़ जाएगी।"[17]

इस तरह भारत में औद्योगीकरण का कार्य प्रारम्भ हुआ साथ ही अंग्रेज़ी शासन ने उद्योगों को प्रोत्साहन देने के नाम पर कई संरक्षणात्मक नीतियों

को लागू किया जिसका लाभ केवल अंग्रेज़ों को ही था। दूसरों को इस प्रकार की कोई सुरक्षा नहीं दी गई। अतः अंग्रेज़ व्यापारी अपनी पूंजी (विदेशी) भारत में लगाने लगे, जिससे बम्बई के वस्त्रोद्योग तथा काग़ज़ और तेलमिलों का उत्पादन बढ़ा। बंगाल में जूट और कोयला उद्योग तथा मद्रास में चमड़ा, साबुन और पोत-निर्माण उद्योग को प्रोत्साहन मिला। इस तरह युद्ध के समय आयातों की कमी के कारण देशी उद्योगों को विकसित होने का अवसर तो मिला मगर औद्योगिक उपकरणों जैसे मशीनों और रासायनिक सामग्री का आयात भी रुक गया जिससे भारत में औद्योगिक विकास उतना नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। प्रो. अशि मुदिराज जी ने कार्ल मार्क्स का उद्धरण देते हुए भारत में औद्योगिक विकास में रेल मार्गों को महत्वपूर्ण मानते हुए उनकी धीमी प्रगति के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है -- "रेल मार्गों के कारण भौतिक और औद्योगिक प्रगति की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुए। एकांगी होते हुए भी यातायात के ये साधन भारत को एक भौगोलिक प्रखण्ड बनाने और उसे विश्व के बाज़ार से जोड़ने का माध्यम बने। भारत की पुरानी सामाजिक रीति-नीति को तोड़ने और नये औद्योगिक सम्बन्धों व आर्थिक संस्कृति के निर्माण में रेलवे की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। अंग्रेज़ों के अनचाहे और अनजाने रेलवे भारत के औद्योगीकरण का अग्र प्रयास बनी। इसका विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने लिखा है -- "वैसे भी जिस देश में लोहा और कोयला प्राप्त है, वहाँ के परिवहन-यंत्र में मशीनों का इस्तेमाल शुरू हो जाने के बाद उस देश द्वारा मशीनों के निर्माण को नहीं रोका जा सकता। रेलवे की तात्क्षणिक और सदा वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन औद्योगिक प्रक्रियाओं की ज़रूरत हैं उन्हें लाये बिना किसी भी बड़े देश में रेल तंत्र का सुचारु संचालन सम्भव नहीं। ....इसलिए रेलवे का प्रादुर्भाव भारत में आधुनिक उद्योगों के आगमन का सूचक है।" (आज का भारत पृ.।।9 पर उद्धृत - रजनीपाम दत्त) किन्तु यह औद्योगिक

विकास बहुत धीमा और एकांगी था क्योंकि इसे ब्रिटिश सरकार ने कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की थी। अन्तर्राष्ट्रीय होड़ में उतरने के लिए इस तरह की सुरक्षा की बहुत आवश्यकता थी। कृषक जनसंख्या, सुस्थापित धातुमूलक और मशीन बनाने वाले बड़े उद्योगों का अभाव, एकाधिकारी संगठनों का विकराल रूप और ब्रिटिश पूंजी का अबाध नियन्त्रण इसके कारण थे। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि अन्य पूर्ण विकसित पूंजीवादी देशों की अपेक्षा भारत में पूंजीवाद तब आया जब उत्पादन की शक्तियाँ पूर्णतः विकसित नहीं थी। यह स्पष्ट अन्तर्विरोध दिखायी पड़ता है कि भारत में पूंजीवादी आर्थिक संगठन के उच्चतम रूप एकाधिकार का उद्भव दरिद्र और आदिम कृषिमूलक आर्थिक परिवेश में हुआ जहाँ अर्द्धसामन्ती और प्राक् सामन्ती तत्व अब भी शेष थे। इस कारण भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया अपर्याप्त, असन्तुलित और असमान रही।"[18]

इ§ शहरीकरण या नगरों का विकास

किसी भी देश के औद्योगिक विकास की कहानी के साथ उसके नगरों के विकास की कहानी जुड़ी हुई होती है। जे.एच. क्लेपहम के अनुसार "आधुनिक दशाओं में किसी देश के जीवन के औद्योगीकरण की सबसे अच्छी उसके नगरों के विकास की गति और ढंग से की जा सकती है।"[19] भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया के अपर्याप्त, असन्तुलित तथा असमान रह जाने से यहाँ के अधिकांश समृद्धशाली नगर नष्ट हो गए और कुछ ऐसे नगर समृद्ध हुए जो पहले से पिछड़े थे। नगरों के उत्थान और पतन को हम विशेष रूप से हिन्दी भाषी क्षेत्रों में देख सकते हैं। दिल्ली तथा कानपुर को छोड़कर दूसरे अन्य हिन्दी प्रदेश-बनारस, लखनऊ, मथुरा, इलाहाबाद, पटना, जयपुर, इटावा, जौनपुर आदि का निरंतर पतन होता गया। इसका कारण था अंग्रेज़ों की व्यापारिक नीति जो तटवर्ती

प्रदेशों में महानगरों को बढ़ावा देती थी, एवम् रेल मार्ग व नए व्यापारिक मार्ग। इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है "नगरों के बनने-बिगड़ने की यह प्रक्रिया मुख्यतः रेल मार्ग से जुड़ी हुई थी। नये व्यापारिक मार्गों के कारण कानपुर जैसा प्रदेश महत्वपूर्ण हो गया और लखनऊ जैसा कला-कौशल पूर्ण व सुसंस्कृत नगर पीछे रह गया। हिन्दी भाषी क्षेत्र में इस असमान नगरीकरण को विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है क्योंकि अंग्रेज़ों की नयी व्यापारिक नीति तटवर्ती प्रदेशों में महानगरों को बढ़ावा देने की थी, जो कि हिन्दी प्रदेशों से दूर थे। दरिद्रता ने हिन्दी प्रदेशों के मजदूरों को महानगरों की ओर खींचा किन्तु वहाँ उनके रहने-सहने की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण गाँवों से उनका सम्बन्ध बना रहा। इस तरह गाँव-नगर और महानगर की एक मिली-जुली संस्कृति व मानसिकता निर्मित हुई। नगर प्रगतिशील और प्रजातांत्रिक आन्दोलन के केन्द्र बने। भारतीय सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण अंग-शिक्षित बुद्धिजीवी मध्यवर्ग इनमें ही पला-बढ़ा। आधुनिक उद्योगों की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय समाज में दो महत्वपूर्ण वर्गों का जन्म हुआ। वे थे - बुर्जुआ और सर्वहारा।"[20] इस तरह नगरीकरण के साथ ही उच्च, निम्न व मध्य-शिक्षित वर्ग का जन्म होता है। नगर शिक्षित मध्य वर्ग अर्थात् बुद्धिजीवी वर्ग की क्रीड़ा स्थली है, कर्म क्षेत्र है। बुद्धिजीवी वर्ग के उद्भव व विकास पर आगे विस्तार से प्रकाश डाला गया है।*

---

*. देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध के इसी अध्याय के अन्तर्गत उपशीर्षक -- बुद्धिजीवी वर्ग का उद्भव व विकास ।

1.2.2 यातायात एवं संचार साधन तथा भौगोलिक एकीकरण

19वीं शताब्दी में संसार के यातायात व संचार साधनों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। भाप की शक्ति से तेज़ी से चलने वाले यातायात के साधनों पर प्रयोग सफ़ल हुए जिससे संसार भर में व्यापार करना आसान हो गया। "अंग्रेज़ों के कारण भारत में भी इनका प्रचलन हुआ।" आधुनिक मानव समाज के आर्थिक संक्रमण में यातायात और संचार साधनों का महत्व सर्वोपरि रहा है। ये साधन स्वयं भी उद्योग की उपज थे और इन्होंने उद्योगों के फैलने और संगठित होने में अपूर्व योग दिया। ...प्रारम्भ में इनकी नींव औद्योगिक पूँजी के प्रसार के लिए रखी गई थी किन्तु इनके द्वारा मानव समाज की प्रगतिशील भूमिका अनिवार्य रूप से प्रस्तुत हुई। ... वास्तव में यातायात, आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक प्रगति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। यह एक साथ ही उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनिमय को प्रभावित करता है। समय और दूरी के युगीन बन्धनों को तोड़कर नवीन यातायात ने सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक और आर्थिक संस्थाओं के स्वरूप को आमूल परिवर्तित कर दिया है।"[21]

अंग्रेज़ों को अपने देश के अनुभवों के आधार पर संचार व यातायात के साधनों की अपरिमित शक्ति का बोध था अतः उन्होंने भारत में भी अपनी पूंजी के विस्तार तथा शासन के संचालन के लिए यातायात के साधनों पर जोर दिया। सड़क-यातायात तथा जल-यातायात की अपेक्षा उन्होंने रेल-यातायात पर अधिक ज़ोर दिया क्योंकि इसमें उनका अपना स्वार्थ निहित था "रेल-मार्गों की व्यवस्था ब्रिटिश व्यापार के लिए अनिवार्य हो गयी थी। यही नहीं इसमें सैनिक आवागमन और प्रशासकीय कार्यविधियों की सुविधा भी निहित थी।"[22] इतना ही नहीं "रेलों के उपयोग पर एकाधिकार रखना सहज था और उसमें विदेशी पूंजी के विनियोग की

देखरेख भली-भांति हो सकती थी। रेलवे निर्माण में लोहा-इस्पात की जितनी भारी खपत की संभावना थी, वह इंग्लैण्ड के लोहा-इस्पात उद्योग के विकास को एक निश्चित गारंटी थी। फिर इंग्लैण्ड ने अपने देश में रेलवे निर्माण के द्वारा जो तकनीकी कुशलता अर्जित की थी, उसका भारत में उपयोग करके वहाँ की कंपनियाँ प्रचुर धन कमा सकती थीं। इस प्रकार भारत में रेलों के निर्माण से इंग्लैण्ड को तात्कालिक और दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के व्यावसायिक लाभ थे।"[23] इसीलिए अंग्रेज़ों ने अपने व्यापारिक, सामरिक और राजनैतिक हितों के कारण भारत जैसे विशाल देश की मुख्य समस्या आन्तरिक यातायात की ओर ध्यान न देकर भारत में रेल-मार्गों का जाल-सा बिछा दिया। उन्होंने सड़क यातायात की अवहेलना की फिर भी सड़कों का जितना भी निर्माण हुआ वह देश के आन्तरिक यातायात को बढ़ावा देने के लिए नहीं बल्कि उन्हें रेल लाइनों से जोड़ने के लिए हुआ। सड़कों के साथ ही जल यातायात-"नहरों"-की भी उपेक्षा की गई जिसकी भारत जैसे कृषि प्रधान देश में अति आवश्यकता थी। इसकी उपयोगिता अकाल या सूखा पड़ने के समय सिद्ध हो सकती थी पर स्वार्थवश उन्होंने ऐसा नहीं किया। सन् 1878 में बैटमिल्टन कमेटी बिठाई गई जिसका मुद्दा था - रेल अथवा नहरों में से भारत में किसका निर्माण किया जाना चाहिए और उनमें कौन अधिक लाभ दे सकता है तथा इंग्लैण्ड की पूंजी भी जिसमें सुगमता से लगाई जा सकती है ?

"सर आर्थर काटन ने, जिन्हें भारत में नहरें बनाने का अच्छा अनुभव था, तरह-तरह से यह समझाने की कोशिश की कि भारत को जल-यातायात की चरम आवश्यकता है, जितने माल का जितने मूल्य में परिवहन करने की आवश्यकता है रेलें उसे कर सकने में पूर्णतः असफ़ल रही हैं, कि उनके कारण देश पर तीस लाख पौंड प्रतिवर्ष का बोझा पड़ता है, जो कि बढ़ता ही जाता है, कि नहरों के निर्माण की लागत रेलों की अपेक्षा एक बटा आठ से अधिक न आती, कि उन पर चलाई जाने वाली भाप की नावों (स्टीमरों) पर कितना भी माल किसी भी रफ़्तार से ढोया जा सकता है, कि उनसे

देश के कोष पर कोई बोझ नहीं पड़ेगा और उन्हें देश की सिंचाई के लिए भी इस्तेमाल किया जायेगा।" ... (जब उनसे पूछा गया कि कोई भला आदमी सस्ते यातायात से भय क्यों खाएगा तो उन्होंने जलकर उत्तर दिया) — "इसलिए कि उससे रेलों (सम्बन्धी नीति) की मूर्खता साबित हो जाएगी। सोचिए, अगर ईस्टर्न बंगाल रेलवे जो कि दो लाख टन का परिवहन करती है, उसी के सामानान्तर एक नहर हो जो कि बीस लाख टन का परिवहन करे... तो रेलों की क्या इज्जत रह जाएगी।" रमेशचन्द्र दत्त ने इस परिस्थिति का बड़ा सन्तुलित विश्लेषण किया है -- अंग्रेज़ों ने भारत की सस्ते यातायात और सिंचाई की जरूरतों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने यह नहीं समझा कि भारत के लिए सूखे के दिनों में खेती की सुरक्षा का महत्व तीव्र परिवहन के साधनों से अधिक है। यातायात की मुख्य रेखाओं के समानांतर रेलों का निर्माण कर चुकने के बाद उन्हें नौगमनीय नहरें बनाने में झिझक हुई, क्योंकि वे परिवहन के साधनों के रूप में रेलों से प्रतिस्पर्धा करती, इस प्रकार (रेल) कंपनियों को सरकार ने जिन लाभों की गारंटी दे रखी थी उनमें तथा सरकारी लाइनों से जो स्वयं सरकार को लाभ होते थे, उनमें कटौती हो जाती। प्रकृति ने भारत को विशाल नौगमनीय नदियाँ ही हैं जो प्राचीन काल से व्यापार की वाहिकाएँ रही हैं। इन नदियों द्वारा सेवित नहर-पद्धति से लोगों को सस्ता परिवहन मिलता (यद्यपि वह (रेलों की अपेक्षा) मंदतर होता) और साथ ही साथ उनसे उत्पादन में वृद्धि होती; फ़सल अच्छी होती और दुर्भिक्ष रुक जाते।"[24] इस तरह अंग्रेज़ों ने अपने लाभार्थ, स्वार्थ हेतु सड़कों व नहरों की अपेक्षा रेलों के निर्माण पर बल दिया। फलस्वरूप आधुनिक उद्योगों का विकास विशाल बन्दरगाहों पर ही हुआ। इसी कारण अन्तर्देश में बसा हुआ हिन्दी प्रदेश तटवर्ती प्रदेशों की तुलना में औद्योगिक विकास की गति से पिछड़ गया।

अंग्रेज़ों की रेल नीति के परिणामस्वरूप भारत का भौगोलिक एकीकरण सम्पन्न हुआ। पूरे देश में रेल पटरियों का जाल-सा बिछ गया था जो समुद्री मार्गों को जोड़ने के उद्देश्य से किया गया था तथा सड़कों का जो भी थोड़ा बहुत निर्माण हुआ था वह भी इसी उद्देश्य के लिए किया गया था। फलस्वरूप गाँव, नगर से, नगर महानगरों से तथा बन्दरगाहों से जुड़ गए, यातायात की सुविधा से गाँव व महानगरों की दूरी सिमटती गई लेकिन यह भौगोलिक एकीकरण सम्पूर्ण भारत में समग्र रूप से न होकर विशिष्ट प्रखण्ड के रूप में हुआ, "उनकी नीति के अनुरूप ये रेल मार्ग गाँव-नगर-बन्दरगाह के ढ़ाँचे पर तैयार किये गये जिसके कारण देश का भौगोलिक एकीकरण एक समग्र खण्ड के रूप में नहीं बल्कि विशिष्ट व्यावसायिक प्रखण्ड के रूप में हुआ।"[25]

1.2.3 आधुनिकीकरण का सामाजिक संदर्भ और मध्यवर्ग का उदय

प्राचीन भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था पर अंग्रेज़ों के आगमन और उनकी आर्थिक नीति, औद्योगिक प्रक्रिया तथा नई शिक्षा नीति के कारण आधुनिक भारतीय समाज में परिवर्तन होने लगे। वर्ण-व्यवस्था के स्थान पर आधुनिक वर्गों का जन्म हो गया। उनकी अर्थ-नीति से पूंजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ और इससे औद्योगीकरण का, फलस्वरूप भारतीय समाज में नये वर्ग जैसे -- बुर्जुआ, सर्वहारा, शिक्षित मध्यवर्ग आदि अस्तित्व में आए। इस तरह आधुनिक भारतीय समाज में परिवर्तन होने में अंग्रेज़ों की पूंजीवादी अर्थनीति, औद्योगीकरण तथा अंग्रेज़ी शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका थी। वास्तव में "नये सामाजिक वर्गों का उदय अंग्रेज़ी शासन काल में सामाजिक अर्थ तंन्त्र, नई राज्य व्यवस्था, नए प्रशासन और नई शिक्षा का सीधा परिणाम था।"[26] इस सामाजिक परिवर्तन को बंगाल के संदर्भ में रेखांकित करते हुए डॉ. धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी लिखते हैं कि "स्वदेशी व्यापार

व वाणिज्य व कुटीर उद्योगों के विनाश के बाद अंग्रेज़ी शिक्षा और अचल सम्पत्ति में रुचि का विकास हुआ। भूमि पर आधारित नव-निर्मित वर्ग और नये उद्योगों में प्रवृत्त वर्ग में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रति रुचि विकसित हुई। ऐसे लोग जो कुटीर उद्योगों में लगे थे, उनके विनाश के बाद शहरों में प्राप्त अंग्रेज़ी शिक्षा को खर्चीला जानकर उस ओर नहीं बढ़े और निरक्षरता में डूबते चले गए। कई लोग जो विदेशी व्यापारिक प्रतिष्ठानों में एजेण्ट का काम करते थे, इस व्यवसाय के सहारे भूस्वामी बन गये, शहर में बसे और कलकत्ता के "बाबू संस्कृति" के ये ही अभिभावक बने।"[27] आधुनिक भारतीय समाज के परिवर्तन में ये नये वर्ग असमान रूप से उभर कर आये, इसका कारण था अंग्रेज़ शासन। अंग्रेज जैसे-जैसे और जिन-जिन प्रान्तों में अपना शासन स्थापित करते गए वैसे-वैसे नये वर्ग अस्तित्व में आते गये। जैसे बंगाल में अंग्रेज़ों का शासन पहले स्थापित हुआ और यहीं पर उन्होंने भारतीय इतिहास में पहली बार जमींदारी व्यवस्था के रूप में निजी सम्पत्ति की सृष्टि की, इसीलिए बंगाल में ही पहली बार जमींदार और पट्टेदार वर्ग का जन्म हुआ। इसी तरह बम्बई और बंगाल में जूट और सूती कपड़ों के कारखानों, उद्योगों की स्थापना हुई। फलस्वरूप उद्योगपति पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग का जन्म हुआ। इन्हीं प्रान्तों में सर्वप्रथम प्रशासनिक व्यवस्था और शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई परिणामस्वरूप इन्हीं प्रान्तों में सबसे पहले पेशेवर वर्ग या शिक्षित मध्यवर्ग का जन्म हुआ। इस तरह अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग वर्गों का जन्म हुआ लेकिन अन्त में अंग्रेज़ों के पूरे भारत पर प्रभुत्व स्थापित होने तथा नये सामाजिक अर्थ तन्त्र, प्रशासनिक व्यवस्था और पश्चिमी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण सम्पूर्ण भारतीय समाज में नये वर्ग उदित होते चले गये। आधुनिक भारतीय समाज के नये वर्ग ग्रामीण और शहरी स्तर पर ए.आर. देसाई के अनुसार इस प्रकार है ---

अ§ ग्रामीण स्तर पर

1§ ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाया गया जमींदार वर्ग

2§ अन्यत्रवासी भूस्वामी

3§ जमींदारी और अन्यत्रवासी भूस्वामियों के मातहत पट्टेदार

4§ काश्तकार मालिकों का वर्ग जिसकी उच्चतम, मध्यतम और निम्नतम तीन श्रेणियाँ थी।

5§ खेतीहर मजदूर

6§ व्यापारियों का नया वर्ग

7§ सूदखोर महाजनों का नया वर्ग ।

ब§ शहरी स्तर पर

1§ वाणिज्यिक और वित्तीय पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का वर्ग

2§ औद्योगिक आवगमन के साधन सम्बन्धी, खनिज विषयक और ऐसे अन्य कार्यों में लगे आधुनिक मजदूर वर्ग

3§ आधुनिक पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में बंधा छोटे व्यापारियों और दुकानदारों का वर्ग

4§ पेशेवर वर्ग-टेक्नीशियन, डॉक्टर, वकील, प्रोफ़ेसर, पत्रकार, मैनेजर, किरानी और अन्य लोगों के पेशेवर वर्ग जिसमें बुद्धिवादियों और शिक्षित मध्यवर्ग के लोग हैं।"[28]

प्रो. शशि मुदिराज जी इस सामाजिक परिवर्तन के विषम स्तरीय होने का एक और कारण मानती हैं, वो है -- भारतीय सामाजिक संरचना में

अवस्थित वर्ण-व्यवस्था," अंग्रेज़ों के आगमन से पूर्व भारत में वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था के रूप में जटिल, बहुस्तरीय और रूढ़िबद्ध हो चुकी थी। अंग्रेज़ों की भारत-विजय के फलस्वरूप जिन आर्थिक शक्तियों का जन्म हुआ उन्होंने जाति का आर्थिक आधार ही समाप्त कर दिया। गाँवों के स्वशासन का हनन, भूमिगत् वैयक्तिक सम्पत्ति का सृजन, औद्योगीकरण, नगरीकरण, रेल और बसों द्वारा एक विशाल संचार तंत्र का निर्माण जिससे लोगों का सम्पर्क और सामीप्य बढ़ा और नये औद्योगिक प्रतिष्ठानों के कारण बदलाव ने नये मानवीय सम्बन्धों का निर्माण किया।"[29] ये वर्ग सम्बन्ध आर्थिक थे। आर्थिक दृष्टि के आधार पर हमारा आधुनिक समाज तीन वर्गों में बंट गया -- §1§ उच्च वर्ग §2§ मध्यवर्ग* §3§ निम्न वर्ग। औद्योगिक प्रतिष्ठानों के मालिक-पूँजीपति उच्च वर्ग में तथा उत्पादन करने वाले मजदूर निम्न वर्ग में तथा इन प्रतिष्ठानों का हिसाब-किताब रखने या चलाने वाले मध्यवर्ग में रखे जाते हैं। पूंजीवाद के विविध चरणीय प्रसार से मध्यवर्ग की सीमाएँ इतनी विस्तृत और अनिश्चित हैं कि इसकी कोई रूप-रेखा देना कठिन है फिर भी इसके व्यावसायिक, औद्योगिक, भूमि सम्बन्धित तथा शिक्षित चार उप-विभाग किये जा सकते हैं। इसी शिक्षित मध्यवर्ग की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में प्रमुख भूमिका रही है। इस शिक्षित मध्यवर्ग के जन्म को ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने पिछले सौ वर्षों की महत्वपूर्ण घटना माना है। §पृ. 22§ भारतीय मध्यवर्ग के जन्म की विशिष्टता को बी.बी. मिश्र ने स्पष्ट किया है -- "पश्चिम में, विशेषकर इंग्लैण्ड में मध्यवर्ग का उदय मूलतः आर्थिक और तकनीकी परिवर्तन के कारण हुआ और इस वर्ग के सदस्य मुख्यतः व्यावसायों और उद्योगों से सम्बन्धित रहे लेकिन इसके विपरीत वे भारत में मुख्यतः सार्वजनिक प्रशासनों और कानून-व्यवस्था के परिवर्तन के कारण न कि

---

* इस पर विस्तृत चर्चा आगे के पृष्ठों पर इसी अध्याय के उपशीर्षक "भारतीय मध्यवर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग" के अन्तर्गत की गई है।

आर्थिक परिवर्तन के कारण अस्तित्व में आये और उनका सम्बन्ध बौद्धिक कार्यों से रहा।"[30]

1.2.4 परिवार का विघटन

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से परिवार की परम्परागत संरचना एवं प्रकार्यों में परिवर्तन हुआ है। फलस्वरूप परिवार के सदस्यों की मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन हुआ है। आज के स्वतन्त्र भौतिकवादी विचारधारा, उच्च जीवन की आकांक्षा तथा व्यक्तिवादी आदर्श से अधिक प्रभावित है। इन तत्वों के कारण परिवार के सदस्यों की व्यावसायिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है। संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकाकी परिवार में रहने की इच्छा बलवती होती जा रही है। व्यक्ति परिवार में सामूहिक हित की अवहेलना करके अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति की तरफ़ उन्मुख होने लगा है।"[31] इसी वजह से "कुटुम्ब में कुल ज्येष्ठ द्वारा आत्मत्याग की नैतिकता टूट गई है। अब "आधुनिक परिवार" (पति-पत्नी अथवा पति संतति-पत्नी) ही ध्यान के लिए हिरण्यब्रह्म हो गया है। निजी स्वार्थ केन्द्र में आ गए हैं क्योंकि अर्थतन्त्र में भी केवल लाभ (स्वार्थ) की नैतिकता शिरोधार्य हुई है।"[32] मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक "साहित्यिक की डायरी" में बताया है कि "पिछले बीस वर्षों की सबसे महान् घटना है "संयुक्त परिवार का ह्रास"।"[33] मुक्तिबोध की यह उक्ति आधुनिक भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना और उसमें होने वाले परिवर्तनों को समझने में महत्वपूर्ण कुंजी है। सामंती समाज की इकाई था संयुक्त परिवार, जो वास्तव में उस समाज के समष्टिगत मूल्यों और आदर्शों का जन्म स्थल था धीरे-धीरे पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के अतिक्रमण के कारण सामंती व्यवस्था टूटने लगी और इसका प्रतिफलन हुआ परिवार के विघटन में। औद्योगीकरण, शहरीकरण और गाँवों के कुटीर उद्योगों का नाश, भूमि का बंटवारा आदि के कारण एकल परिवारों का निर्माण हुआ। नई शिक्षा, नये

आर्थिक प्रलोभन, जीवन स्तर को उठाने की मध्यवर्गीय दौड़ और स्त्रियों में नवजागृत अहं के कारण परिवार की रचना में विचित्र-सा तनाव व्याप्त हो गया। जैसा कि मुक्तिबोध ने विश्लेषण किया है "मध्ययुगीन परम्परा गलत भले ही हो, भले ही हम उसे सामंती कहकर टाल दे, किन्तु उसका साँचा ऐसा था कि व्यक्ति में मानसिक शक्ति का अपव्यय होने की गुंजाइश न थी। परम्परागत शील और शिष्टता ने उसे मानसिक संकटों से बचा लिया था। वह मात्र प्रकृति की कठपुतली न था।"[34] लेकिन आज परिवार में वे पुरानी परम्पराओं का विकास नहीं हुआ जैसा कि अपने विश्लेषण में मुक्तिबोध बताते हैं "परिवार में न केवल सामंती अवशेष है, वरन् यहाँ भी बराबर तीन श्रेणियाँ दिखाई देती है। एक वह श्रेणी है जो पैसा कमाकर लाती है। उसे सबसे अधिक आदर ही नहीं दिया जाता, वरन् उसकी मान्यता और विचार, उसकी रुचि-अरुचि और कार्य, शीघ्र ही सबके लिए मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं -- चाहे वे कितने ही अवैज्ञानिक, अनुचित और स्वार्थपूर्ण क्यों न हो। सबसे निचली श्रेणी उन लोगों की है जो चौके में सोते हैं। अगर कहीं स्त्री निरक्षर हुई या निर्धन परिवार से आयी हुई रही, तो वह और उसके जैसी स्थिति के व्यक्ति उस तीसरी श्रेणी में ही रहते हैं। दूसरी श्रेणी में बालक और कमाऊ व्यक्ति के वे रिश्तेदार हैं जो उससे कम कमाते हैं। यदि वे ज्यादा कमाते हैं तो वे प्रथम श्रेणी में या उससे भी ऊपर होकर सबके लिए अनिवार्य नियम के रूप में यशोभाजन हो जाते हैं। धन, अर्थ, सांसारिक सफ़लता और उससे मिली हुई कीर्ति की तानाशाही परिवार में जितनी चलती है, उतनी बाहर भी नहीं। मानवतावाद की हरदम दुहाई देते हुए भी, घर में जितना अहंवाद और व्यक्तिवाद तथा वैचारिक दासता चलती है, उसकी कोई हद नहीं।"[35] इस प्रकार वर्ग-विभक्त समाज का आरम्भ ही विभक्त परिवार में हुआ।

स्पष्ट है ऐसे वातावरण में व्यक्ति की चेतना विभक्त होगी, इसीलिए आधुनिक कहानियों और उपन्यासों में सबसे अधिक रचनाएँ परिवार को लेकर ही की गई है चाहे वह "आपका बंटी" हो या "अंकुश" (मन्नु भण्डारी) चाहे वह "भ्रम भंग" (देवेश ठाकुर) हो या "चीफ की दावत" (भीष्म साहनी) सभी ने नये आर्थिक दबाव और उनसे जूझती मध्यवर्गीय मानसिकता को ही विषय वस्तु बनाया है। संयुक्त परिवारों के टूटने के साथ ही मानवीय सम्बन्ध टूटने लगे हैं। स्त्री की शिक्षा ने आर्थिक स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र अस्तित्व को जन्म दिया -- "नदी के द्वीप" - (अज्ञेय), "पचपन खम्भे लाल दीवारें" (उषा प्रियंवदा) वैयक्तिक सत्ता की चेतना ने नर-नारी के परम्परागत सम्बन्धों को तोड़ना शुरू कर दिया। आधुनिक नर-नारी दोनों ही अपने स्व का परित्याग कर झुकना नहीं चाहते फलस्वरूप विवाह-विच्छेद की स्थिति आ जाती है। जहाँ संयुक्त परिवार टूटे वहीं वैयक्तिक परिवार भी आपसी अहं, स्वतन्त्रता के कारण टूटने लगे, इसी कारण तलाक-प्रथा में तेज़ी आ रही है। "वही बात" (कमलेश्वर) अथवा "रेत की मछली" (कान्ता भारती) विवाह-विच्छेद के कारण मनुष्य अपने आपको टूटा हुआ पाता है। आर्थिक कठिनाईयों के कारण भी व्यक्ति के टूटन, अकेलेपन, मानसिक संत्रास आदि स्थितियाँ जन्म लेने लगी। इन आर्थिक दबावों ने मूल्यबोध में भी दरार डाल दी।

1.2.5 शिक्षा का प्रचार-प्रसार

भारत में आधुनिकीकरण का महत्वपूर्ण चरण था शिक्षा का प्रचार व प्रसार। वास्तव में अंग्रेज़ों ने भारत में शिक्षा का प्रसार अपनी गिरती हुई आर्थिक स्थिति को संभालने तथा प्रशासन को सुदृढ़ करने के लिए किया था। "सन 1830 तक ही भारत की आर्थिक दशा जर्जरावस्था की ओर बढ़ रही थी, ब्रिटिश

नौकरशाही की जड़ें जमने लगी थीं, कुटीर उद्योगों का पतन आरम्भ हो गया था, जमींदार वर्ग अस्तित्व में लाया जा चुका था और ब्रिटिश व्यावसायिक नीति के कारण पुराना व्यापारी वर्ग विघटित हो चला था, ऐसी स्थिति में ब्रिटिश शासन के आगे इसके सिवा कोई विकल्प नहीं रह गया था कि वह विदेशी शासन और विदेशी व्यापार के समर्थन के लिए एक वेतन भोगी सफ़ेद पोश का निर्माण करती।"[36] इसका कारण था इंग्लैण्ड से नियुक्त होकर आये अधिकारियों व कर्मचारियों को मोटी रकम "वेतन" के रूप में देनी पड़ती थी। अतः उनकी शिक्षा नीति के उद्देश्य का स्पष्ट पता लॉर्ड मेकाले द्वारा 1835 में "मिनट्स ऑफ एजुकेशन" में रखे गये विचार से चलता है कि -- "हमें इस समय एक ऐसा वर्ग तैयार करने की पूरी कोशिश करनी चाहिए जो हमारे और उन करोड़ों लोगों के बीच, जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिये का काम कर सके, ऐसा वर्ग जो रक्त और वर्ण में भारतीय हो परन्तु रुचि, विचार और बुद्धि की दृष्टि से -- अंग्रेज़ हो।"[37] अंग्रेज़ों की इस शिक्षा नीति से उन्हें अपने प्रशासन हेतु कर्मचारी बाबू वर्ग तो मिला पर इसका वास्तविक लाभ भारत के पक्ष में हुआ। इस आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा (साहित्य-कानून) पाकर हमारे प्रारम्भिक मनीषियों को अपने समाज के पिछड़ेपन, रूढ़िबद्ध संकीर्ण जातिगत व वर्णगत विचारों तथा अज्ञानता, अशिक्षा व अवैज्ञानिकता का बोध हुआ फलतः उन्होंने भारतीयों को इस वस्तुस्थिति से परिचित कराकर आधुनिक शिक्षा पर ज़ोर देना प्रारम्भ किया जिससे "शिक्षित वर्ग में धीरे-धीरे अपनी अस्मिता की पहचान कायम करने की लालसा जागने लगी, यूरोप के आधुनिक लोकतांत्रिक विचारों को आत्मसात् कर इस वर्ग ने अपने देश की सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में सुधारों के लिए वे ही तर्क उपस्थित किये और मध्ययुगीन रूढ़िवादिता के साथ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया। यद्यपि ब्रिटिश शासन को अपने प्रशासनिक हितों के लिए एक विस्तृत बाबू वर्ग तो मिल गया किन्तु इसके साथ ही देश में

व्यापक राष्ट्रीय चेतना का निर्माण हुआ। यह ध्यातव्य रहे कि इन दोनों प्रक्रियाओं का नेतृत्व शिक्षित मध्यवर्ग ने ही किया।"[38]

1.3 भारतीय समाज की वर्गसंरचना और बुद्धिजीवी वर्ग का उदय

प्राचीन भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था और यह निर्धारण जन्म के आधार पर न होकर कर्म के आधार पर होता था किन्तु कालान्तर में यह वर्ण -व्यवस्था जटिल हो गयी थी जिसके फलस्वरूप वर्णों के स्थान पर वर्गों का जन्म हुआ। इतना ही नहीं वर्ण-व्यवस्था के जाति-व्यवस्था में परिवर्तन होने के कारण समाज में अनेक नये वर्ग विकसित होने लगे। इन नये वर्गों के विकसित होने में व्यावसायिक और औद्योगिक विकास का भी महत्वपूर्ण योग था। इससे पहले जो वर्ग थे उनका आधार श्रम नहीं था। उस समय लोगों के हित और आर्थिक स्वार्थ परस्पर विरोधी नहीं होते थे। लोगों के दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती थीं। इसी कारण उत्पादन के साधन बहुत सीमित थे और उनका विकास नहीं हो पाता था। बाद में ज्यों-ज्यों मनुष्य का जीवन संघर्षमय होता गया त्यों-त्यों मनुष्य ने कुछ कार्य खेती-बाड़ी तथा पशु-पालन आदि प्रारम्भ किये। एक विशेष प्रकार के कार्य को प्रारम्भ करने के कारण उस वर्ग के लोगों के सामने श्रम-विभाजन की समस्या आयी होगी। सम्भवतः इसी कारण वर्गों की उत्पत्ति हुई होगी। बाद में विनिमय के सिद्धान्तों का प्रचार होने पर उनका विभाजन निश्चित वर्गों में हो गया होगा।"[39]

आधुनिक युग में वर्ग की भावना को एक विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया का रूप देने का श्रेय महान् चिन्तक एवं विचारक कार्ल मार्क्स को है। मार्क्स के अनुसार आदिम समाज में वर्ग-भावना या श्रेणी भेद नहीं था क्योंकि उत्पादन

इतना कम होता था कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सकते थे, बचाना उनके लिए असम्भव बात थी। धीरे-धीरे उत्पादन की वृद्धि के साथ लोगों ने सम्पत्ति बचाना प्रारम्भ किया और इस प्रकार वैयक्तिक सम्पत्ति की भावना जैसे-जैसे प्राणियों में बढ़ती गई वैसे ही वर्गों की भावना भी समाज में बढ़ती गई। व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा में व्यक्तिगत संघर्ष हुए और इस प्रकार के समूहगत हितों की रक्षा के लिए वर्ग संघर्ष प्रारम्भ हुआ। वर्ग संघर्ष की इस मूल भावना को शाश्वत मानकर कार्ल मार्क्स ने कहा है -- "अभी तक घटित सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।"[40]

मार्क्स समाज को प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभाजित करते हैं। पहले वर्ग में बुर्जुआ या शोषक वर्ग को तथा दूसरे वर्ग में प्रोलेटेरियट या शोषित वर्ग को और इन दोनों के बीच वाले वर्ग को पेती बुर्जुआ या मध्यवर्ग में विभाजित किया किन्तु मार्क्स पेती बुर्जुआ का कोई अस्तित्व नहीं मानते। फिर भी उन्होंने तीन वर्गों की सत्ता स्वीकार की है -- जो इस प्रकार से हैं ---

§1§ बुर्जुआ या शोषक वर्ग
§2§ पेती बुर्जुआ या मध्य वर्ग
§3§ प्रोलेटेरियट या शोषित वर्ग

1.3.1 भारतीय समाज में नये वर्गों का उदय

आधुनिक भारतीय समाज में अनेक नये वर्गों का उदय ब्रिटिश शासनकाल में हुआ। अंग्रेज़ों के आगमन और उनकी आर्थिक नीति के कारण ही भारतीय समाज में पूंजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ।

अंग्रेज़ों की इसी पूंजीवादी व्यवस्था में औद्योगीकरण के फलस्वरूप मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग का जन्म हुआ। वास्तव में "इन नये सामाजिक वर्गों का उदय अंग्रेज़ी शासन काल में सामाजिक अर्थतंत्र, नई राज्य-व्यवस्था, नए प्रशासन और नई शिक्षा का सीधा परिणाम था।* परन्तु ये नये वर्ग समाज में असमान रूप से विकसित हुए। अंग्रेज़ों के प्रभाव में जो प्रान्त पहले आए, वहाँ इन वर्गों का जन्म पहले हुआ जैसे -- बंगाल में अंग्रेज़ों का शासन पहले स्थापित हुआ और यहीं पर अंग्रेज़ सरकार ने भारतीय इतिहास में जब पहली बार भूमि पर निजी सम्पत्ति की सृष्टि की तब जमींदार और खेतहर मालिकों के वर्ग का जन्म हुआ। ज़मीन को पट्टे पर देने के अधिकार और ज़मीन पर मजदूर लगाने के अधिकार की शुरूआत के कारण अन्यत्रवासी जमींदारों और कृषक-सर्वहारा वर्ग का जन्म हुआ। इसी तरह बम्बई और बंगाल में सूती कपड़ों और जूट के कारखानों-उद्योगों की स्थापना पहली बार हुई जिसमें जमींदार, पट्टेदार और किसान मालिकों ने सूती कपड़ों, खनिज उद्योगों आदि ऐसे ही अनेक उद्योगों की शुरूआत की जिससे पूंजीपति या औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग का जन्म हुआ और वहाँ काम करने वालों से श्रमिक-मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। नये वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों और प्रशासनिक व्यवस्था की ज़रूरतों के कारण ब्रिटिश सरकार को शिक्षण संस्थाओं को खोलने के लिए बाध्य होना पड़ा। नए राज्य और समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कानून, वाणिज्य और अन्य विषयों के स्कूल-कॉलिज खोले गए। जिसके फलस्वरूप आधुनिक डॉक्टर, वकील, नई शिक्षण संस्थाओं के शिक्षक, प्रोफ़ेसर, औद्योगिक क्षेत्र के मैनेजर, प्रशासन के पदाधिकारी, इंजीनियर, अर्थशास्त्री, पत्रकार आदि के नये पेशेवर वर्ग का जन्म हुआ। ये नये पेशेवर वर्ग ब्रिटिश काल में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रचार-प्रसार और नये समाज की ज़रूरतों के आधार पर विकसित हुए थे। इन वर्गों का ज्ञान-विज्ञान आर्थिक आधार तक ही सीमित रह गया था अर्थात् जो नागरिक पैसा दे सकता था उसी के लिए शिक्षा उपलब्ध थी,

---

* देखिए इसी अध्याय का पिछले पृष्ठों पर दिया गया 26 वाँ उद्धरण ।

दूसरों के लिए नहीं। यह वर्ग पूंजीवाद समाज का अभिन्न अंग था क्योंकि इनके पास आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान और कला का ज्ञान था। संक्षेप में आधुनिक भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से तीन भागों में बंटा हुआ है --

§1§ उच्च वर्ग

§2§ मध्य वर्ग

§3§ निम्न वर्ग

§1§ उच्च वर्ग

आधुनिक भारतीय समाज में उच्च वर्ग ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति, पाश्चात्य शिक्षा और प्रसार, औद्योगिकता तथा नये समाज की आवश्यकता के कारण उदित हुआ। 19वीं सदी के बाद भारतीय व्यापारी वर्ग, जमींदार तथा पेशेवर वर्ग के कुछ लोगों के पास लाभ और बचत के पैसे जमा होने के कारण उन्होंने भारत में सूती कारखानों, खनिज उद्योगों की स्थापना की जिससे देश में औद्योगिक बुर्जुआ या उच्च वर्ग का जन्म हुआ।

उच्च वर्ग के अन्तर्गत जमींदार, उद्योगपति, कारखानों, मिलों के मालिक तथा पूंजीपति आदि आते हैं। इस वर्ग में मुख्य रूप से अत्यधिक धन सम्पन्न लोग सम्मिलित हैं। वास्तव में इस वर्ग का सामाजिक उत्पादनों के साधनों और स्रोतों पर पूर्ण अधिकार रहता है तथा अपनी पूंजी की वृद्धि के लिए मिलों, कारख़ानों में प्रबन्धकों, निर्देशकों, लिपिकों के साथ-साथ अनगिनत श्रमिकों को नियुक्त करते हैं।

उच्च वर्ग अपने स्वार्थ तथा व्यक्तिगत कल्याण के लिए सदा से ही सर्वहारा वर्ग का शोषण करता रहा है, इसीलिए मार्क्स ने इसे शोषक वर्ग और श्रमिक वर्ग को शोषित वर्ग कहा है।

आधुनिक भारतीय समाज में उच्च वर्ग आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अन्य वर्गों की तुलना में सर्वाधिक शक्तिशाली है तथा समाज में इसका एक विशिष्ट स्थान है तथा भारत के प्राचीन परम्पराओं, रीति-रिवाज़ों, जात-पाँत के बन्धनों से सर्वथा मुक्त है और पाश्चात्य जीवन शैली का आदी है। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय इस वर्ग ने स्वार्थवश, स्वयं के कल्याण हेतु बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। वे अंग्रेज़ों का स्थान ग्रहण करना चाहते थे तथा औद्योगिक क्षेत्र में उनके एकाधिकार को समाप्त करना चाहते थे, इन्हीं कारणों से उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन, बहिष्कार आदि का समर्थन किया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस वर्ग का न केवल उद्योगों पर बल्कि सामाजिक, राजनैतिक जीवन पर भी उसका उपयोग अपने स्वार्थ, सुख-आराम, शौकों आदि के लिए ही करता है। व्यवसाय के क्षेत्र में ये वर्ग रिश्तों, मित्रों आदि को महत्व नहीं देता। पैसे के बल पर बुद्धिजीवी वर्ग के टेक्नीशियन, प्रबन्धक, निर्देशकों के बौद्धिक श्रम तथा श्रमिकों के शारीरिक श्रम का लाभ उठाता है तथा अपने प्रत्येक कार्य को धन के बल पर करता है और करवाना चाहता है। इनका इनाम-धरम सब कुछ पैसा है। प्रेमचन्द ने "महाजनी सभ्यता" लेख में उच्च वर्ग की विशेषताओं, कमियों आदि का विवेचन किया है "धन लोभ ने मानव भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया। कुलीनता और शराफ़त, गुण और कमाल की कसौटी पैसा और पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता स्वरूप है जिसका अन्तःकरण चाहे कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य-संगीत और कला सभी धन की देहलीज पर माथा टेकने वालों में है। यह हवा इतनी ज़हरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डॉक्टर और हकीम है कि वह बिना लम्बी फ़ीस लिए बात नहीं करता, वकील और बैरिस्टर है कि वह मिनटों को अशर्फ़ियों से तोलता है। गुण और योग्यता की सफ़लता उसके आर्थक मूल्यों के हिसाब से मानी जा रही है।"[4]

उच्च वर्ग के दो भेद किये जाते हैं -- §1§ उच्च-उच्च वर्ग
§2§ निम्न-उच्च वर्ग ।

§1§ उच्च-उच्च वर्ग

इस वर्ग में ऐसे पूंजीपति आते हैं जिनका सामाजिक उत्पादन के साधनों और स्रोतों पर पूर्ण अधिकार होता है तथा इस वर्ग के लोग अपनी पूंजी की वृद्धि के लिए मिलों कारखानों में असंख्य मज़दूरों को नियुक्त करते हैं।

§2§ निम्न-उच्च वर्ग

इस वर्ग के अन्तर्गत ऐसे पूंजीपति आते हैं जिनका उत्पादन के साधनों और स्रोतों पर आंशिक अधिकार रहता है।

§2§ मध्य वर्ग

भारत में आधुनिक मध्य वर्ग का उदय ब्रिटिश शासन काल में पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था, अंग्रेज़ी शिक्षा तथा औद्योगिक विकास के कारण हुआ। डॉ. बीना श्रीवास्तव आधुनिक मध्यवर्ग का जन्म वस्तुतः सामन्तवाद के क्रोड़ से हुआ मानती हैं तथा इसका सम्बन्ध पूंजीवाद से जोड़ती हैं।"[42] मार्क्स ने इस मध्यवर्ग को पेती बुर्जुआ कहा और ये घोषणा की थी कि अन्त में पेती बुर्जुआ, बुर्जुआ में मिल जाएगा परन्तु ऐसा नहीं हुआ बल्कि इसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बन गई।

मध्य वर्ग शब्द पर विचार करने पर हम उसकी स्वतन्त्र सत्ता को नहीं पाते। वह दो छोरों के बीच की स्थिति की ओर संकेत करता है अतः मध्यवर्ग की व्याख्या के लिए उच्च व निम्न वर्ग का अध्ययन भी आवश्यक है। मार्क्स के अनुसार समाज के विकास का इतिहास वर्ग संघर्ष के विकास का इतिहास है उनके अनुसार प्रत्येक

संघर्षशील युग में प्रमुखतः दो ही वर्ग रहे, समाज के एक छोर पर उन व्यक्तियों का समूह रहता आया है जो उत्पादन व्यवस्था के स्वामी होते हैं जिन्हें शोषक वर्ग कहते हैं तथा दूसरे छोर पर उन व्यक्तियों का समूह रहता आया है जो अपने श्रम के आधार पर उत्पादन तो करता है किन्तु उसका नाम मात्र भी हिस्सा नहीं पाता, उन्हें शोषित वर्ग कहते हैं। इन दोनों स्थितियों के बीच में जीवन-यापन करने वाले व्यक्तियों के समूह को सम्भवतः "मध्यवर्ग" नाम से अभिहित किया जाता है।"[43] [illegible] होनी चाहिए। सामन्तवादी युग में समाज के एक छोर पर सामन्त एवं दूसरे छोर पर कृषक हैं और इन दोनों के मध्य में व्यापारी समुदाय, शासकीय विभाग, शिक्षक, सैनिक समूह, पंडित आदि का मध्यवर्ग पाया जाता है। "पूंजीवादी युग में एक छोर पर औद्योगिक यंत्र और प्राकृतिक साधनों के स्वामी पूंजीपति है और दूसरे छोर पर मजदूरों का वर्ग है, जो उच्च वर्ग को अपना श्रम विक्रय करने के लिए बाध्य है। इस पूंजीवादी युग में "मध्यवर्ग" के दो प्रमुख समुदाय दिखाई पड़ते हैं -- एक तो वह समुदाय है जिसके व्यक्ति उत्पादन यन्त्रों के प्रयोग में विशेष निपुण हैं और उसकी निपुणता का फ़ायदा पूंजीपति अधिक से अधिक उठाता है, इस श्रेणी में मैकेनिक-इंजीनियर आदि आते हैं। दूसरे समुदाय का सम्बन्ध उन लोगों से है जिनका ज्ञान समाज के लिए है जैसे डॉक्टर, शिक्षक, वकील साहित्यकार आदि।"[44] ये दूसरा समुदाय ही "शिक्षित मध्य वर्ग" कहलाया। जिसे ए.आर. देसाई ने स्पष्ट करते हुए लिखा कि "भारत में अंग्रेज़ी शासन द्वारा चलाई गई शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप इस शिक्षित मध्यम वर्ग का जन्म हुआ था। वकील, डॉक्टर, टेक्नीशियन, प्रोफ़ेसर, पत्रकार, सरकारी नौकर, विद्यार्थी इत्यादि इस वर्ग के सदस्य थे।"[45] यह शिक्षित मध्यवर्ग ही बुद्धिजीवी वर्ग है। सामन्ती व्यवस्था के कमज़ोर होने तथा उसके स्थान पर पूंजीवादी व्यवस्था विकसित होने पर समाजिक जीवन का नेतृत्व शिक्षित मध्यवर्ग के हाथ में आया। जीवन के सभी क्षेत्रों में इस वर्ग का नेतृत्व स्थापित होने लगा, राजनीति के क्षेत्र में सभी राष्ट्रीय

आन्दोलनों को प्रेरणा देने वाले संगठनकर्ता तथा अग्रणी नेता इसी वर्ग के थे।

मध्य वर्ग अपने जन्म के समय संगठित था, इसके सभी लोगों में एक-रूपता थी, परन्तु औद्योगिक विकास के कारण पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे इसकी एक-रूपता खंडित होती गई तथा यह वर्ग अनेक श्रेणियों में विभक्त हो गया। "मध्यवर्ग" सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक कारणों से अन्य वर्णों से भिन्न है इसीलिए मध्यवर्ग की परिभाषा देने में प्रायः विद्वानों को अनेक परेशानियाँ उठानी पड़ी। इसके बावजूद कुछ मध्यवर्ग की परिभाषा विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ इस प्रकार है -- "हिन्दी साहित्य कोश" में धीरेन्द्र वर्मा ने मध्य वर्ग की परिभाषा इस प्रकार दी है "पूंजीपति आर्थिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया है कि एक मध्यवर्ग की भी आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन सूत्र को संभाल सके। इस वर्ग में नौकरी पेशा, शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रांति के प्रायः समस्त विचारों का सर्जन मध्य वर्ग में होता है।"[46] डॉ. बी.बी. मिश्र ने "इण्डियन मिडिल क्लासेस" : देअर ग्रौथ इन मार्डन टाइम्स" में मध्य वर्ग के अन्तर्गत आने वाले लोगों की विस्तृत सूची दी है "इस वर्ग में सौदागर एजेन्ट और आधुनिक व्यापारी फ़ार्म के मालिक और संचालक सम्मिलित हैं। इनमें शीर्ष स्थान के वे व्यक्ति सम्मिलित नहीं किये जाते जिनका सम्बन्ध थोक बिक्री व्यापार, निर्माण अथवा वित्तीय मामलों से हैं। वेतन पाने वाले कार्यकर्ता जैसे मैनेजर, निरीक्षक, सुपरवाइजर और तकनीकी कर्मचारी तथा बैंक उद्योगों एवं अन्य व्यापारिक संस्थाओं में बैंकिंग का कार्य करने वाले लोग आते हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं में उच्च वेतन पाने वाले अधिकारी, वाणिज्य के चेम्बरों और व्यापारों के एसोशियनों से लेकर राजनीतिक संगठनों, व्यापारिक संघों, दानशील सांस्कृतिक और शैक्षणिक निकायों में कार्य करने वाले मध्यवर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश तथा

सरकारी सचिवों को छोड़कर सचिवालय के अन्य कर्मचारी भी इसी वर्ग में परिगणित होते हैं। उपर्युक्त सरकारी और ग़ैर सरकारी लोगों के अतिरिक्त मुख्य व्यवसायों के अवैतनिक कार्यकर्ता जैसे -- वकील, डॉक्टर, प्रवक्ता और प्राध्यापक, लेखक, पत्रकार, संगीतज्ञ तथा अन्य कलाकार, धार्मिक उपदेशक और पुजारी भी इसी वर्ग के सदस्य होते हैं। इनके अतिरिक्त जमींदारी में लगे हुए वेतन पाने वाले कर्मचारी विश्वविद्यालय अथवा इसी प्रकार के स्तर की संस्थाओं में पूरे समय कार्य करने वाले वेतन प्राप्त विद्यार्थी, माध्यमिक स्कूलों के उच्च स्तर के कार्यकर्ता, अध्यापक और स्थानीय निकायों के अधिकारी तथा राजनीतिक कार्यकर्ता भी मध्यम वर्ग की विस्तृत सीमा में आते हैं।"[47] "डिक्शनरी ऑफ़ सोशियोलॉजी" में मध्यवर्ग की परिभाषा इस प्रकार दी गई "मध्य वर्ग आज जनसंख्या के उस विभिन्न भाग को सूचित करने वाला पारिभाषिक शब्द है जिसमें मुख्यतया छोटे-छोटे व्यापारी और उद्योगपति, व्यवसायिक एवं दूसरे सामान्य आय वाले बौद्धिक कार्यकर्ता, कुशल शिल्पी, समृद्ध किसान, सफ़ेद पोश कर्मिष्ट वर्ग तथा बड़े-बड़े व्यापार केन्द्रों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों के वेतन भोगी सेवक आते हैं। उनमें बहुत कम सामान्य आर्थिक हित हैं, जो कुछ समानता है वह उनके शैक्षिक स्तर, जीवन स्तर और पारिवारिक जीवन के आदर्शों एवं उनके लोकाचार तथा मनोविनोदात्मक हित में है।"[48]

"समकालीन भारतीय समाज" में मध्यवर्ग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है "वर्तमान समाज में निम्न श्रमजीवी तथा निरे वेतन भोगी और उच्च, धनी जमींदार, ताल्लुकेदार तथा व्यापारी वर्गों के अतिरिक्त एक नवीन मध्यम वर्ग का उदय हो गया है जिसमें अधिकांशतः नवोदित उद्योगपति, कारीगर, दस्तकार तथा विज्ञानी, चिन्तक तथा बुद्धिजीवी लोग हैं।"[49] हिन्दी के विद्वान आलोचक डॉ. इन्द्रनाथ मदान मध्यवर्ग के सम्बन्ध में लिखते हैं "मध्यवर्ग सामंती वर्ग

में व्यापारी और क्लर्कों का वर्ग है, जो पूंजीवाद के उत्थान के साथ धनी और सत्ताधारी हो गया। --- यह मूल रूप से मध्यवर्ग इसलिए कहा गया क्योंकि यह सामंती समाज में उच्च और निम्न वर्ग के बीच में उठा। निम्नवर्ग और अभिजात मध्यवर्ग के बीच एक नया वर्ग उठ खड़ा हुआ है, वह वर्ग है वकील, डॉक्टर और प्रोफ़ेसरों तथा अच्छे पदों पर नियुक्त सरकारी अफ़सरों का।"[50]

उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं और विद्वानों के विचारों को जानने पर हमें मध्यवर्ग में दो श्रेणियाँ दिखाई देती हैं।

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत छोटे व्यापारी, समृद्ध किसान, छोटे उद्योगपति, टेक्नीशियन, उच्च वेतन पाने वाले कार्यकर्ता जैसे -- प्रबन्धक, निरीक्षक आदि आते हैं।

द्वितीय श्रेणी में वकील, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर, शिक्षक, लेखक, पत्रकार आदि बौद्धिक कार्यकर्ता आते हैं। इसे ही विद्वान शिक्षित मध्य वर्ग कहते हैं। वास्तव में यह शिक्षित मध्यवर्ग ही "बुद्धिजीवी वर्ग" है।

इस तरह हम देखते हैं कि "समाज में वर्ग संघर्ष को समझने के लिए जहाँ भी शोषक एवं शोषित वर्गों की सत्ता स्वीकार की जाएगी वहीं पर मध्यवर्ग की भी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। शोषक एवं शोषित वर्ग, वर्ग संघर्ष के दो छोर होते हुए भी समाज के व्यापक संदर्भ में मात्र दो ध्रुव ही माने जाएंगे क्योंकि सामाजिक व्यापार का संदर्भ इन दो छोरों के बीच की स्थिति को समाहित किये रहता है जिसकी यथार्थता से इन्कार करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होगा।"[51]

अतः यह स्पष्ट है कि मध्यवर्ग की स्थिति दो छोरों के बीच की स्थिति है, जिसकी प्रवृत्तियाँ इन दो छोरों की ओर मुड़ी हुई प्रतीत होते हुए भी अपनी सामाजिक यथार्थता में अलग स्वतन्त्र सत्ता रखती है।

जब मध्यवर्ग की अलग स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाता है तो वहीं बुद्धिजीवी वर्ग की सत्ता स्वयं स्वीकृत हो जाती है। मध्यवर्ग को आर्थिक आधार पर तीन भागों में विभाजित किया है।

§1§ उच्च - मध्यवर्ग

§2§ मध्य - मध्यवर्ग

§3§ निम्न- मध्यवर्ग

§1§ उच्च मध्यवर्ग

इसमें अपार धनराशि वाले पूंजीपति उच्च मध्यवर्ग में रखे जाते हैं।

§2§ मध्य मध्यवर्ग

इसमें बड़े-बड़े वेतन भोगी नौकरी पेशा बड़े-बड़े वकील, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर आदि आते हैं।

§3§ निम्न मध्यवर्ग

इसमें निर्धन नौकरी पेशा व खाते-पीते व्यापारी आदि आते हैं। इलाचन्द्र जोशी अपने उपन्यास "निर्वासित" में "प्रतिमा" के माध्यम से निम्न मध्यवर्ग के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि "वास्तव में शोषकों के अत्याचारों से यह वर्ग निम्नतम वर्ग से कुछ कम पीड़ित नहीं है। पर निम्न वर्ग से उसमें यह अन्तर है कि वह बहुत अधिक अनुभूतिशील और साथ ही बुद्धिवादी है। इसलिए क्रांति के मूल बीज केवल इसी वर्ग में पनप सकते हैं।" §पृ. 37§

मध्यवर्ग एक ऐसा वर्ग है जो मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी कारणों से दूसरे वर्गों से भिन्न है। इस मध्यवर्ग में एक वर्ग

या जाति के लोग नहीं रहते बल्कि विभिन्न जातियों, समुदायों के लोग सम्मिलित रहते हैं जिनका प्रमुख आधार आर्थिक है। यह वर्ग अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण प्रशासन आदि सेवाओं में कार्य करते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहता है, कभी सुखी होता है तो कभी आर्थिक समस्याओं से जूझता रहता है। आर्थिक स्तर से परेशान होने के बावजूद अपने आपको शिक्षा के बल पर निम्न वर्ग से उच्च समझता है।

जब तक समाज में उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग रहेगा तब तक मध्यवर्ग का भी अस्तित्व भी रहेगा।

§3§ निम्न-वर्ग

इस वर्ग के अन्तर्गत ऐसे लोग आते हैं जिनकी आय का न कोई निश्चित साधन है और न कोई निश्चित मात्रा। ये वर्ग साधारणतः आम सुविधाओं से वंचित रहता है। इनमें कुली, कारखानों के मजदूर आदि आते हैं।

पूंजीवाद के कारण ही निम्न वर्ग अस्तित्व में आया है। इसके उद्भव और विकास में अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति का योगदान है। ब्रिटिश शासन काल में प्राचीन उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये थे फलस्वरूप कारीगरों या काश्तकारों को भूमि के क्रय-विक्रय के कारण किसानों-कारीगरों के हाथ से भूमि छीन ली गई जिससे उन्हें शहरों में विकसित होते हुए उद्योगों, मिलों, कारखानों में मजदूरी करने पर बाध्य होना पड़ा। इस तरह निम्न वर्ग किसानों और कारीगरों के शहरों में मज़दूरी करने से विकसित होता गया। पूंजीपति वर्ग हमेशा उनके श्रम का पूरा लाभ उठाता है और उनके मेहनत की आधी मजदूरी उन्हें देता है। उच्च वर्ग के द्वारा निम्न वर्ग हमेशा शोषित होता रहा है इसीलिए कार्ल मार्क्स ने इसे शोषित या सर्वहारा वर्ग कहा है।

निम्न वर्ग धन के अभाव के कारण अभिशिप्त रह गया। फलस्वरूप प्राचीन रूढ़ियों, रीति-रिवाज़ों, अंधविश्वासों तथा कुरीतियों में फंस कर रह गया। उच्च वर्ग आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से जितना शक्तिशाली और सम्पन्न था उतना ही निम्न वर्ग शक्तिहीन तथाविपन्न था। इस वर्ग में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक चेतना का अभाव था किन्तु बाद में 1920-21 से इस वर्ग में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक चेतना उत्पन्न हुई और राष्ट्रीय आन्दोलनों और आर्थिक हितों के लिए संगठित होकर हड़ताल आदि में भाग लेने लगा। इस तरह धीरे-धीरे निम्नवर्ग में अपनी स्थितियों को पहचानने की दृष्टि मिली। फिर भी इनका शोषण होता है।

निम्न वर्ग के दो भेद किये जाते हैं -- §1§ उच्च निम्न वर्ग तथा §2§ निम्न-निम्न वर्ग ।

§1§ उच्च निम्न वर्ग

इस वर्ग में डाकिये, फोन के लाइन मेन, कारखानों, मिलों में काम करने वाले, कुली तथा दैनिक मजदूरी पाने वाले श्रमिक आदि आते हैं।

§2§ निम्न-निम्न वर्ग

इस वर्ग में ऐसे लोग आते हैं जिनकी निश्चित आय नहीं होती और न ही साधन। इन्हें कई-कई दिन बेकारी में गुजारने पड़ते हैं, मज़दूरी मिलने पर ही भोजन मिलता है।

1.3.2 भारतीय मध्यवर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग

मध्यवर्ग के सम्बन्ध में विभिन्न परिभाषाओं और विद्वानों के विचारों को जानने पर हमें मध्यवर्ग में दो श्रेणियाँ दिखाई देती हैं। प्रथम श्रेणी

में छोटे व्यापारी, समृद्ध किसान, छोटे उद्योगपति, टेक्नीशियन, उच्च वेतन पाने वाले कार्यकर्ता जैसे प्रबन्धक, निरीक्षक आदि आते हैं जबकि द्वितीय श्रेणी में वकील, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर, शिक्षक, लेखक, पत्रकार आदि बौद्धिक कार्यकर्ता आते हैं, जिसे विद्वान "शिक्षित मध्यवर्ग" कहते हैं। वास्तव में यह "शिक्षित मध्यवर्ग" ही "बुद्धिजीवी वर्ग" है।

"भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना और औद्योगिक बुर्जुआजी के उदय के कई दशक पहले ही आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग का जन्म हो चुका था।"[52]

।9वीं सदी के प्रथम कुछ दशकों में शिक्षित भारतीयों की संख्या बहुत [illegible] मिशनरियों ने भी इस दिशा में प्रयास किये तभी ।9वीं सदी के उत्तरार्ध में शिक्षित भारतीयों के बहुत बड़े वर्ग का जन्म हुआ और उससे बुद्धिजीवियों का बहुत बड़ा वर्ग उभर कर सामने आया।"[53]

ए.आर. देसाई अपनी पुस्तक "भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि" में बुद्धिजीवी वर्ग के उदय के बारे में लिखते हैं "भारत में अंग्रेज़ी शासन द्वारा चलाई गई शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप इस शिक्षित मध्यवर्ग (बुद्धिजीवी वर्ग) का जन्म हुआ। वकील, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर, पत्रकार, सरकारी नौकर इत्यादि इस वर्ग के सदस्य थे।"[54]

वास्तव में यह शिक्षित मध्य वर्ग ही "बुद्धिजीवी वर्ग" है। शिक्षित मध्यवर्ग के उत्तरोत्तर विकसित होने के कारण बुद्धिजीवी वर्ग की पृथक स्वतन्त्र सत्ता स्थापित होती जा रही है। अब शिक्षित मध्यवर्ग को बुद्धिजीवी वर्ग के नाम से अभीहित किया जा रहा है।

इन्द्रनाथ मदान जी मध्यवर्ग के सम्बन्ध में विचार करते हुए एक नये वर्ग के जन्म की बात करते हैं "निम्न वर्ग और अभिजात मध्यवर्ग के बीच एक नया वर्ग उठ खड़ा हुआ है, वह वर्ग है वकील, डॉक्टर और प्रोफ़ेसरों तथा अच्छे पदों पर नियुक्त सरकारी अफ़सरों का"।[55] यह नया वर्ग कुछ और नहीं बुद्धिजीवी वर्ग ही है। इसके जन्म की भारतीय विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए श्री बी.बी. मिश्र लिखते हैं "पश्चिम में विशेषकर इंग्लैण्ड में मध्यवर्ग का उदय मूलतः आर्थिक और तकनीकी परिवर्तन के कारण हुआ और इस वर्ग के सदस्य मुख्यतः व्यवसायों और उद्योगों से सम्बन्धित रहे। लेकिन इसके विपरीत वे भारत में मुख्यतः सार्वजनिक प्रशासनों और क़ानून व्यवस्था के कारण न कि आर्थिक परिवर्तन के कारण अस्तित्व में आए और उनका सम्बन्ध अधिकतर बौद्धिक कार्यों से रहा।"[56]

डॉ. वी.पी. सिंह तथा आर.पी. पांडेय इसके उदय के लिए औद्योगिकीकरण को उत्तरदायी ठहराते हैं और लिखते हैं "वर्तमान समाज में निम्न श्रमजीवी तथा निरे वेतन भोगी और उच्च धनी, जमींदार, ताल्लुकेदार तथा व्यापारी वर्गों के अतिरिक्त एक नवीन मध्यम वर्ग का उदय हो गया जिसमें अधिकांशतः नवोदित उद्योगपति, कारीगर, दस्तकार तथा विज्ञानी, चिन्तक तथा बुद्धिजीवी लोग सम्मिलित हैं।"[57] अंग्रेज़ों को प्रशासनिक कार्यों के लिए शिक्षित भारतीयों की आवश्यकता थी इसलिए उन्होंने भारतीयों को अंग्रेज़ी शिक्षा देना प्रारम्भ किया जिससे बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ। मूल रूप से बुद्धिजीवी वर्ग के उदय में पाश्चात्य शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर बुद्धिजीवी वर्ग को निम्न रूप से परिभाषित किया जा सकता है।

1.3.2.1 बुद्धिजीवी वर्ग की परिभाषा

बुद्धिजीवी वर्ग के अन्तर्गत ऐसे बौद्धिक कार्यकर्ता आते हैं जिनका संपूर्ण ज्ञान समाज के उपयोग के लिए है जैसे -- डॉक्टर, प्रोफ़ेसर, वकील, प्रवक्ता, शिक्षक, साहित्यकार, पत्रकार तथा उच्च पदों पर नियुक्त अधिकारी आदि। यह मूलतः बुद्धि प्रधान वर्ग है तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र का नेतृत्व इन्हीं बुद्धिजीवी लोगों के हाथों में रहता है।

1.3.2.2 बुद्धिजीवी वर्ग का विकास

बुद्धिजीवी वर्ग का विकास आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण हुआ। इस आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार में तीन प्रमुख तत्वों का योगदान है। ये तीन प्रमुख तत्व निम्न लिखित हैं —

§अ§ विदेशी ईसाई मिशनरी

§आ§ अंग्रेज़ी प्रशासन तथा आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा

§इ§ प्रगतिशील भारतीय सामाजिक आन्दोलन और संस्थाएँ

इन्हीं तत्वों के कारण ही बुद्धिजीवी वर्ग निरंतर विकसित होता गया।

§अ§ विदेशी ईसाई मिशनरी

पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कार्य का प्रारम्भ वास्तव में ईसाई मिशनरियों द्वारा हुआ। इन ईसाई मिशनरियों की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भारत में ईसाई धर्म को स्थापित करना था। इसी उद्देश्य हेतु इन लोगों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया।

सर्वप्रथम 1706 ई. में डैनिश मिशनरी भारत आई और कुछ वर्षों बाद 1716 ई. में एक शैक्षणिक संस्था की स्थापना की जहाँ पर शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाता था। अगले ही वर्ष 1717 ई. में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए मद्रास में दो स्कूल खोले गए जिनमें से एक पुर्तगालियों के लिए तथा दूसरा मद्रासियों के लिए था। धीरे-धीरे ये मिशनरियाँ भारतीय समाज पर अपना प्रभाव जमाने लगीं। इन मिशनरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए अंग्रेज़ी भाषा को उत्तम माना। फलस्वरूप कई स्थानों पर अंग्रेज़ी भाषा के स्कूल, कॉलेज खोले जाने लगे।

सन् 1836 ई. में एंडरमन एवं ब्रेडवुड ने मद्रास में, जान विल्सन ने बम्बई में, 1841 ई. में राबर्ट नोबुल ने मछलीपट्टनम में, 1884 ई. में हिरूकल ने नागपुर में, चर्च मिशनरी सोसाइटी ने आगरे में अंग्रेजी माध्यम से ईसाई धर्म के प्रचार प्रसार के लिए कॉलिज खोले। डॉ. इयू के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि इन ईसाई मिशनरियों के कॉलिज खोलने का वास्तविक कारण क्या था "हमारा प्रमुख लक्ष्य था कि जहाँ तक सम्भव हो सके, अपने सम्मुन्नत साहित्य एवं विज्ञान के ज्ञान का प्रसार नवयुवकों में करे, लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण एक ध्येय और था, और वह था ईसाई धर्म के प्रमाण एवं सिद्धान्त के साथ-साथ उसका व्यापक प्रसार।"[58] इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि ये ईसाई मिशनरी हिन्दू धर्म को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे और उसके स्थान पर ईसाई धर्म को भारत में प्रति स्थापित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। इस अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण यूरोपीय देशों के विज्ञान, तकनीकी, साहित्य आदि से भारतीय लोग परिचित होने लगे। पाश्चात्य साहित्य के द्वारा यूरोपीय विचारधारा भारतीय चिन्तन में प्रवेश करने लगी जिससे भारतीय बुद्धिजीवियों को लोकतन्त्र, उदारवाद, समाजवाद, मानव अधिकार आदि विचारधाराओं को पढ़ने व समझने का अवसर मिला और उनमें परम्परा-गत रहन-सहन, व्यवहार, परस्पर सम्बन्धों

आदि में परिवर्तन होने लगा वहीं उनका ध्यान भारतीय समाज के पिछड़ेपन, धर्मान्धता तथा अन्य कुरीतियों की ओर गया जिसे सुधारने के लिए इन्होंने अनेक प्रयास किये, साथ ही भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक परम्पराओं को पुर्नजीवित करने का प्रयास किया। इस बुद्धिजीवी वर्ग के प्रथम बुद्धिजीवी समाज सुधारक राजाराम मोहन राय थे। इस बात की पुष्टि इस उद्धरण से हो जाती है "भारत में बुद्धिजीवियों की पहली पीढ़ी के राजाराम मोहन राय हुए और उनके दल ने पाश्चात्य संस्कृति का अध्ययन किया और इस संस्कृति के बौद्धिक और प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों, धारणाओं और सत्य को अंगीकृत किया।"[59] इनके अतिरिक्त "आर.जी. भण्डारकर, महादेव गोविन्द रानाडे, चिपलूणकर, तिलक, आयंगरकर, गोखले आदि के पास उच्च शैक्षिक उपाधियाँ थीं। बंगाल के टैगोर परिवार के सदस्य.अरविंद, विवेकानन्द, जे.सी. बोस और पी.सी.राय अंग्रेज़ी शिक्षा की उपज थे।"[60] आदि ने भी पाश्चात्य शिक्षा पाकर समाजसुधारों के क्षेत्र में कार्य किया।

ये भारतीय अंग्रेज़ी ढंग से शिक्षित होने के कारण ऐसे शिक्षितों का समुदाय था जो समाज में अन्य वर्गों से अपना अलग अस्तित्व रखता था। अंग्रेज़ी शिक्षा, रहन-सहन, पहनावा, आय आदि के कारण वे अपने आपको समाज के अन्य वर्गों से पृथक मानते थे और साधारण जनमानस से अपने आपको उच्च समझते थे।

इस तरह हम देखते हैं कि विदेशी ईसाई मिशनरियों ने आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का भारत में प्रचार-प्रसार कर बुद्धिजीवी वर्ग के उदय और विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

§आ§ अंग्रेज़ी प्रशासन तथा पाश्चात्य शिक्षा

सन् 1858 ई. में अंग्रेज़ी सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। इस विस्तृत प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने

के लिए शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता थी, इसलिए अंग्रेज़ों ने सुयोग्य व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने के लिए भारत में स्कूल और कॉलेज खोले। इससे हजारों की संख्या में भारतीय शिक्षित होने लगे और उनकी अंग्रेज़ी प्रशासन में नियुक्तियाँ होने लगीं। इसके साथ-साथ भारत और इंग्लैण्ड के बीच व्यापार बढ़ने लगा। फलस्वरूप अंग्रेज़ी जानने वाले प्रबन्धकों, एजेंटों आदि की आवश्यकता पड़ने लगी। इस तरह प्रशासनिक और आर्थिक आवश्यकताओं के कारण अंग्रेज़ों को शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना पड़ा, अतः उन्होंने पूरे देश में स्कूल-कॉलेज खोले, जहाँ पर आधुनिक शिक्षा दी जाने लगी परिणामस्वरूप आधुनिक शिक्षा प्राप्त डॉक्टर, वकील, शिक्षक प्रशासनिक कार्यों के लिए प्रबन्धक, निरीक्षक, लिपिक आदि की संख्या में वृद्धि होने लगी। ब्रिटिश सरकार द्वारा आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का बड़े पैमाने पर प्रसार होने के कारण बुद्धिजीवी वर्ग का सबसे अधिक विकास अंग्रेज़ी प्रशासन में हुआ।

कई अंग्रेज़ों जैसे मिंटो, मुनरो तथा भारतीय समाज सुधारक राजाराम मोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन आदि के प्रयत्नों के कारण भारत में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से स्कूल, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय खोले गये। सन् 1824 ई. में इंजीनियरिंग की शिक्षा के कॉलेज खोले गये जहाँ आधुनिक ढंग से शिक्षा दी जाने लगी। सन् 1833 और 1834 ई. में देशी लोक सेवा की नियुक्ति के लिए प्रशिक्षण हेतु स्कूल क्रमशः बम्बई और पूना में खोले गए। पाश्चात्य शिक्षा के लिए सन् 1836 में हुगली में कॉलेज खोला गया। इसी तरह चिकित्सा के क्षेत्र में कलकत्ता तथा बाद में 1852 में मद्रास में मेडिकल कॉलेज खोला गया। कानून की शिक्षा के लिए कलकत्ता, मद्रास तथा वाराणसी में कॉलिज खोले गये। 1857 में बम्बई, मद्रास, कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। इस तरह 1860 से नियमित रूप से शिक्षा का प्रसार सुचारू ढंग से होने लगा, अनेकानेक स्कूल कॉलेज नित खुलते गये। इनसे असंख्य भारतीय शिक्षित होने लगे, जिससे बुद्धिजीवी वर्ग

का विकास सर्वाधिक हुआ। ए.आर. देसाई भी बुद्धिजीवी वर्ग (शिक्षित मध्यवर्ग) के विकास में अंग्रेज़ी शिक्षा को ही उत्तरदायी मानते हैं "भारत में अंग्रेज़ी शासन द्वारा चलाई गई शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप इस शिक्षित मध्य वर्ग का जन्म हुआ था। वकील, डॉक्टर, टेक्नीशियन, प्रोफ़ेसर, पत्रकार, सरकारी नौकर, विद्यार्थी इत्यादि इस वर्ग के सदस्य थे। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में और उसके बाद भी आधुनिक शिक्षण संस्थाओं की संख्या में अनवरत वृद्धि होने के कारण शिक्षित मध्य वर्ग (बुद्धिजीवी वर्ग) की तादाद लगातार बढ़ती गई।"[61]

डॉ. लार्ड मेकाले की दृष्टि में"भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा नीति का वास्तविक उद्देश्य एक ऐसे वर्ग को तैयार करना था जो रक्त और वर्ण में भारतीय हो परन्तु रुचि, विचार, नैतिकता और बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज़ हो।"[62] वास्तव में यह शिक्षा नीति अंग्रेज़ी प्रशासन को सुदृढ़ बनाने की नीति थी। इस नीति के अनुरूप अंग्रेज बाबू व अधिकारी वर्ग बनाने में सफ़ल हुए तो दूसरी ओर उनकी यह नीति उन्हें महँगी पड़ी, जो लोग शिक्षा प्राप्त कर प्रशासन के क्षेत्र में नहीं आए वे स्वतन्त्रता, समानता, लोकतन्त्र आदि बातों से प्रभावित होकर अंग्रेज़ों का विरोध करने लगे। इस तरह उनकी यह नीति दूसरी ओर असफ़ल हुई -- "इस असफ़लता का रूप यह था कि देश में व्यापक राष्ट्रीयता की नींव पड़ गई, यह स्मरण रहे कि इन दोनों प्रक्रियाओं की अलमबरदारी शिक्षित मध्य वर्ग (बुद्धिजीवी वर्ग) ने ही की। जो पढ़-लिखकर प्रशासक के अंग बन गये उन्होंने उनकी नीति को निभाया, जो बाहर रहे उनमें से वे लोग निकले जिन्होंने राष्ट्रीयता की आवाज़ उठायी। एक बात ध्यान देने की है कि भारतीय राष्ट्रीयता के मुख्य नेता क़ानून पेशा लोग थे। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। क़ानून में न्याय की बात निहित है, न्याय से स्वाधीनता, समानता, और भ्रातृत्व के जनतान्त्रिक विचारों को समर्थन मिलता है। पराधीनता से मुक्ति पाने का संघर्ष करने वाले के लिए नैतिक बल तो सहज ही है परन्तु क़ानून के बल पर उसे ठोस वैधानिक आधार भी मिल जाता है।"[63] इससे यह पता चलता है

कि अंग्रेज़ी प्रशासन का विरोध करने वाले, राष्ट्रीयता की आवाज़ उठाने वाले, राजनैतिक-सामाजिक आन्दोलनों के अग्रणी नेता आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग के ही लोग थे। इस बात की पुष्टि निम्न उद्धरणों से भी स्पष्ट हो जाती है "पाश्चात्य शिक्षा ने भारत में एक नवीन प्रकार की बौद्धिक तथा राजनीतिक जीवन की नींव डाली।"[64] ओंकारनाथ श्रीवास्तव के अनुसार -- "शिक्षित मध्यम वर्ग (बुद्धिजीवी वर्ग) का जन्म ही भारत के पिछले सौ वर्षों की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। ...इस वर्ग ने जन्म लेकर समस्त समाज का नेतृत्व किया है और प्रशासन तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों की बागडोर अपने हाथ में ली है।"[65] ए.आर. देसाई लिखते हैं "आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सारे प्रगतिशील आन्दोलन के लगभग सभी नेता अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त बुद्धिवादी वर्ग के थे।"[66] इस प्रकार भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के लोग जहाँ ब्रिटिश प्रशासन का कार्य करते रहे वहीं ब्रिटिश सरकार का विरोध, सामाजिक, राजनैतिक आन्दोलनों के अग्रणी रहे। इस तरह हम देखते हैं कि अंग्रेज़ों की इस शिक्षा नीति का परिणाम अधिकतर भारतीयों के हित में ही हुआ।

पाश्चात्य शिक्षा के परिणाम स्वरूप ही बुद्धिजीवी वर्ग में ही सर्वप्रथम राजनैतिक, सामाजिक चेतना विकसित हुई। 1885 में कुछ बुद्धिजीवी नेताओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। ये नेतागण (जैसे सर्वश्री दादा भाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर "तिलक", रानाडे (म.गोविन्द) सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, लाला लाजपत राय, सरदार पटेल, वि.चन्द्रपाल, नेहरूजी, गाँधी जी, तैयब जी, आर.पी. भण्डारकर, पी.सी.राय) पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी थे और उन्हें अंग्रेज़ी शिक्षा से यह पता चला था कि उनके हित में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था ही उपयुक्त रहेगी। कांग्रेसी बुद्धिजीवी नेताओं की कोशिशों से स्वतन्त्रता आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। सन् 1920 से लेकर 1942 तक

कांग्रेस के बुद्धिजीवी वर्ग के नेताओं ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कई जन-आन्दोलन छेड़े जैसे -- स्वदेशी आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन, भारत छोड़ो आन्दोलन आदि। गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय एवं विपिन चन्द्र पाल जैसे बुद्धिजीवी नेताओं ने "स्वराज्य" की माँग उठाई। इस तरह इन आन्दोलनों तक बुद्धिजीवी वर्ग में राजनैतिक चेतना चरम उत्कर्ष तक पहुँच गई थी। सामाजिक बुराईयों को भी दूर करने में बुद्धिजीवी वर्ग ने विशेष भूमिका निभाई, गाँधी जी ने छुआछूत का विरोध तथा नारी के समान अधिकारों आदि के सामाजिक शुभ कार्यों में रुचि दिखाई। इस गतिशीलता से बुद्धिजीवी वर्ग में विकास, प्रचार और प्रगति हुई तथा इस प्रगति का कारण भारत में राजनैतिक जागरण, भारतीयों के शिक्षा के क्षेत्र में निजी प्रयास तथा शिक्षा विभाग का भारतीयों के नियन्त्रण में होना था। राजनैतिक जागरण के कारण शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ा और शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण राजनैतिक-सामाजिक जागृति आती गई। इस शिक्षा के कारण बुद्धिजीवी वर्ग में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता और स्वतन्त्र चिन्तन की भावना उत्पन्न होने लगी।

सन् 1858 से 1947 तक शिक्षा का प्रसार, प्रशासनिक क्षेत्र में विकास, न्याय क्षेत्र में विकास आदि के कारण जहाँ शिक्षित व्यवसाय में प्रसार हुआ वहीं इन व्यवसायों में काम करने वालों की संख्या में वृद्धि होती गई। शिक्षित व्यवसायों से तात्पर्य है-एक ऐसा व्यवसाय जिसमें विशेष शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। मुख्य शिक्षित व्यवसाय थे -- वकालत, अध्यापन, लेखन, इंजीनियरी, चिकित्सा आदि। इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -- एक तो वे जो वेतन लेकर सरकारी कार्यालयों या संस्थाओं में कार्य करते हैं तथा दूसरे में वे जो अपना कार्य अपनी इच्छानुसार निर्धारित शुल्क लेकर करते हैं, जैसे--अध्यापक, वकील, चिकित्सक आदि वेतन लेकर ग़ैर-सरकारी स्कूल, अस्पतालों में कार्य करते हैं। इस

समय कानून का व्यवसाय अधिक चला और इसी कानून पेशा लोगों ने भारत की राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। व्यापार के क्षेत्र में भी बुद्धिजीवी सामान्य शिक्षा की तरह ही व्यापार प्रशासन का प्रशिक्षण लेकर अनेक संस्थाओं, कार्यालयों में कार्य करने लगे। जिनकी आवश्यकता बड़े पूंजीपतियों को होती थी ताकि उत्पादन वितरण के लिए खोले गए विभिन्न शहरों में अपने कार्यालयों की देखभाल करे। इस तरह प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा के बढ़ते प्रचार के कारण बुद्धिजीवी वर्ग की संख्या में अनवरत वृद्धि होती गई। वास्तव में बुद्धिजीवी वर्ग के विकास का श्रेय ब्रिटिश प्रशासन तथा आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा को है।

§ड§ प्रगतिशील भारतीय सामाजिक आन्दोलन व संस्थाएँ

बुद्धिजीवी वर्ग के विकास में ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सामाजिक संस्थाओं के प्रगतिशील संस्थापकों तथा कार्यकर्ताओं का भी महत्वपूर्ण योगदान है। इन संस्थाओं के संस्थापकों,कार्यकर्ताओं ने आधुनिक शिक्षा के ज्ञान का प्रसार कर सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों, छुआछूत आदि को दूर करने का प्रयास किया। इन लोगों ने यह अनुभव किया कि पराधीनता में भी प्राचीन संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा पर बल देना चाहिए ताकि भारतीय सुशिक्षित हों और उनकी रूढ़िगत अवैज्ञानिक धर्मान्धता से ग्रस्त पिछड़ी मानसिकता को दूर कर सके। इनमें कुछ प्रमुख आन्दोलन एवं इनके प्रवर्तक व्यक्तित्व हैं -- ब्रह्म समाज §राजाराम मोहन राय§, आर्य समाज §स्वामी दयानन्द सरस्वती§, प्रार्थना समाज §केशवचन्द्र सेन§ प्रचारक §रानाडे§ थियोसोफ़िकल सोसायटी या ब्रह्म विद्या समाज §हेलना-पेत्रोवना ब्लेवास्की तथा कर्नल आलकाट§ प्रचारक §श्रीमती एनीबीसेंट§ तथा रामकृष्ण मिशन §स्वामी विवेकानन्द§ आदि।

इस तरह हम देखते हैं कि बुद्धिजीवी वर्ग के उदय-विकास में ईसाई मिशनरियों, अंग्रेज़ी प्रशासन व आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा तथा प्रगतिशील भारतीय सामाजिक आन्दोलन व उनकी संस्थाओं-संस्थापकों का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान है। विशेष रूप से अंग्रेज़ी प्रशासन और उनकी शिक्षा नीति के प्रचार-प्रसार के कारण ही आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग का सही अर्थों में उदय और विकास हुआ।

निष्कर्ष

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक मूलभूत परिवर्तन हुए। ग्रामीण उद्योग-धन्धों तथा कृषि-व्यवसाय के नष्ट होने के साथ-साथ वहाँ की सामाजिक वर्ग संरचना में परिवर्तन हुआ परिणाम-स्वरूप औद्योगीकरण का प्रसार और शहरों का विकास हुआ। गाँव से लोग निकलकर शहरों की ओर रोज़ी-रोटी की तलाश में बढ़े और यहाँ बड़े-बड़े मिलों, कारखानों में काम करने लगे; अपने साथ अपनी पत्नी व सन्तान को ले आये जिससे संयुक्त परिवार टूटने लगे और उनके स्थान पर एकल परिवारों का उदय हुआ। इस तरह समाज में एक नया श्रमिक-मज़दूर वर्ग बना तो दूसरी ओर शिक्षा प्राप्त लोगों द्वारा शहरों के अनेक कार्यालयों में कार्य किया जाने लगा और कुछ लोग व्यापार-धन्धे करने लगे फलस्वरूप एक विस्तृत मध्यवर्ग का निर्माण हुआ। चूँकि भारत में यूरोप का आगमन औदयोगिक साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का आगमन था जिसके कारण यहाँ की सामाजिक संरचना में मध्यवर्ग केन्द्रीय शक्ति के रूप में उदित हुआ। यही मध्यवर्ग बुद्धिजीवी वर्ग की जन्म भूमि है।

वर्ग का आधार प्रमुखतः आर्थिक है और आधुनिक युग में वर्ग की अवधारणा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सूत्रों से संभावित है। इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हर वर्ग का एक वर्ग-चरित्र और एक वर्ग-मनोविज्ञान होता है। आधुनिक भारत की वर्ग संरचना की पृष्ठभूमि में वर्ग और जाति-व्यवस्था की सुदीर्घ परम्परा है और इस कारण आधुनिक भारत की वर्ग मानसिकता कुछ सीमा तक इन पारम्परिक सूत्रों से भी परिचालित होती है।

हमारे विवेच्य बुद्धिजीवी वर्ग की प्रमुख आधार भूमि और क्रीड़ा-स्थली नगर-जीवन है। इस बुद्धिजीवी वर्ग की सीमाएँ ऊपर उच्च वर्ग तक और नीचे निम्न वर्ग तक पहुँचती हैं। इसके अन्तर्गत ऐसे व्यवसायों और कौशलों से जुड़े समूहों और सदस्यों को रखा जा सकता है जिनमें बौद्धिक श्रम की ज़रूरत होती है। भारत में इस वर्ग के उदय और विकास में प्रमुखतः तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहीं -- ईसाई मिशनरी, अंग्रेज़ी प्रशासन व उनकी शिक्षा नीति तथा सामाजिक नवजागरण। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में इस वर्ग ने प्रगतिशील भूमिका निभाई और आन्दोलनों का नेतृत्व किया लेकिन इसके साथ ही अंग्रेज़ों के समर्थक नौकरशाहों और धनाढ्य उच्च वर्ग के रूप में इस वर्ग का दूसरा भी पक्ष उद्घाटित हुआ जो यथास्थिति को बनाये रखने में ही अपना लाभ देख रहा था। इस प्रकार इस वर्ग का चारित्रिक अन्तर्विरोध गहरा होता गया और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस बुद्धिजीवी वर्ग का जो चरित्र निर्मित हुआ उसमें प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता, संघर्षशीलता और आरामतलबी, त्यागशीलता और स्वार्थपरता, आदर्श और अवसरवाद के विरोधी सूत्र दिखाई देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यवस्था के द्वारा शोषित होने के क्रम में इस वर्ग का चरित्र निर्मित हो रहा है और आज देश के प्रजातांत्रिक जीवन में इस वर्ग की निर्णायक भूमिका है।

संदर्भ-संकेत

1. सोशल चेन्ज इन माडर्न इंडिया : एम.एन. श्रीनिवास, पृ.65
   समकालीन भारतीय समाज : वी.पी. सिंह, आर.पी. पाण्डेय, पृ.74-75 से उद्धृत, संस्करण, 1991

2. ट्रेडिशन एण्ड माडर्निटी रिकोगनाइज्ड : बैनडिक्स, पृ.7
   समकालीन भारतीय समाज से उद्धृत

3. आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण : रमेश कुन्तल मेघ, पृ.74
   अक्षर प्रकाशन, संस्करण 1969

4. समकालीन भारतीय समाज : वी.पी. सिंह - आर.पी. पाण्डेय, पृ.74-75

5. आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण : रमेश कुन्तल मेघ, पृ.75

6. प्राब्लम ऑफ़ मॉडर्नाइजेशन ऑफ़ एजुकेशन इन इंडिया : बी.बी. शाह
   समकालीन भारतीय समाज से उद्धृत, पृ.77-78

7. आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में : गंगा प्रसाद विमल, पृ.2
   मैकमिलन प्रकाशन, संस्करण 1978

8. रूरल मॉडर्नाइजेशन कण्ट्राडिक्शन एण्ड चेन्ज : डॉ. आर.जी. सिंह,
   समकालीन भारतीय समाज से उद्धृत, पृ.79

9. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर. देसाई, पृ.78-79
   मैकमिलन प्रकाशन - संस्करण 1976

10. समकालीन भारतीय समाज : वी.पी. सिंह - आर.पी.पाण्डेय, पृ. 79-80

11. हिन्दी साहित्य का इतिहास : बच्चन सिंह, पृ. 25

12. छायावाद का समाजशास्त्र : प्रो. शशि मुदिराज, पृ. 50
परिमल प्रकाशन - संस्करण 1988

13. रूडोल्फ एवं रूडोल्फ - समकालीन भारतीय समाज से उद्धृत, पृ. 89

14. "अर्ली ब्रिटिश रूल" - रमेशचन्द्र दत्त, पृ. 260 हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव से उद्धृत, पृ. 83-84
राजकमल प्रकाशन - संस्करण 1969

15. इंडिया टूडे : रजनीपामदत्त पाँचवा अध्याय, हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव से उद्धृत, पृ. 90

16. कांसीडरेशन्स ऑन इंडियन अफ़ेयर : विलियम बोल्ट्स - इंडिया टूडे : रजनीपामदत्त, पृ. 88, हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष से उद्धृत, पृ. 84-85

17. मांटेच्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, पृ. 267 हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष से उद्धृत, पृ. 108

18. छायावाद का समाजशास्त्र : शशि मुदिराज, पृ. 53-54

19. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव, पृ. 100

20. छायावाद का समाजशास्त्र : शशि मुदिराज, पृ. 54

21. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव, पृ. 90-91

22. छायावाद का समाजशास्त्र : शशि मुदिराज, पृ. 52

23. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष, पृ. 91-92

24. इंडिया इन द विक्टोरियन एज : रमेशचन्द्र दत्त, पृ. 360-61, 366-67 हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष से उद्धृत, पृ. 98-99

25. छायावाद का समाजशास्त्र : शशि मुदिराज -- पृ. 52

26. गाडगिल - एम. एन. राय - कृष्ण - साठोत्तर महिला उपन्यासकारों के उपन्यास में पुरुष छवि : रीता श्रीवास्तव, पृ. 303 शोध प्रबन्ध-वर्ष 1985

27. सोशियॉलोजी ऑफ़ इंडियन कल्चर, पृ. 87 छायावाद का समाज शास्त्र से उद्धृत, पृ. 56

28. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए. आर. देसाई, पृ. 141

29. छायावाद का समाजशास्त्र : शशि मुदिराज, पृ. 57

30. इंडियन मिडिल क्लासेस : बी. बी. मिश्रा (भूमिका) छायावाद का समाजशास्त्र से उद्धृत, पृ. 58

31. समकालीन भारतीय समाज : वी. पी. सिंह - पाण्डेय, पृ. 86

32. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण : रमेश कुंतल मेघ, पृ. 84

33. मुक्तिबोध रचनावली : चार, पृ. 46

34. मुक्तिबोध रचनावली : चार, पृ. 49

35. मुक्तिबोध रचनावली : चार, पृ. 49

36. सोशियॉलोजी ऑफ़ इंडियन कल्चर, पृ. 87 छायावाद का समाजशास्त्र से उद्धृत, पृ. 55

37. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव, पृ. 20

38. छायावाद का समाजशास्त्र : शशि मुदिराज, पृ. 56

39. हिन्दी उपन्यासों में वर्ग भावना : प्रताप टंडन, पृ. 41-42

40. मेनिफ़ेस्टो ऑफ़ दी कम्युनिस्ट पार्टी : मार्क्स : एंग्लिस, पृ. 43

41. मंगलसूत्र व अन्य रचनाएँ - महाजनी सभ्यता लेख : प्रेमचन्द, पृ. 163-164 भारती भाषा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1991

42. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना : बीना श्रीवास्तव, पृ. 19, संस्करण, 1981

43. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना : बीना श्रीवास्तव, पृ. 140

44. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना : बीना श्रीवास्तव, पृ. 14-15

45. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर. देसाई, पृ. 158

46. हिन्दी साहित्य कोश : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 564

47. द इंडियन मिडिल क्लासेस : देअर ग्रोथ इन माडर्न टाइम्स : बी. बी. मिश्रा, पृ. 12-13

48. डिक्शनरी ऑफ सोशियॉलोजी : सं. हेनरी पी. फेयरचाइल्ड, पृ. 193

Middle Class therefore today is a term of designating the termogeneous section of the population made up chiefly of small businessmen and small industrialists, professional and other intelletual workers and salaried employees of large mercantile, industrial and financial establishments. They have few common economic interests whatever unity they possess lies in their educational standards, their standard of living and lies of family life, their modes and recreational interest.

49. समकालीन भारतीय समाज : वी.पी. सिंह - आर.पी. पांडेय, पृ.49
50. प्रेमचन्द : एक विवेचन : डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ.170, संस्करण 1968
51. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना : बीना श्रीवास्तव, पृ.115
52. गाडगिल - कृष्ण-बैरव : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर. देसाई, पृ.156
53. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर. देसाई, पृ.156-157
54. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर. देसाई, पृ.158
55. प्रेमचंद : एक विवेचन : इन्द्रनाथ मदान, पृ.170
56. इंडियन मिडिल क्लासेस - भूमिका - छायावाद का समाजशास्त्र से उद्धृत, पृ.58
57. समकालीन भारतीय समाज : वी.पी. सिंह - आर.पी. पांडेय, पृ.49
58. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना : बीना श्रीवास्तव, पृ.31
59. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर.देसाई, पृ.156
60. समकालीन भारतीय समाज : डॉ.वी.पी. सिंह-आर.पी.पाण्डेय, पृ.174
61. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर.देसाई, पृ.158
62. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव, पृ.20
63. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव, पृ.21-22
64. समकालीन भारतीय समाज : वी.पी. सिंह - आर.पी.पांडेय, पृ.174
65. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष : ओमकारनाथ श्रीवास्तव, पृ.22
66. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए.आर.देसाई, पृ.41

दितीय अध्याय

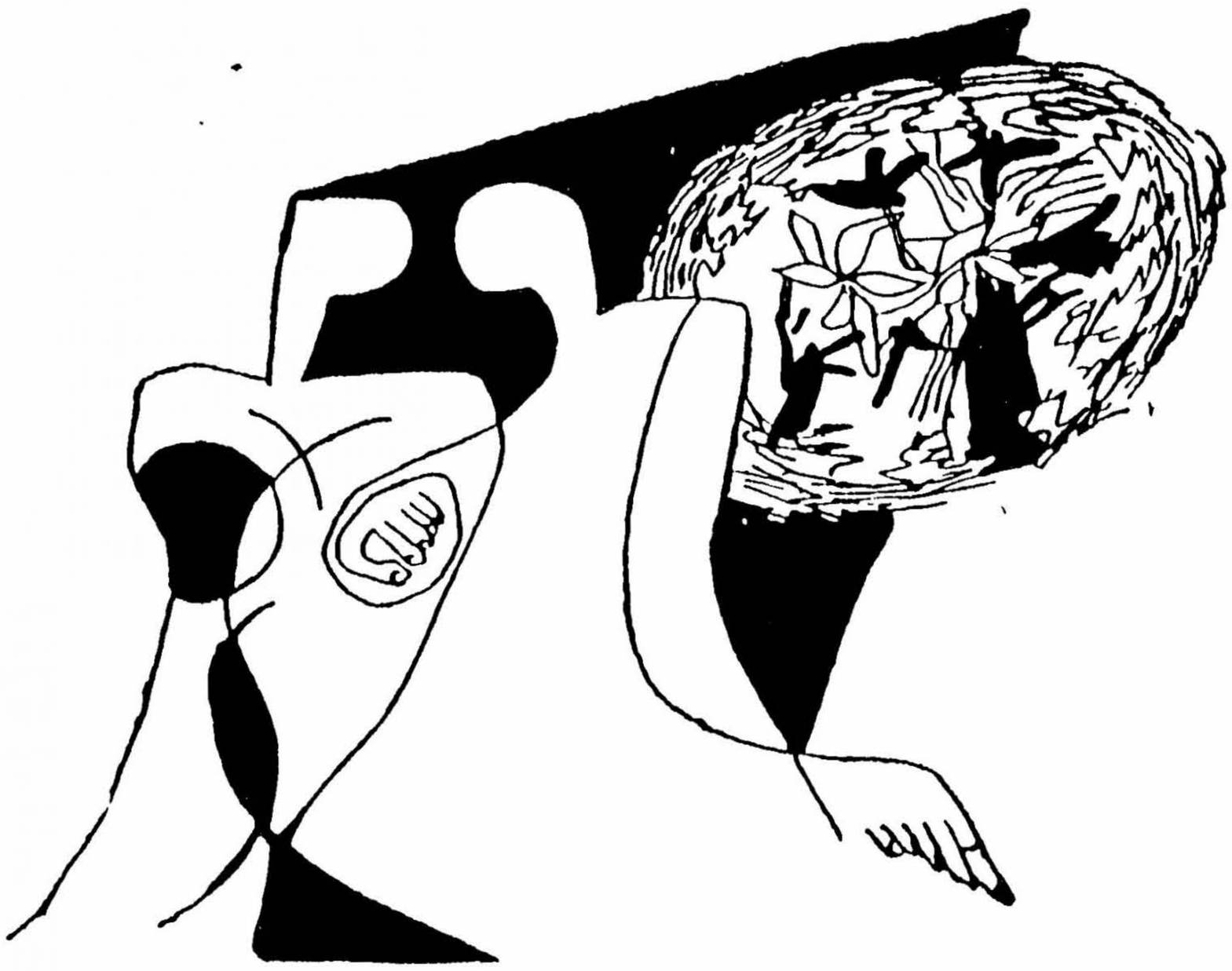

द्वितीय अध्याय

2 स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग - प्रस्थिति और भूमिका

2.1 राजनैतिक - आर्थिक घटनाक्रम

2.2 नये आर्थिक दबाव और परिवार का विघटन

2.3 सामाजिक संरचना में बदलाव और मध्यवर्ग का महाकाल

2.4 दोहरी मूल्य - व्यवस्था और दोहरा चरित्र

2.5 स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग की स्थिति

o
o o
o

द्वितीय अध्याय

2. स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग - प्रस्थिति और भूमिका

स्वतन्त्रता भारत के लिए बेशक एक उपलब्धि थी। उपलब्धि इस अर्थ में कि लगभग एक शती से चलते आने वाला शोषण, उत्पीड़न और उसके खिलाफ़ संघर्ष अपनी परिणति को पहुँच गया। भारत स्वतंत्र हुआ, इसके साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता के खिलाफ़ संघर्ष का अन्त हुआ। भारत स्वाधीन हुआ अर्थात् इसका अपना संविधान बना और लागू हुआ - इन अर्थों में स्वतन्त्रता हमारे देश की उपलब्धि थी लेकिन इसके बाद के सारे राजनैतिक, आर्थिक कार्यक्रमों, सत्ता के सूत्रधारों अर्थात् हमारे नेताओं के आचरण, योजनाओं के जन-विरोधी चरित्र और उनका अनैतिक कार्यान्वयन और परिणामतः उनकी असफलता, इन सबका प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर पड़ता रहा और एक ऐसी सामाजिक संरचना उभर कर सामने आयी जिसमें प्रगतिशीलता और अगतिशीलता के दोहरे तत्व मौजूद थे। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इस दोहरे चरित्र-विशेषतः बुद्धिजीवी वर्ग के संदर्भ में - को समझने के लिए निम्नलिखित उपशीर्षकों से गुज़रना उचित होगा।

1. राजनैतिक - आर्थिक घटनाक्रम
2. नये आर्थिक दबाव और परिवार का विघटन
3. सामाजिक संरचना में बदलाव और मध्यवर्ग का महाकाल
4. दोहरी मूल्य-व्यवस्था और दोहरा चरित्र
5. स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग की स्थिति

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

2.1 राजनैतिक - आर्थिक घटनाक्रम

यूँ तो स्वतन्त्रता देश को 1947 में मिली परन्तु उसके परिणाम 1950 के आस-पास परिलक्षित होने लगे। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से देश में एक बिखराव दृष्टिगोचर होने लगा, क्योंकि एक ओर तो नागरिकों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्व संचित आकांक्षाओं पर तुषारापात हुआ तो दूसरी ओर सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक समस्याओं ने विकराल रूप धारण कर लिया। राजनीति के क्षेत्र में देश के नेताओं द्वारा भारत का विभाजन कर दिया गया। इस विभाजन के बाद साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ हुए, विभाजन-स्वरूप हुए इन दंगों के कारण शरणार्थियों को बसाने की समस्या सामने आयी तो दूसरी ओर इनकी लाखों की संख्या भारत आने के कारण आर्थिक क्षेत्र में भी कई कठिनाईयाँ उत्पन्न हुई। भारतीयों ने स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् जो सपने देखे थे, अपनी-अपनी आकांक्षाओं के जो नये क्षितिज उभारे थे, आकाश में लहराने वाले तिरंगे झण्डे से कई गुणा ऊँचाई पर अपनी अभिलाषाओं के पंखों पर उड़ने लगे थे, देश के नव-निर्माण की कल्पनाएँ की थी, ये सब कल्पनाएँ, सपने साकार होने के पहले ही टूटने लगे ।

स्वतन्त्रता के पहले नेताओं में जो देश-भक्ति, राष्ट्रीयता की भावनाओं आदि का स्रोत था वह स्वतन्त्रता के बाद सूखने लगा। वास्तव में इसका कारण था किसी सुनिश्चित एवं सुनियोजित आधारभूमि का न होना, हमारी आज़ादी की सच्ची क़ीमत, उसके सही मूल्य को न पहचानना था, हमारे नेताओं का भी इसका सही मूल्यांकन न कर पाना था तथा जनता का स्वतन्त्रता की रक्षा का भार नेताओं के कन्धों पर डालकर स्वयं निश्चिंत हो जाना था। परिणामतः धीरे-धीरे विश्व का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र अपने स्वार्थी एवं भ्रष्ट राजनेताओं के कारण पंगु हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के कर्णधारों ने सोचा कि जो अभाव स्वतन्त्रता पूर्व थे उनकी पूर्ति की जाय, देश में सम्पन्नता आए, खुशहाली का वातावरण बने और हम नव-निर्माण की ओर अग्रसर हों, परन्तु उनके सामने देश की स्वतन्त्रता के साथ ही विभाजन की कठिन समस्या आ गई। इस विभाजन से ये आशा थी कि साम्प्रदायिक भेदभाव समाप्त हो जाएगा किन्तु ऐसा होना असम्भव था। एक लम्बा साम्प्रदायिक दंगों का दौर शुरू हुआ फलस्वरूप शरणार्थियों की समस्या सामने आयी, अंग्रेज़ों ने पहले से ही भारत की आर्थिक स्थिति को रसातल में पहुँचा दिया था उस पर देश की बहुत बड़ी उपजाऊ भूमि विभाजन के बाद पाकिस्तान में चली गई फलस्वरूप भारत में गहन आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ जबकि दूसरी ओर शरणार्थियों की समस्या से निपटा जा रहा था, 30 जनवरी, 1948 को महात्मा गाँधी की हत्या कर दी गई जिससे देश के भावी निर्माण की योजनाओं को आघात पहुँचा। स्वतन्त्रता से पूर्व सारा देश अनेक टुकड़ों और रियासतों में बंटा हुआ था किन्तु सरदार पटेल ने एकीकरण की नीति अपनाकर जनवरी 1950 को भारतीय संविधान लागू कर दिया। इस तरह देश में एक नये गणतन्त्र का शासन स्थापित हुआ। राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस नये गणतन्त्र की बागडोर संभाली। इनके अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दल भी उभरने लगे। जनता में नई राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न होने लगी परन्तु 1962 के चीनी आक्रमण और उसमें हमारी पराजय ने बहुत कुछ सोचने पर मजबूर कर दिया, इस पराजय से जहाँ एक ओर नेहरू जी की शान्तिप्रियता एवं आदर्शप्रियता को चोट लगी वहीं दूसरी ओर हमारा मनोबल भी टूट गया। 1965 में पाकिस्तान से युद्ध जीतने के कारण यह मनोबल पुनः बढ़ा। भारतीय राजनीति 1965 के बाद अपने राजनैतिक जीवन मूल्यों तथा आदर्शों से निरन्तर दूर हटती गयी तथा राजनेताओं के लिए राजनीति व्यवसाय और व्यापार बन गयी, अतः वे व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि को अधिक महत्व

देने लगे परिणामतः राजनीति के क्षेत्र में अवसरवादिता, व्यक्तिवादिता, स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार आदि बुराईयाँ उत्पन्न होने लगीं। इस तरह विश्व के सबसे बड़े प्रजातन्त्र देश का शासन "कुछ व्यक्तियों का, कुछ व्यक्तियों द्वारा और कुछ व्यक्तियों के लिए" तक ही सीमित रह गया। इन्हीं स्वार्थी नेताओं के कारण देश में चारों ओर अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, उत्तरदायित्वहीनता, कार्य-अकुशलता तथा कोरी नारेबाज़ी ने गाँधी जी के रामराज्य को स्वप्न बना दिया। इन अवसरवादी और स्वार्थी व भ्रष्ट नेताओं ने सच्चरित्रता, त्याग-बलिदान को सूली पर लटका दिया। सन् 1967 से 1970 तक राजनीति के क्षेत्र में एक ऐसा दौर आया जिसमें सम्पूर्ण भारत के राज्यों में सरकारें नित्य गिरने लगीं, दल बदलाव, आयाराम-गयाराम वाली प्रवृत्तियाँ राजनीति का सहज अंग बन गयीं। जितने नेता उतने आश्वासन और भाषण होने लगे, अपनी कुर्सी बचाने के लिए भाषा, प्रान्तीयता, क्षेत्रीयता तथा सम्प्रदाय आदि के नाम पर वोट मांगे जाने लगे जिससे पूरे भारत में क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता आदि की संकीर्ण भावना उत्पन्न होने लगी। इस तरह हम देखते हैं कि सभी नेता किसी न किसी तरह कुर्सी से चिपके रहना चाहते थे। आज भारत का शासन-तन्त्र भ्रष्टाचार का अड्डा बना हुआ है। देश में व्याप्त महंगाई, काला-बाज़ारी, अनिश्चितता, अव्यवस्था इसी भ्रष्टाचार की देन है।

निष्कर्षतः स्वतन्त्रता के बाद राजनीति के क्षेत्र में हमें स्पष्ट रूप से अवसरवादिता, स्वार्थान्धता, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, साम्प्रदायिकता तथा क्षेत्रीयता आदि बुराईयाँ दिखाई देती हैं तथा इन्हीं के कारण पूरे भारत में अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, उत्तरदायित्वहीनता और कार्य-अकुशलता आदि दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं सब कारणों से आम भारतीय जन-मानस का देश के नव-निर्माण के प्रति मोहभंग होना स्वाभाविक था।

स्वतन्त्रता पूर्व भारत की आर्थिक नीति अंग्रेज़ी शासन के विशेष हितों की पूर्ति के लिए थी जिसके फलस्वरूप भारत की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। इसीलिए देश के कर्णधार नेताओं द्वारा देश की आर्थिक उन्नति के लिए नेहरू जी के नेतृत्व में आर्थिक नीतियाँ बनाई गईं और इनको क्रियान्वित किया गया। वास्तव में इन योजनाओं का मुख्य उद्देश्य ग़रीबी हटाना, बेरोज़गारी दूर करना, तथा आमदनी की असमानताओं को दूर करना था। इन्हीं स्थितियों को ध्यान में रखते हुए 15 मार्च 1950 को पं. जवाहरलाल नेहरू जी की अध्यक्षता में "योजना आयोग" का गठन किया गया। इसके बाद सन् 1955 में स्वीकृत होने वाली कुछ नीतियाँ इस प्रकार थीं :-

1. सामान्य जन-जीवन स्तर एवं उत्पादन के स्तर में वृद्धि होनी चाहिए।
2. भारत का आर्थिक एवं सामाजिक लक्ष्य एक समाजवादी समाज का निर्माण होना चाहिए।
3. आगामी 10 वर्षों में पूर्ण रोज़गार की व्यवस्था होनी चाहिए।
4. राष्ट्रीय नियोजन सामान्य जन-मानस की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु होना चाहिए।
5. राष्ट्रीय धन का समान वितरण होना चाहिए।

लेकिन आज तक अनेक पंचवर्षीय योजनाओं एवं नीतियों के बावजूद आर्थिक खुशहाली के स्थान पर, बेरोज़गारी तथा महंगाई निरन्तर बढ़ती जा रही है। वास्तव में इन योजनाओं एवं नीतियों की विफ़लता का कारण था बढ़ती जनसंख्या तथा खाद्यान्नों का अभाव, इसके साथ-ही-साथ राजनीतिक तथा नौकरशाही स्तरों पर बढ़ते भ्रष्टाचार, रिश्वतख़ोरी तथा भाई-भतीजावाद ने इन योजनाओं,

नीतियों को विफ़लता के कगार पर ला खड़ा किया। आज भी आधुनिक शिक्षा, परिवार-नियोजन आदि के बावजूद देश की आर्थिक स्थिति में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं दिखाई देता।

इसी तरह विदेशी ऋण के क्षेत्र में देखा जाए -- विदेशी सहायता की एक सीमा होती है किन्तु हमारा देश तो प्रगति के हर क़दम पर विदेशी सहायता पर आश्रित बन बैठा है, इसीलिए उसका अस्तित्व ख़तरे में पड़ा और उसकी अर्थ-व्यवस्था टूटने लगी। इसका वास्तविक कारण था अशक्त शासन तन्त्र तथा उसकी अव्यावहारिक योजनाएँ। हमारे देश ने बड़े से बड़े और छोटे से छोटे देश से भी ऋण लिया चाहे वह अमेरीका, रूस या जर्मनी जैसे बड़े देश हों या हंगरी-बलगेरिया जैसे छोटे-छोटे राष्ट्र हों। इन सभी का हमारा देश ऋणी है। राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग इस ऋण की अदायगी में ख़र्च हो जाता है। इतना ही नहीं भारत सरकार भारत के बड़े-बड़े पूंजीपतियों और व्यापारियों की भी ऋणी है। फलस्वरूप यह इन पूंजीपति व्यापारियों के हाथ की कठपुतली मात्र बनकर रह गई है। शासन का इन पर कोई नियन्त्रण नहीं रह गया जिसके कारण ये लोग अपनी मनमानी करने लगे। इसका परिणाम है महंगाई, ऊँची-ऊँची क़ीमतें, भ्रष्टाचार, काला-बाज़ारी एवं मिलावट आदि। इन्हीं सब कारणों से देश की आर्थिक-व्यवस्था डगमगाने लगी है। ग़रीबी की जड़ें और भी अधिक गहराई से जमने लगी है। जहाँ विदेशी ऋण लगातार बढ़ रहा है वहीं भारत में महंगाई भी निरन्तर बढ़ रही है। जिससे निम्न वर्ग, किसान, श्रमिक वर्ग की दुर्गति हो रही है, घटती आमदनी तथा बढ़ती महंगाई के चौराहे पर तथाकथित सफ़ेदपोश कहे जाने वाला बुद्धिजीवी वर्ग मार खा कर छटपटा रहा है। पूंजीपतियों, नौकरशाहों तथा अवसरवादी नेताओं के त्रिकोणात्मक शोषण चक्र के बीच जन-सामान्य पिस रहा है। विदेशी ऋण तथा राष्ट्रीय आय का सार्वजनिक क्षेत्र में पूर्णतया उपयोग कर पाने में वर्तमान शासन व्यवस्था असफ़ल है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत की आर्थिक स्थिति का यथार्थ चित्रण करते हुए डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है -- "स्वतन्त्रता

के बाद के भारतीय इतिहास के अध्याय का सिर्फ़ एक ही शीर्षक हो सकता है -- शर्मनाक भिक्षाकाल। इस भिक्षाकाल की सबसे बड़ी याचक मुद्रा का नाम है - तटस्थता। मैं सह-अस्तित्व, तटस्थता, धर्मनिरपेक्षता आदि का सिर्फ़ प्रशंसक ही नहीं बल्कि उन्हें जीवित मूल्य मानकर उनके लिए सब कुछ सहने भोगने का संकल्प भी रखता हूँ किन्तु मैं जिस "तटस्थता" की बात कर रहा हूँ वह कोई मूल्य नहीं है। दोनों ही शिविर के देशों-से-अधिक से अधिक कर्ज़ पाने की यह व्यापक मुद्रा है जो दाताओं के अपराधों और उत्पीड़ितों के संत्रस्त मनुष्यता को सही समर्थन देने में हमेशा कतराती रही है।"[1]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भारत की आर्थिक नीतियों के अन्तर्गत विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन तथा विदेशी ऋण एवं सहायता के अतिरिक्त सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में बड़े तथा छोटे उद्योगों के विकास, ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन, रियासतों का स्वतन्त्र भारत में विलय तथा राष्ट्रीय सरकार द्वारा सरकारी संस्थाओं को दी गयी आर्थिक सहायता तथा विशेष अनुदान आदि प्रयत्नों के बावजूद सफ़लता नहीं मिल पायी, परिणामस्वरूप दिन-प्रतिदिन भारत में आर्थिक विषमता घर करती गई। इसके अलावा स्वतन्त्रता के बाद भारत की स्वीकृत शासन पद्धति प्रकारान्तर से पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की पोषक थी। अतः अमीर, और अमीर होते गये तथा गरीब, और गरीब होते गये। इस आर्थिक विषमता एवं विपन्नता ने व्यक्ति के मन में असुरक्षा का भाव उत्पन्न किया तथा उसके सामाजिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों तक को भी आहत किया। धनाभाव के कारण संयुक्त परिवार का विघटन होने लगा, इनके स्थान पर समाज में व्यक्तिगत परिवार विकसित होने लगे। धनाभाव के कारण व्यक्ति की इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो पाती थीं जिससे व्यक्ति निराशा संत्रास व कुंठाओं से ग्रस्त होने लगा।

2.2 नये आर्थिक दबाव और परिवार का विघटन

मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक "साहित्यिक की डायरी" में बताया है कि "पिछले बीस वर्षों की सबसे महान् घटना है संयुक्त परिवार का ह्रास।"[2] मुक्तिबोध की यह उक्ति स्वातन्त्र्योत्तर भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना और उसमें होने वाले परिवर्तनों को समझने में महत्वपूर्ण कुंजी है। सामन्ती समाज की इकाई थी संयुक्त परिवार, जो वास्तव में उस समाज के समष्टिगत मूल्यों और आदर्शों का जन्मस्थल था लेकिन धीरे-धीरे पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के अतिक्रमण के कारण सामन्ती व्यवस्था टूटने लगी और इसका प्रतिफलन हुआ परिवार के विघटन में। औद्योगीकरण, शहरीकरण और नये आर्थिक दबावों के कारण एकल परिवारों का निर्माण हुआ। नई शिक्षा, नये आर्थिक प्रलोभन, जीवन स्तर को उठाने की मध्यवर्गीय दौड़ और स्त्रियों में नव जागृत अहं के कारण परिवार की रचना में विचित्र-सा तनाव व्याप्त हो गया। जैसा कि मुक्तिबोध ने विश्लेषण किया है "मध्ययुगीन परम्परा गलत भले ही हो, भले ही हम उसे सामन्ती कहकर टाल दें, किन्तु उसका साँचा ऐसा था कि व्यक्ति में मानसिक शक्ति का अपव्यय होने की गुंजाईश न थी। परम्परागत शील और शिष्टता ने उसे मानसिक संकटों से बचा लिया था। वह मात्र प्रवृत्ति की कठपुतली न था।"[3] लेकिन आज परिवार में वे पुराने विकास नहीं हुए जैसा कि आगे अपने विश्लेषण में मुक्तिबोध बताते हैं "परिवार में न केवल सामन्ती अवशेष हैं, वरन् यहाँ भी बराबर तीन श्रेणियाँ दिखाई देती हैं। एक वह श्रेणी है जो पैसा कमाकर लाती है। उसे सबसे अधिक आदर ही नहीं दिया जाता, वरन् उसकी मान्यता और विचार, उसकी रुचि-अरुचि और कार्य, शीघ्र ही सबके लिए मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं--

चाहे वे कितने ही अवैज्ञानिक, अनुचित और स्वार्थपूर्ण क्यों न हों। सबसे निचली श्रेणी उन लोगों की है जो चौके में सोते हैं। अगर कहीं स्त्री निरक्षर हुई या निर्धन परिवार में से आयी हुई रही तो वह और उसकी जैसी स्थिति के व्यक्ति उस तीसरी श्रेणी में ही रहते हैं। दूसरी श्रेणी में बालक और कमाऊ व्यक्ति के वे रिश्तेदार हैं जो उससे कम कमाते हैं। यदि वे ज्यादा कमाते हैं तो वे प्रथम श्रेणी में, या उससे भी ऊपर होकर सबके लिए अनिवार्य नियम के रूप में यशोभाजन हो जाते हैं। धन, अर्थ, सांसारिक सफ़लता और उससे मिली हुई कीर्ति की तानाशाही परिवार में जितनी चलती है, उतनी बाहर भी नहीं। मानवतावाद की हरदम दुहाई देते हुए भी, घर में जितना अहमवाद और व्यक्तिवाद तथा वैचारिक दासता चलती है उसकी कोई हद नहीं।"[4] इस प्रकार वर्ग-विभक्त समाज का आरम्भ ही विभक्त परिवार से हुआ। स्पष्ट है कि ऐसे वातावरण में व्यक्ति की चेतना विभक्त होगी इसलिए आधुनिक कहानियों और उपन्यासों में सबसे अधिक रचनाएँ परिवार को लेकर ही की गई हैं, चाहे वह "आपका बंटी" हो या "अंकुश"(मन्नु भण्डारी), चाहे वह "चीफ़ की दावत" (भीष्म साहनी) हो या "भ्रमभंग" (देवेश ठाकुर) हो या "डिप्टी कल्कटरी" (अमरकांत), सभी ने नये आर्थिक दबाव और उनसे जूझती मध्यवर्गीय मानसिकता को विषय वस्तु बनाया है। संयुक्त परिवारों के टूटने के साथ ही मानवीय सम्बन्ध भी टूटने लगे। स्त्री-शिक्षा ने आर्थिक स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र अस्तित्व को जन्म दिया। वैयक्तिक सत्ता की चेतना ने नर-नारी के परम्परागत सम्बन्धों को तोड़ना शुरू कर दिया। आधुनिक नर-नारी दोनों ही अपने स्व का परित्याग कर झुकना नहीं चाहते फलस्वरूप विवाह-विच्छेद की स्थिति आ जाती है। जहाँ संयुक्त परिवार टूटे वहीं वैयक्तिक परिवार भी आपसी अहं, स्वतन्त्रता आदि के कारण टूटने लगे परिणामस्वरूप तलाक़ प्रथा में तेज़ी आ रही है जिनका चित्रण उपन्यासों में भी हो रहा है जैसे -- "वही बात" (कमलेश्वर) हो या "रेत की मछली" (कान्ता भारती) अथवा "उसके हिस्से की धूप" (मृदुला गर्ग)

हो। विवाह-विच्छेद के कारण मनुष्य अपने आपको टूटा हुआ, अकेला पाता है। आर्थिक कठिनाईयों के कारण भी व्यक्ति में टूटन, अकेलापन, मानसिक संत्रास आदि स्थितियाँ जन्म लेने लगीं। इन आर्थिक दबावों ने हमारे मूल्यबोध में भी दरार डाल दी।

2.3 सामाजिक संरचना में बदलाव और मध्यवर्ग का महाकाल

कार्ल मार्क्स ने अपने सामाजिक आर्थिक विश्लेषण में दो ही वर्गों की सत्ता स्वीकार की है और मध्यवर्ग के बारे में जिज्ञासा किये जाने पर उन्होंने उसे "पेती बुजुर्आ" विशेषण से अभिहित किया। इस विशेषण में मध्यवर्ग के प्रति कार्ल मार्क्स की हेय दृष्टि का परिचय मिलता है लेकिन औद्योगीकरण के प्रसार के साथ-साथ भारतीय सामाजिक संरचना में जो बदलाव आया और उनसे नये वर्गों का निर्माण हुआ। उसमें मात्रा और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से मध्यवर्ग ही केन्द्रीय स्थान में आ गया। स्वतन्त्रता के बाद सत्ता प्राप्ति से लेकर सत्ता के द्वारा शोषित सभी स्तरों पर मध्यवर्ग ही प्रमुख रहा है अर्थात् "संसद से लेकर सड़क तक"। इस मध्यवर्ग का दुर्भाग्य यह है कि ये शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखता है और इसकी महत्वाकांक्षाएँ हमेशा इसे झूठी प्रतिष्ठा और झूठी मर्यादा के भ्रम में भटकाए रखती है। यह वस्तुतः जड़हीन वर्ग है, इसीलिए इसकी मानसिकता भी उच्च वर्गीय आकांक्षाओं और निम्नवर्गीय नियति के बीच भटकती रहती है। यह न तो पूरी तरह प्रगतिशील है और न ही पूरी तरह परम्परावादी। हमारे आलोच्य बुद्धिजीवी वर्ग की जन्मभूमि यही मध्यवर्ग है। इसी वर्ग का आधिपत्य आज हमारे सामाजिक आर्थिक संरचना और हमारे वैचारिक कार्य-कलापों में है। एक तरफ़ आर्थिक दबावों राजनैतिक उथल-पुथल और दूसरी तरफ़ मूल्यों और आदर्शों के विघटन के कारण इस मध्यवर्ग की मूल्य-व्यवस्था में भी दरार आ गई।

2.4 दोहरी मूल्य-व्यवस्था और दोहरा चरित्र

अपनी पुस्तक "साहित्यिक की डायरी" में मुक्तिबोध ने मध्यवर्ग की त्रिशंकु जैसी स्थिति और उसकी दोहरी मूल्य व्यवस्था का जमकर पर्दाफ़ाश किया है। उनके विश्लेषण का सार यह है कि भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विशेषकर स्वतन्त्रता के बाद देश में एक ऐसा समाज सामने आया जिसका चरित्र अर्ध-सामन्ती और अर्ध-पूंजीवादी था। सामाजिक संरचना का यह दोहरापन व्यक्ति की आन्तरिक संरचना तक प्रसारित है। यह दोहरापन कई दृष्टियों से और कई स्तरों पर विद्यमान है, एक ओर हमारे पारम्परिक आदर्श और मूल्य हैं जिनमें धन के ऊपर मनुष्यता को प्रश्रय दिया गया है और दूसरी ओर पूंजीवादी सभ्यता की गला-काट प्रतियोगिता है जिसमें निरन्तर आगे से आगे दौड़ते चलने का लक्ष्य होता है और जिसमें एक मात्र मूल्य है "पैसा"। आज से क़रीब अर्धशती पूर्व ही प्रेमचन्द ने इस नये मूल्य की महत्ता में "महाजनी सभ्यता" लेख लिखा था जिसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "कुलीनता और शराफ़त, गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है, वह देवता स्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला सभी धन की देहली पर माथा टेकने वालों में हैं। हवा इतनी ज़हरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है।"[6] इसी से निसृत दूसरा मूल्य है "बिज़नेस इज़ बिज़नेस" का।) प्रेमचन्द कहते हैं -- "व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। .... जहां लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसे का मामला है, वहां न दोस्ती का गुजर है, न मुरौवत का न इंसानियत का, "बिजनेस" में दोस्ती कैसी।"[7] अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रेमचन्द ने जिन नये मूल्यों की चर्चा की है वे ही आज अपने भयंकरतम रूप में मानवीय

सम्बन्धों को नष्ट कर रहे हैं। "चीफ़ की दावत" कहानी की वस्तु इसी नये मूल्य को लेकर है जिसमें पहले बेकार समझी गयी माँ का स्थान अफ़सर की अभ्यर्थना के साथ बदल जाता है। मुश्किल यह है कि हमारा मध्यवर्ग विशेषकर बुद्धिजीवी वर्ग इस अधःपतन को समझकर भी इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं। वह आदर्श की, नैतिकता की ऊँची-ऊँची बातें करता है, विद्रोह, क्रांति और शोषण के विरोध में नारे लगाता है किन्तु केवल मौखिक, केवल "घर के बाहर"। इसे और स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने "घर के बाहर" और "घर के भीतर" की शब्दावली दी है। उनका कहना है कि इस मध्यवर्ग के सारे मूल्य बाहर विद्रोह करने के लिए हैं लेकिन अपने परिवार के भीतर जो शोषण है, जो ऊँच-नीच का भेदभाव है उसे वह बदल नहीं सकता। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं "समाज में, बाहर, पूंजी या धन की सत्ता से विद्रोह की बात की गई लेकिन घर में नहीं। वह शिष्टता और शील के बाहर की बात थी। मतलब यह है कि अन्यायपूर्ण व्यवस्था को चुनौती घर में नहीं, घर के बाहर दी गयी। घर का संघर्ष कठिन था। उनमें भावनाओं की टकराहट उन्हीं से होती थी, जो अपने प्राण के अंश थे। इसलिए न केवल उस संघर्ष को टाल दिया गया, वरन् एक अजीब ढंग का समझौता किया गया।"[8] ये बहुत महत्वपूर्ण विश्लेषण है और भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र का दोहरापन यहीं से शुरू होता है। जिसको अपने अनूठे अंदाज में मुक्तिबोध इस तरह बताते हैं "लड़के बाहर राजनीति या साहित्य के मैदान में खेलते हैं और आकर वैसा ही सोचते या करते जो सोचा या किया जाता रहा।"[9] घर और बाहर का यह द्वन्द्व ही असलियत और दिखावे, यथार्थ और आदर्श के द्वन्द्व को जन्म देता है। बुद्धिजीवी वर्ग के इस दोहरे चरित्र की जड़ें हमें बहुत पूर्व से दिखाई देनी शुरू होती हैं। सन् 1920 में प्रेमचन्द द्वारा लिखी गई "नमक का दरोगा" कहानी इसी दोहरे चरित्र को बताती है, जिसमें

पिता बेटे को अवसरवादिता और स्वार्थपरता का उपदेश देता है लेकिन बेटा अपने आदर्शवादी मूल्यों पर अड़िग रहता। इतिहास की विडम्बना यह हुई कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् का भारत इस आदर्शवादी अंश से नहीं बल्कि अवसरवादी अंश से शासित हुआ और धीरे-धीरे चलकर यह मध्यवर्ग "रोटी से खेलने वाला" (धूमिल) वर्ग बनकर रह गया। मूल्यों के दोहरेपन का एक कारण अगतिशीलता तथा पुराने और नये का द्वन्द्व भी है। नवजागरण की झोंक में पुराने मूल्य टूटे लेकिन उनकी जगह नये मूल्य दृढ़ नहीं हुए जिसको व्याख्यायित करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं "सामन्ती विचारधारा के अस्त के बाद, नयी विचारधारा में वह तेजस्विता आयी ही नहीं है, जो जीवन के सभी पक्षों को अपने मार्मिक अनुशासन में रखे। न केवल यह, ऐसी विचारधारा को विकसित करने की, उसके विकास के लिए संघर्ष करने की कोशिश ही नहीं की गयी है। असल में, नये और पुराने के प्रति पूरा अवसरवाद अपनाया गया है।"[10] इतना ही नहीं स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक मानसिकता में भी वर्ग और वर्ग के रूप में आधुनिक सभ्यता जिसमें केवल धनी और शिक्षित का स्थान है और दूसरी ओर गाँवों और कस्बों में चलने वाला सवर्ण और शूद्रों के बीच का संघर्ष यह बतलाता है कि हमारी मानसिकता में पुराने और नये दोनों मूल्य एक विचित्र सम्भ्रम की स्थिति में विद्यमान हैं। धर्म को लेकर भी यही स्थिति है, आज धार्मिकता केवल साम्प्रदायिकता के रूप में विद्यमान है। यद्यपि संविधान के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है लेकिन यह धर्मनिरपेक्षता व्यवहार की स्थिति में आकर धर्म सापेक्षता की स्थिति बन गयी है अर्थात् साम्प्रदायिकता के नाम पर धार्मिक विद्वेष और उत्पातों की मात्रा बढ़ती जा रही है। इसी प्रकार संविधान की दृष्टि से जाति, धर्म और लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव करना अवैध है लेकिन व्यवहारिक क्षेत्र में यह संविधानी स्थिति कितनी प्रभावशाली है इसे बताने की ज़रूरत नहीं है। दहेज के लिए स्त्रियों को जलाने से लेकर छुआछूत के

नाम पर हरिजनों के सामूहिक संहार की भयंकर घटनाएँ स्पष्ट बता रही हैं कि भारत में संवैधानिक मर्यादाएँ कुछ और हैं और उनकी व्यावहारिक विवृत्ति कुछ और है।[1]

2.5 स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग की स्थिति

इस प्रकार हमारे देश में बुद्धिजीवी वर्ग और बृहत्तर अर्थ में मध्यवर्ग का विकास विशिष्ट परिस्थिति में हुआ। श्री बी.बी. मिश्र के मतानुसार "ब्रिटिश राज के परवर्ती काल में जो मध्यवर्ग संवर्द्धित हुए, वे उद्योग के विकास की देन न होकर माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा की वृद्धि के उपज थे। अतः मध्यवर्गों का अधिकांश बुद्धिकर्मी (इंटेलिजेंशिया) हुआ; सिविल नौकर, अन्य वेतन भोगी कर्मचारी तथा विद्यानुरागी पेशों के सदस्य। अतः इन बुद्धिकर्मियों में से ही बुद्धिजीवियों का विकास हुआ (न कि उच्च वर्गों से) यह ऐतिहासिक तथ्य ध्यातव्य है। बुद्धिकर्मी तंत्र (इंटेलिजेंशिया) के ऊँच स्तर से "साहब" और निचले से "बाबू" आये। बाबू मुश्किल से अंग्रेज़ी बोलने वाला मध्यवर्ग था, जिसकी शिक्षा इस मतलब से नहीं दी जाती थी कि वह तात्विक तथा दिखावटी, शेक्सपीयर तथा कालिदास के बीच फ़र्क कर सके। इसकी तुलना में साहब की यूरोपीय शिक्षा तथा यूरोपीय माडलों (भाषा भोजन भेष) ने उसे भारतीय विरासत से परायीकृत (ऐलियेनेट) ही नहीं बनाया अपितु (एलियेन) जैसा भी बना दिया। अगर बाबू सामंतवाद के जुए से दबा था, तो साहब एक विदेशी संस्कृति की बंदर नकल कर रहा था। लेकिन दोनों ही राजनैतिक एवं आर्थिक क़िस्म की उथल-पुथलों से कुंद बना दिये गये थे। राज-भक्ति (लायल्टी) ही उनकी अकेली परीक्षा थी। उनके क्रिया क्षेत्र या तो तीन पीढ़ी वाला संयुक्त कुटुम्ब था, जो व्यक्ति की आत्म सत्ता की उपेक्षा करता था अथवा

Indira Gandhi Memorial Library Univ. of Hyd-134 D16626

दबाव घनीभूत हुए और "शब्द" की ताक़त बढ़ी। यह शब्द मुद्रित होने के कारण बुद्धिजीवी वर्ग प्रबल हुआ। एक ओर विभिन्न राजनैतिक-आर्थिक संगठनों से जुड़ने के कारण इनकी उपयोगिता में वृद्धि हुई और दूसरी ओर व्यवस्था के क्रूर हथकण्डों के कारण इनमें असुरक्षा बोध और आत्मनिर्वासन की प्रवृत्ति बढ़ी। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ने वाली व्यावसायिकता के कारण इनकी स्थिति लोभ और त्याग के विचित्र अन्तर्विरोध में जकड़ गयी। इस बात का बहुत बढ़िया विश्लेषण करते हुए डॉ. रमेश कुन्तल मेघ लिखते हैं कि "हमने एक और भी विचित्र ढंग का आत्म-निर्वासन पाया है जो कि प्रजातान्त्रिक ढाँचे में एक ही दल के बीस साल तक सत्तारूढ़ होने तथा सर्वशक्तिशाली हो जाने से उत्पन्न हुआ है। हम इसे नैतिक बल का चूर हो जाना (डिमोरलाइज़ेशन) कहेंगे। अनेक प्रकार के त्याग करने और कष्ट सहने के बाद भी क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों ने आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी अपने को अकेला, अपने आदर्शों को अधूरा और अपनी विचारधारा को चिरजीवंत पाया। उन्होंने यह भी देखा कि अवसरवादी शक्ति को संचित करके समाज की चेतना को कुंठित कर रहे हैं और सच्चे लगन वाले व्यक्ति सब गंवा बैठे हैं। कार्यनीति (टैक्टिस) की पकड़ की कमी तथा मानवीय गुणों में अत्यधिक आस्था की वजह से वे सामूहिक अभियानों के बिना ही सामाजिक न्याय की प्रत्याशा करते हैं। यह कुछ न होने पर उनका नैतिक बल टूट गया है। अब वे केवल व्यंग्य और कटुता से भरे हुए निष्क्रिय से बुद्धिकर्मी हो गये हैं।"[12] लेकिन स्थिति सर्वत्र ऐसी निराशाजनक नहीं है। "शब्द" इनके हाथ में एक ताक़त बने हैं और जिन्होंने इस ताक़त के सही सामाजिक सरोकारों को पहचाना है उन्होंने इस ताक़त का सही इस्तेमाल भी किया है।

संदर्भ-संकेत

1. आधुनिक परिवेश और नवलेखन -- डॉ. शिव प्रसाद सिंह -- पृष्ठ सं. 7
2. मुक्तिबोध रचनावली : चार - संपादक नेमीचंद्र जैन, पृ. सं. 46, संस्करण, 1980
3. मुक्तिबोध रचनावली : चार - संपादक नेमीचंद्र जैन, पृ. सं. 49, संस्करण, 1980
4. मुक्तिबोध रचनावली : चार - संपादक नेमीचंद्र जैन, पृ. सं. 50, संस्करण, 1980
5. विस्तार के लिए देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय : एक
6. मंगलसूत्र व अन्य रचनाएँ - "महाजनी सभ्यता" लेख-प्रेमचंद - पृ. सं. 163-164 संस्करण, 1991
7. मंगलसूत्र व अन्य रचनाएँ - "महाजनी सभ्यता" लेख-प्रेमचंद - पृ. सं. 165, सं. 1991
8. मुक्तिबोध रचनावली : चार - सं. नेमीचंद्र जैन - पृ. सं. 47
9. वही
10. वही, पृ. 51
11. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण - रमेश कुन्तल मेघ - पृ. 228-229 प्रथम संस्करण, 1969
12. वही, पृ. 238-239

0
0 0
0

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

3. स्वातन्त्र्य पूर्व हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग की प्रस्तुति

तृतीय अध्याय

3. स्वातन्त्र्य पूर्व हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग की प्रस्तुति

प्रस्तुत प्रबन्ध के पहले अध्याय में हम देख चुके हैं कि भारत में किस प्रकार औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने शिक्षित मध्यवर्ग अथवा बुद्धिजीवी वर्ग का एक विशिष्ट रूपाकार निर्मित किया। तद्नुसार स्वातन्त्र्य पूर्व हिन्दी उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी चरित्र कई रंग और पक्ष प्रस्तुत करते हैं। भारत में सामंतवादी व्यवस्था पूरी तरह नष्ट नहीं हुई थी और न ही पूंजीवादी व्यवस्था का पूर्ण प्रचार ही हो पाया था अतः इस अर्ध-सामन्तवाद तथा अर्ध-पूंजीवाद के कारण मध्यवर्ग में विशेषकर शिक्षित मध्यवर्ग या बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र में आदर्शवाद और अवसरवाद तथा स्वार्थ और त्याग की दोहरी मानसिकता आ गई थी। इस स्थिति को हम स्वातन्त्र्य-पूर्व हिन्दी उपन्यासों में भी देख सकते हैं। "परीक्षा-गुरु" को हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास माना जाता है।यह हिन्दी का पहला उपन्यास ही नहीं है बल्कि बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण भी यहीं से प्रारम्भ होता है; जिसमें वकील ब्रजकिशोर और मास्टर शिंभूदयाल नामक दो शिक्षित-बुद्धिजीवी पात्रों का चित्रण किया गया है जो क्रमशः आदर्शवादी और स्वार्थी-अवसरवादी पात्र हैं। उपन्यासकार "लाला श्रीनिवास दास" ने ब्रजकिशोर के आदर्शवादी रूप का परिचय इस प्रकार दिया है "यह वकील है परन्तु अपनी तरफ के मुकद्दमें वालों का झूँटा पक्षपात नहीं करते। झूँठे मुकद्दमें नहीं लेते। बूते से ज्यादः काम नहीं उठाते, परन्तु जो मुकद्दमें लेते हैं उनकी पैरवी वाजबी तौर पर बहुत अच्छी तरह करते हैं और बहुधा अन्याय से सताए हुए गरीबों के मुकद्दमों में

बे महन्ताना लिये पैरवी किया करते हैं। हाकिम और नगर-निवासियों को इनकी बात पर बहुत विश्वास है। यह स्वतन्त्र मनुष्य हैं परन्तु स्वेच्छाचारी और अहंकारी नहीं हैं। अपनी स्वतन्त्रता को उचित मर्यादा से आगे नहीं बढ़ने देते, परमेश्वर और स्वधर्म पर दृढ़ विश्वास रखते हैं। बात सच कहते हैं परन्तु ऐसी चतुराई से कहते हैं कि इन्का कहना किसी को बुरा नहीं लगता और किसी की हकतल्फ़ी भी नहीं होने पाती। यह थोथी बातों पर विवाद नहीं करते और इन्के कर्तव्य में अन्तर न आता हो तो ये दूसरे की प्रसन्नता के लिए अकारण भी चुप हो रहते हैं अथवा केवल संकेत-सा कर देते हैं। जहाँ तक औरों के हक में अन्तर न आय ये अपनें ऊपर दुःख उठाकर भी परोपकार करते हैं; बैर भाव नहीं रखते। अपनी ठसक किसी को नहीं दिखलाया चाहते। यह मध्यम भाव से रहने को पसंद करते हैं और इन्की भलमनसात से सब लोग प्रसन्न हैं। परन्तु मदन मोहन को इन्की बातें अच्छी नहीं लगतीं। और लोगों से यह केवल इतनी बात करते हैं जिस्में वह प्रसन्न रहे और इन्हें झूँट न बोलनी पड़े परन्तु मदन मोहन से ऐसा सम्बन्ध नहीं है। उसकी हानि-लाभ को यह अपनी हानि-लाभ से अधिक समझते हैं इसी वास्ते इन्की उस्सें नहीं बनती। यह कहते हैं कि "जब तक कुछ काम न हो; अपने पल्ले में किसी तरह का दाग लगाए बिना हर तरह के आदमी से अच्छी तरह मित्रता निभ सकती है परन्तु काम पड़े पर उचित रीति बिना काम नहीं चलता।"

यह अपनी भूल जान्ते ही प्रसन्नता से उस्को अंगीकार करके उस्के सुधारने का उद्योग करते हैं इसी तरह जो बात नहीं जान्ते उस्में अपनी झूँटी निपुणता दिखानें पर काम पड़नें पर उस्का अभ्यास करके जेम्सवाट की तरह अपनी सच्ची सावधानी से लोगों को आश्चर्य में डालते हैं।"(पृ. 143-144) ब्रजकिशोर लाल मदनमोहन के सच्चे मित्र के रूप में हमारे सामने आते हैं, वे हमेशा लाला मदनमोहन का भला चाहते हैं, उनके ग़लत कार्यों पर कठोर टीका-टिप्पणी करते

रहते हैं जिससे लाला मदनमोहन नाराज़ होकर उन्हें अपने पास आने से मना कर देते हैं तब वे कहते हैं -- "मैं आपका शत्रु नहीं; मित्र हूँ परन्तु आपको ऐसा ही जंचता है तो अब मैं भी आपको अधिक परिश्रम नहीं दिया चाहता। मेरी इतनी ही लालसा है कि आपके बड़ों की बदौलत मैंने जो कुछ पाया है वह मैं आपकी भेंट करता जाऊँ : ----- मैंने आपके बड़ों की कृपा से विद्या धन पाया है जिस्का बड़ा हिस्सा मैं आपके सन्मुख रख चुका तथापि जो कुछ बाकी रहा है उस्को आप कृपा करके और अंगीकार कर लें। मैं चाहता हूँ कि मुझ से आप भले ही अप्रसन्न रहें, मुझको हरिगिज़ अपने पास न रक्खें परन्तु आपका मंगल हो। यदि इस बिगाड़ से आपका कुछ मंगल होता हो तो मैं इसे ईश्वर की कृपा समझूँगा। आप मेरे दोषों की ओर दृष्टि न दें।" -----"अब मैं जाता हूँ। ईश्वर आपका मंगल करे। बहुत दिन पास रहने के कारण जाने, बिना जाने अब तक जो अपराध हुए हों उन्हें क्षमा करना।" (पृ. 122-124)

ब्रजकिशोर लाला मदनमोहन को छोड़कर चले जाते हैं पर सच्ची मित्रता के कारण वे बुरी स्थितियों में भी उनका भला ही चाहते हैं अतः वे सोचते हैं कि "क्या इस तरह से मैं मदनमोहन की कुछ सहायता इस्समय नहीं कर सकता? यदि इस काम में मेरी जान भी जाती रहे तो कुछ चिंता नहीं। जब मैं उन्को अन्समझ जानकर उन्के कहने से उन्हें छोड़ आया तो मैंने कौन्सी बुद्धिमानी की? पर मैं रहकर क्या करता ? हाँ में हाँ मिलाकर रहना रोगी को कुपथ्य देने से कम न था और ऐसे अवसर पर उन्का नुक्सान देखकर चुप हो रहना भी स्वार्थपरता से क्या कम था?" (पृ. 129) और जब लाला मदनमोहन पैसे-पैसे को मोहताज हो जाते हैं, सारी चीज़ें नीलाम हो जाती हैं और ऐसी अवस्था में रात-दिन साथ रहने वाले मित्र भी दामन छुड़ाकर भाग जाते हैं और वह जेल पहुँच जाते हैं तब ब्रजकिशोर अपनी सच्ची मित्रता का परिचय लाला मदनमोहन को सुधार कर

हवालात से छुड़ाकर देते हैं "निदान सब लोग बड़े आनन्द से हिल मिलकर मदनमोहन को घर लिवा ले गए और चारों तरफ से "बधाई" "बधाई" होने लगी।" (पृ. 252) ब्रजकिशोर की तुलना में मास्टर शिंभूदयाल स्वार्थी व अवसरवादी है। "लाला श्रीनिवास दास" ने मास्टर शिंभूदयाल का जो चारित्रिक वर्णन किया है उससे उनकी नस-नस में भरी स्वार्थपरता की भावना का पता चलता है "मास्टर शिंभूदयाल प्रथम लाला मदनमोहन को अंग्रेज़ी पढ़ाने के लिए नोकर रक्खा गया था पर मदनमोहन का मन बचपन से पढ़ने की अपेक्षा खेलकूद में अधिक लगता था। शिंभूदयाल ने लिखने-पढ़ने की ताकीद की तो मदनमोहन का मन बिगड़ने लगा। मास्टर शिंभूदयाल खानें, पहन्नें, देखनें, सुन्नें का रसिक था और लाला मदनमोहन के पिता अंग्रेज़ी नहीं पढ़े थे इसलिए मदनमोहन से मेल करनें में इस्नें हर भांत अपना लाभ समझा। पढ़ानें लिखानें के बदले मदनमोहन बालक रहा जितने अलिफ़ लैला में से सोते जागते का किस्सा, शेक्सपियर के नाटकों में से कोमडी आफ़ एर्रज, ट्वेलफ़्थनाइट, मच ए डू एबाउट नथिंग; वेन जान्सन का एव्हरीमैन इन हिज ह्यूमर; स्विफ्ट केड्री पीअर्स लेटर्स, गुलिवर्स ट्रैवल्स, टेल आफ़ ए टब, आदि सुनाकर हँसाया करता था और इस युक्ति से उस्कों, टोपी, रूमाल, घड़ी, छड़ी आदि का बहुधा फायदा हो जाता था। जब मदनमोहन तरुण हुआ तो अलिफ़ लैला में से अबुल हसन और शम्सुलनिहार का किस्सा; शेक्सपियर के नाटकों में से रोमयो ऐण्ड जुलियट आदि सुनाकर आदि रस का रसिक बनाने लगा और आप भी उस्के साथ फूल के कीड़े की तरह चैन करनें लगा, परन्तु यह सब बाते मदनमोहन के पिता के भय से गुप्त होती थी और गुप्त होती थीं इसी में शिंभूदयाल आदि का बहुत फायदा था। वह पहाड़ी आदमियों की तरह टेढ़ी राह में अच्छी तरह चल सकता था परन्तु सम भूमि पर चलने की उस्को आदत न थी। जब चुन्नीलाल मदनमोहन के पास आया कुछ दिन

दोनों की बड़ी खटपट रही परन्तु अंत में दोनों अपना हानि-लाभ समझकर गरम लोहे की तरह आपस में मिल गए। शिंभूदयाल को मदनमोहन ने सिफ़ारिश करके मदरसे में नोकर रख दिया था इस्कारण वह मदनमोहन की अहसानमंदी के बहानें से हर वक्त वहाँ बना रहता था।"§पृ. 64-65§ अपने स्वार्थ के कारण मास्टर शिंभूदयाल, लाला मदनमोहन की हाँ में हाँ मिलाता है और उनकी चापलूसी पूर्ण प्रशंसा भी करते रहता है। लाला मदनमोहन द्वारा गवैयों को गवाने तथा तवायफ़ के नाच आदि कार्य को फ़िज़ूलखर्ची न कहकर परोपकार का काम कहता है। लाला ब्रजकिशोर के मीन-मेख निकालने पर उनसे कहता है कि "आप तो जिस्बात को कहते हैं हद्द के दरजे पर पहुँचा देते हैं, भला। पृथ्वी राज और मुसल्मानों की बादशाहत का लाला साहब के कामकाज से क्या सम्बन्ध है ? उन्का द्रव्य बहुत कर के अपने भोग-विलास में खर्च होता था परन्तु लाला साहब का तो परोपकार में होता है।" §पृ. 43§ मास्टर शिंभूदयाल की अवसरवादिता उस समय प्रकट होती है जब लाला मदनमोहन पर मुसीबत आती है, पैसों की तंगी हो जाती है वे देख लेते हैं कि अब वहाँ रहने से उनका लाभ नहीं है तब वे उन्हें छोड़कर चले जाते हैं। लाला साहब से आकर कहते हैं कि "इन्हीं दिनों में यहाँ काम है और इन्हीं दिनों में मदरसे में लड़कों का इम्तहान है। कल मुझको वहाँ पहुँचने में पाव घंटे की देर हो गई थी इस्पर हेडमास्टर सिर हो गये। वहाँ न जाय तो रोजगार जाता है यहाँ न रहैं तो मन नहीं मान्ता §मदनमोहन से§ आप आज्ञा दें जैसा किया जाय ?" §जाने के लिए कहते हैं§

....क्या करूँ ? लाचार हूँ " ... "यहाँ आए बिना मन नहीं मानेंगा परन्तु हाँ, कुछ कम आना होगा आठ पहर की हाजरी न सध सकेगी। मेरी देह मदरसे में रहेगी परन्तु मेरा मन यहाँ लगा रहैगा।" आदर्शवाद और अवसरवाद का मिला-

जुला चरित्र-विकास लाला श्रीनिवास दास से लेकर हिन्दी के अग्रणेता उपन्यासकार प्रेमचंद तक की प्रिय "थीम" रही। प्रेमचन्द के "गोदान" की डॉक्टर मालती, अपने पिता के बीमार हो जाने पर परिवार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेती है। घर-खर्च तथा बहनों की शिक्षा-दीक्षा, पिता की तिमारदारी-दवाईयों के खर्च आदि के लिए दिन-रात कार्य करती रहती है "मालती के चार-पाँच सौ रुपये में वह भोग-विलास और ठाट-बाट तो क्या निभता। हाँ, इतना था कि दोनों लड़कियों की शिक्षा होती जाती थी और भले मानसों की तरह जिन्दगी बसर होती थी। मालती सुबह से पहर रात दौड़ती रहती थी।" (पृ. 160) घर की जिम्मेदारी को उठाने के बावजूद वह हास-विलास में डूबी रहती थी लेकिन मेहता के सम्पर्क में आने के बाद विलासिनी मालती का हृदय बदल जाता है। जिन गरीबों को देखकर वह नाक-भौं सिकोड़ती थी" अब अक्सर गरीबों के घर बिना फीस लिये ही मरीजों को देखने चली जाती थी। मरीजों के साथ उसके व्यवहार में मृदुता आ गयी थी।" (पृ. 313) इतना ही नहीं अब वह समाज सेविका के रूप में हमारे सामने आती है, वह गाँव-गाँव घूमकर बच्चों की जाँच व इलाज करती है। बच्चों के प्रति उसका निस्वार्थ प्रेम तब प्रकट होता है जब उसके माली गोबर के लड़के को चेचक निकलती है। तब वह उसकी रात-दिन सेवा-उपचार करती है "रात को उसकी बेचैनी बढ़ जाती और मालती को प्रायः सारी रात बैठना पड़ जाता; मगर वह न कभी झुँझलाती, न चिढ़ती।" (पृ. 344) निर्धन व ज़रूरतमंद लोगों की सेवा और इलाज-उपचार के लिए वह मेहता से विवाह करने से इन्कार कर देती है और उससे कहती है कि "अपनी छोटी सी गृहस्थी बनाकर, अपनी आत्माओं को छोटे से पिंजड़े में बंद करके, अपने दुःख-सुख को अपने ही तक रखकर क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं ? वह हमारे मार्ग में बाधा ही डालेगा।" (पृ. 349) इस तरह उसका आदर्श चरम स्थिति पर पहुँच जाता है। मालती की

तरह मेहता भी आदर्शवादी है, उनके वेतन के आधार पर कई छात्र, छात्रवृत्तियाँ पाते हैं तथा कई विधवाएँ धन पाती थीं "आय तो एक हजार से ज्यादा है; मगर वह सारी-की-सारी गुप्तदान में उड़ जाती है। बीस-पच्चीस लड़के उन्हीं से वजीफा पाकर विद्यालय में पढ़ रहे थे। विधवाओं की तादाद भी इससे कम न थी।" §पृ. 340§ खन्ना की मिल में मज़दूरों का वेतन कम कर दिया जाता है तब वे हड़ताल करते हैं। इसी अवसर पर मेहता मज़दूरों का पक्ष लेकर खन्ना से कहते हैं ----- "क्या यह जरूरी था कि इयूटी लग जाने से मज़दूरों का वेतन घटा दिया जाय ? आपको सरकार से शिकायत करनी चाहिए थी। अगर सरकार ने नहीं सुना, तो उसका दण्ड मजूरों को क्यों दिया जाय ? क्या आपका विचार है कि मज़ूरों को इतनी मज़ूरी दी जाती है कि उसमें चौथाई कम कर देने से मजूरों को कष्ट नहीं होगा ? आपके मजूर बिलों में रहते हैं - गन्दे बदबूदार बिलों में - जहाँ आप एक मिनट भी रह जायें, तो आपको कै हो जाय। कपड़े जो पहनते हैं उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खाएगा। मैंने उनके जीवन में भाग लिया है। आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं ... जो आदमी किसी व्यापार में हिस्सा लेता है, वह इतना दरिद्र नहीं होता कि इसके नफ़े ही को जीवन का आधार समझे। हो सकता है कि नफ़ा कम मिलने पर उसे अपना एक नौकर कम कर देना पड़े या उसके मक्खन और फलों का बिल कम हो जाय ; लेकिन वह नंगा या भूखा न रहेगा। जो अपनी जान खपाते हैं, उनका हक़ उन लोगों से ज्यादा है, जो केवल रुपये लगाते हैं।" §पृ. 294-295§ मेहता व मालती की अपेक्षा खन्ना, श्याम बिहारी तंखा, ओंकारनाथ व राय साहब स्वार्थी व अवसरवादी हैं। मैनेजर खन्ना तो इतने अवसरवादी हैं कि वे समय का फ़ायदा उठाकर लोगों को ऋणी बना लेते हैं।

एहसान करते हैं तो उसका प्रतिदान भी चाहते हैं। शिकार खेलते समय एक देहाती से वे जड़ी-बूटी खरीदते हैं। राय साहब जब कारण पूछते हैं तो कहते हैं--- "बात यह है कि मेरा तरह-तरह के आदमियों से साबका पड़ता है। कुछ ऐसे लोग भी आते हैं, जो जड़ी-बूटियों पर जान देते हैं। उनको इतना मालूम हो जाय कि यह किसी फकीर की दी हुई बूटी है, फिर आपकी खुशामद करेंगे, नाक रगड़ेंगे, और आप वह चीज़ उन्हें दे दें, तो हमेशा के लिए आपके ऋणी हो जायेंगे। एक रुपये में अगर दस-बीस बुद्धुओं पर एहसान का नगदा कसा जा सके, तो क्या बुरा है ? जरा-से पहचान से बड़े-बड़े काम निकल जाते हैं।" (पृ. 93) इन्हीं की तरह वकील श्याम बिहारी तंखा भी स्वार्थी व अवसरवादी है। वे अपने लाभार्थ मिर्ज़ा खुर्शेद को चुनाव में खड़े होने तथा किसी कम्पनी के डायरेक्टर बनने के लिए कहते हैं पर मिर्ज़ा पहले तो इन्कार कर देते हैं लेकिन मरे हिरण को उठाकर चलने की शर्त वे बाँधते हैं और तंखा जैसा कहे वैसा करने को तैयार हो जाते हैं, वे सोचते हैं--- "मिर्जा अपने कौल के पक्के हैं। इसमें कोई सन्देह न था। हिरन ऐसा क्या बहुत भारी होगा। आखिर मिर्ज़ा इतनी दूर ले ही आए। बहुत ज्यादा थके तो नहीं जान पड़ते; अगर इनकार करते हैं, तो सुनहरा अवसर हाथ से जाता है। आखिर ऐसा कोई पहाड़ है। बहुत होगा; चार-पाँच पंसेरी होगा। दो-चार दिन गर्दन दुखेगी। जेब में रुपये हों, तो थोड़ी-सी बीमारी सुख की वस्तु है। ...हिरन को उठाकर गर्दन पर रखने की चेष्टा की। दो-तीन बार ज़ोर लगाने पर लाश गर्दन पर तो आ गयी; पर गर्दन न उठ सकी। ..."सारी शक्तियाँ जवाब दे चुकी थीं। केवल लोभ, किसी लोहे की धरन की तरह छत को संभाले हुए था। एक से पच्चीस हज़ार तक की गोटी थी। मगर अन्त में वह शहतीर भी जवाब दे गयी। लोभी की कमर भी टूट गयी। आँखों के सामने अंधेरा छा गया। सिर में चक्कर आया और वह शिकार गर्दन पर लिये पथरीली ज़मीन पर गिर पड़े।" (पृ. 101-102) "परख" (जैनेन्द्र कुमार) का बुद्धिजीवी बिहारी वकालत

छोड़कर किसान का सीधा सादा जीवन व्यतीत करना चाहता है "मैं गांव में रहने लगूँगा। एक झोपड़ी बनवा लूँगा। शहर में रहना कुछ नहीं....तमाम दुनिया की आफत। उसे (कट्टो) तो मैं शहरी कभी नहीं बनाऊँगा, देखी तो है शहर की, मानों आसमान पर चढ़ आयेंगी। ...नहीं जी, गाँव में रहेंगे हम, --मैं और कट्टो। ...बाबू जी कहेंगे तो कहो,-मुझे नहीं पसंद यह वकालत। मनहूसियत छा जाती है। जिन्दगी का मजा कुछ रहता ही नहीं। पैसा, अदालत, मुवक्किल और झूठ और फरेब और नहीं बढ़िया किसान बनकर रहूँगा। फिर भी अपनी अंग्रेज़ी डिग्री को, चोगों और सनदों को खूंटी पर लटकाकर कहूँगा - लोगों वह रही तुम्हारी वकालत और वह रही तुम्हारी अंग्रेज़ी। उन्हें हाथ जोड़ना, मुझे छोड़ दो। मुझे चुपचाप किसान बनकर रहने दो। कैसा मजा रहेगा। खुशी से भरी और फिक्र से खाली, मनुष्यता से भरी और बनावट से खाली- बड़ी सुख की जिन्दगी होगी वहाँ लोगों से कहूँगा - सलामत रहें ये सनदें, इन्हें लटका रहने दो, (कभी-कभी झाड़न से उन्हें झाड़ दूँगा) पर मुझे तो मेरी किसानी भली, और मेरी गाय, - गाय एक जरूर रखूँगा और वह मेरी कट्टो।" (पृ. 64-65) दूसरी ओर मुंशी होशियार बहादूर स्वार्थी व अवसरवादी है, वे लोगों से पैसे लेकर मुकद्दमें नहीं लड़ते। अदालत को समय देकर भी नहीं आते ऊपर से मुवक्किलों को डराते-धमकाते व उनसे अपने पैसे वसूल कर लेने को कहते हैं। ऐसे अवसरवादी पात्र हैं तो दूसरी ओर चरम आदर्शवादी चरित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं जैसे - "गीता पार्टी कामरेड" की गीता कम्यूनिस्ट पार्टी की आदर्शवादी कार्यकर्ता के रूप में हमारे सामने आती है। उसे पदमलाल भावरिया "जनयुग" समाचार-पत्र खरीद कर बाक़ी पैसे रख लेने के लिए कहता है पर गीता इन पैसों का रसीद फाड़कर उसे दे देती है- "सुनिये, देखिए, यह लीजिये नौ रुपये चौदह आने।" ..."आपकी नजर है।"... ...उसने दृष्टि बटुये के भीतर झुका ली। एक रसीद की कापी और पेंसिल निकाल कर बोली, "तो आप नौ रुपये चौदह आने के लिए पार्टी की रसीद ले लीजिए।"(पृ. 13)

ऐसे ही एक बार पद्मलाल, गीता को कोई आभूषण भेंट स्वरूप देना चाहता है पर वह अपने लिए कुछ न लेकर पार्टी के लिए दो सौ रुपये चंदे के रूप में लेती है तो उसका भी रसीद देना नहीं भूलती। इसी कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रान्तीय कमेटी के नेता कामरेड हारे भी आदर्शवादी हैं। उनके कार्यकताओं के साथ मारपीट करने, कार्यालय को जलाकर तहस-नहस कर देने पर कार्यकर्ता जोश में बदला लेने की बात करते हैं तब उन्हें रोकते हुए हारे कहते हैं -- "मार-पीट से बदला लेने की बात सोचना मूर्खता है। यदि हम ऐसा करेंगे तो शरारत करने वालों की ओर अंग्रेज़ सरकार की मंशा पूरी करेंगे। जिस भीड़ ने पार्टी पर हमला किया, उसमें सभी तरह के आदमी थे। कौन कह सकता है इस अवसर से लाभ उठाने के लिए मजदूर श्रेणी के विरोधियों ने ही इस उत्पात को विकट रूप न दिया हो ? हमें खुद जाहिल नहीं बनना, जाहिलों की आँखें खोलनी है।" (पृ. 3) यही भाव गीता के भी है। जब उसके चरित्र पर समाचार-पत्र लांछन लगाते हैं तब उसका छोटा भाई गुस्से से उन पर बम फेंकने की बात कहता है तब गीता उसे अहिंसा की सीख देती हुई कहती है-- -- "बदला लेने से तो झगड़ा बढ़ेगा। हमें देश और देश की जनता के हित की नीति पर चलना है। उसके लिए चाहे मार खानी पड़े, जेल जाना पड़े या झूठी बदनामी भी सहनी पड़े।" (पृ. 8)

उपन्यासकारों ने आदर्शवादी व अवसरवादी बुद्धिजीवी चरित्रों को प्रस्तुत करने में कुछ जगह गत्यात्मक या डायनेमिक चरित्र-चित्रण शैली का भी उपयोग किया है अर्थात् शुरू में अवसरवादी दिखाई पड़ने वाले चरित्र में कुछ कारणवश परिवर्तन होता है जो उसे आदर्शवाद की ओर ले जाता है। दूसरी ओर ऐसे चरित्र भी हैं जो अपने आदर्शवाद को यथार्थवाद के आगे पराजित होता

देख संशय में पड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए "सितारों के खेल" (उपेन्द्र नाथ अश्क) के डॉक्टर अमृतराय अपने कठोर स्वभाव के कारण जाने जाते थे किन्तु जब लता, बंसीलाल को इलाज के लिए अस्पताल लाती है तो धीरे-धीरे उनके स्वभाव में परिवर्तन होने लगता है "पर जब लता ने अपनी वेदना-भरी आँखों से उसकी ओर देखकर अपने अवरुद्ध कण्ठ से, अपनी उद्भ्रान्त वाणी से, उसकी जान बचाने की प्रार्थना की तो फिर उन्होंने जान लड़ा दी। दिन-रात एक करके उसे मृत्यु के मुँह से खींच लाये। शायद यही पहला केस था, जिसमें उन्होंने इतनी विनम्रता, इतनी विनयशीलता का परिचय दिया था।" (पृ. 79-80) इसी तरह वे धीरे-धीरे ग़रीब-से-ग़रीब मरीज़ के साथ भी इतनी ही विनम्रता से पेश आने लगते हैं। जब चपरासी तुलसी एक ग़रीब भंगी को धक्का देकर भगाना चाहता है तब "अमृतराय ने आव देखा न ताव, तुलसी पर बरस पड़े। उसके दो थप्पड़ भी जड़ दिये -- "यह तुम्हारे बाप का अस्पताल है कि यहाँ किसी को आने से रोकते हो ? यह अमीरों के लिए नहीं, गरीबों के लिए है। अमीर तो दूसरे डॉक्टर से भी लाभ उठा सकते हैं; पर इन निर्धनों के लिए इस अस्पताल के सिवा कहीं सहारा नहीं। तुम चौकीदार हो, खुदा तो नहीं कि इस प्रकार निर्धनों को धक्के दो।" (पृ. 80) दूसरी ओर "मंगलसूत्र" (प्रेमचंद) के साहित्यकार देवकुमार हमेशा अपना आदर-सम्मान चाहते थे, धन के लिए कभी किसी के सामने नहीं झुके हालांकि बहुत से लोगों ने उन्हें अपने पास बुलाया पर उन्होंने अपने आत्म-सम्मान को नहीं खोया "साहित्य सेवा के सिवा उन्हें किसी काम में रुचि न हुई और यहाँ धन कहाँ ? - हाँ, यश मिला और उनके आत्म संतोष के लिए इतना काफ़ी था। संचय में उनका विश्वास भी न था। संभव है, परिस्थिति ने इस विश्वास को दृढ़ किया हो, लेकिन उन्हें कभी संचय न कर सकने का दुःख नहीं हुआ। सम्मान के साथ अपना निर्वाह होता जाये इससे ज्यादा वह और

कुछ न चाहते थे। साहित्य-रसिकों में जो एक अकड़ होती है, चाहे उसे शेखी ही क्यों न कह लो, वह उनमें भी थी। कितने ही रईस और राजे इच्छुक थे कि वह उनके दरबार में जायें, अपनी रचनाएँ सुनायें, उनको भेंट करें, लेकिन देव-कुमार ने आत्म-सम्मान को कभी हाथ से न जाने दिया। किसी ने बुलाया भी तो धन्यवाद देकर टाल गये। इतना ही नहीं वह यह भी चाहते थे कि राजे और रईस मेरे द्वार पर आएँ; मेरी खुशामद करें, जो अनहोनी बात थी।" §पृ॰ 175§ यही देवकुमार अपने सार्वजनिक अभिनंदन के अवसर को लेकर मोह और स्वाभिमान के अन्तर्द्वन्द में पड़ जाते हैं — "ज्यों-ज्यों सभा में जाने का समय समीप आता था उनके मन पर एक तरह का अवसाद छाया जाता था। जिस वक्त थैली उनको भेंट की जायेगी और वह हाथ बढ़ाकर लेंगे वह दृश्य कैसा लज्जाजनक होगा। जिसने कभी धन के लिए हाथ नहीं फैलाये वह इस आखिरी वक्त में दूसरों का दान ले ? यह दान ही है, और कुछ नहीं। एक क्षण के लिए उनका आत्म-सम्मान विद्रोही बन गया। इस अवसर पर उनके लिए शोभा तो यही देता है कि वह थैली पाते ही उसी जगह किसी सार्वजनिक संस्था को दे दें। उनके जीवन के आदर्श के लिए यही अनुकूल होगा, लोग उनसे यही आशा रखते हैं, इसी में उनका गौरव है। वह पंडाल में पहुँचे तो उनके मुख पर उल्लास की झलक न थी। वह कुछ खिसियाये से लगते थे। नेकनामी की लालसा एक ओर खींचती थी, लोभ दूसरी ओर। मन को कैसे समझाये कि यह दान नहीं, उनका हक है।" §पृ॰ 200§

प्रायः प्रेमचन्द के उपन्यासों में कई ऐसे युगल मिलते हैं जहाँ बाप आदर्शवादी है तो बेटा अवसरवादी। "मंगलसूत्र" के देवकुमार धन की उपासना नहीं करते जबकि उनका पुत्र वकील संतकुमार स्वार्थी, अवसरवादी तथा धन का पुजारी है। जिसका पता इस उद्धरण से चलता है "उनका सौंदर्य भावना से जागा

हुआ मन कभी कंचन की उपासना को जीवन का लक्ष्य न बना सका। यह नहीं कि वह धन का मूल्य जानते न हों। मगर उनके मन में यह धारणा जम गयी थी कि जिस राष्ट्र में तीन-चौथाई प्राणी भूखों मरते हों वहाँ किसी एक को बहुत-सा धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है, चाहे इसकी उसमें सामर्थ्य हो। मगर संतकुमार की लिप्सा ऐसे नैतिक आदर्शों पर हंसती थी। कभी-कभी तो निस्संकोच होकर वह यहाँ तक कह जाता था कि "जब आपको साहित्य से प्रेम था तो गृहस्थ बनने का क्या हक था। आपने अपना जीवन तो चौपट किया ही हमारा जीवन भी मिट्टी में मिला दिया।"(पृ.176) संतकुमार पिता की तुलना में इतने स्वार्थी व अवसरवादी हैं कि जिस सम्पत्ति के आने में पिता द्वारा बाधा उत्पन्न की जाने की बात पर मिस्टर सिन्हा से कहता है कि "जी चाहता है इन्हें गोली मार दूँ। मैं इन्हें अपना बाप नहीं, शत्रु समझता हूँ।" (पृ.195) संत कुमार के मित्र मिस्टर सिन्हा जितने बड़े वकील हैं उतने ही बड़े स्वार्थी व अवसरवादी हैं। वे एक खून के मुकद्दमें की पैरवी कर रहे हैं जिसमें सिविल सर्जन की रिपोर्ट अपने पक्ष में चाहते हैं अतः उनकी चापलूसी करते और उनकी भद्दी बेटी के आगे-पीछे घूमते रहते हैं ताकि यह अहसास करा दे कि वे उनकी बेटी से विवाह करने वाले हैं पर वास्तव में वे मुकद्दमा जीत कर मुँह मांगी रकम कमाना चाहते हैं। वे संतकुमार से कहते हैं "मैं एक खून के मुआमले में पैरवी कर रहा हूँ और सिविल सर्जन कामत की वह पीले मुंह वाली छोकरी आजकल मेरी प्रेमिका है। सिविल सर्जन मेरी इतनी आवभगत करते हैं कि कुछ न पूछो। उस चुड़ैल से शादी करने पर आज तक कोई राजी न हुआ। इतने मोटे ओंठ हैं और सीना तो जैसे झुका हुआ सायबान हो। फिर भी आपको दावा है कि मुझसे ज्यादा रूपवती संसार में न होगी। औरतों को अपने रूप का घमंड कैसे हो जाता है, यह मैं आज तक न समझ सका। जो रूपवान हैं वह घमण्ड करें तो वाजिब है, लेकिन जिसकी सूरत देखकर

के आये वह कैसे अपने को अप्सरा समझ लेती है। उसके पीछे-पीछे घूमते-घूमते और आशिकी करते जी तो जलता है, मगर गहरी रकम हाथ लगने वाली है, कुछ तपस्या तो करनी ही पड़ेगी।" §पृ. 185§ ऐसे ही प्रेमचंद के एक और उपन्यास "गबन" में पिता दयानन्द आदर्शवादी है तो पुत्र रिश्वतख़ोर, स्वार्थी व अवसरवादी है। दयानन्द के बारे में मुंशी प्रेमचंद लिखते हैं "मुंशी दीनदयाल की जान-पहचान के आदमियों में एक महाशय दयानाथ थे, बड़े ही सज्जन और सहृदय। कचहरी में नौकर थे और पचास रुपये वेतन पाते थे। दीन दयाल अदालत के कीड़े थे। दयानाथ को उनसे सैकड़ों ही बार काम पड़ चुका था। चाहते तो हज़ारों वसूल करते; परु कभी एक पैसे के भी खादार नहीं हुए थे। कुछ दिन दयाल के साथ ही उनका यह सलूक न था - यह उनका स्वभाव था। यह बात भी न थी कि वह बहुत ऊँचे आदर्श के आदमी हों; पर रिश्वत को हराम समझते थे। शायद इसलिए कि वह अपनी आँखों से इसके कुफल देख चुके थे। किसी को जेल जाते देखा था, किसी को संतान से हाथ धोते, किसी को कुव्यसनों के पंजे में फँसते। ऐसी उन्हें कोई मिसाल न मिलती थी जिसने रिश्वत लेकर चैन किया हो। उनकी यह दृढ़ धारणा हो गयी थी कि हराम की कमाई हराम ही में जाती है। ये बात वे कभी न भूलते।" §पृ. 20-21§ घर की आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण उनकी पत्नी उन्हें रिश्वत लेने के लिए कहती है तब वे जवाब देते हैं "जो बात जिन्दगी भर नहीं की, वह अब आखिरी वक्त नहीं कर सकता।" §पृ. 33§ इतना ही नहीं अपने पुत्र रमानाथ को नगर-निगम में नौकरी मिलने पर सीख देते हैं "जगह तो अच्छी है। ईमानदारी से काम करोगे, तो किसी अच्छे पद पर पहुँच जाओगे। मेरा यही उपदेश है कि पराये पैसे को हराम समझना।" §पृ. 62§ जब उन्हें पता चलता कि रमानाथ रिश्वत लेता है तब वे उसे समझाते हुए अपना उत्तरदायित्व निभाते कहते हैं "मैंने तुम्हारे विषय में कुछ ऐसी बातें सुनी है जिनसे मुझे बहुत खेद हुआ है और तुम्हें समझा देना मैं अपना धर्म समझता हूँ। मैं यह हरगिज़ नहीं चाहता कि मेरे घर में

हराम की एक कौडी भी आये। मुझे नौकरी करते तीस साल हो गये। चाहता, तो अब तक हज़ारों रूपये जमा कर लेता; लेकिन मैं कसम खाता हूँ कि कभी भी एक पैसा भी हराम का नहीं लिया। तुममें यह आदत कहाँ से आ गयी, यह मेरी समझ में नहीं आता।" §पृ. 73§ तब रमानाथ कहता है कि "दस्तूरी रिश्वत नहीं है, सभी लेते हैं और खुल्लम-खुल्ला लेते हैं। लोग बिना माँगे आप--ही-आप देते हैं, मैं किसी से मांगने नहीं जाता। दया-"सभी खुल्लम-खुल्ला लेते हैं और लोग बिना माँगे देते हैं, इससे तो रिश्वत की बुराई कम नहीं हो जाती। " रमा-दस्तूरी को बंद कर देना मेरे वश की बात नहीं। मैं खुद न लूं, लेकिन चपरासी और मुहर्रिर का हाथ नहीं पकड़ सकता। आठ-आठ, नौ-नौ पाने वाले नौकर अगर न लें, तो उनका काम ही नहीं चल सकता। मैं खुद न लूं, पर उन्हें नहीं रोक सकता।" §पृ. 73-74§ अपने पिता के द्वारा समझाये जाने पर भी स्वार्थी व अवसरवादी पुत्र रिश्वत लेना नहीं छोड़ता। नौकरी मिलते ही वह सोचता है "वेतन तो केवल तीस ही रूपये थे; पर जगह आमदानी की थी। उसने मन-ही-मन हिसाब लगा लिया था कि कितना मासिक बचत हो जाने से वह जालपा के लिए चन्द्रहार बनवा सकेगा।" §पृ. 58§ अपनी पत्नी के द्वारा दूसरी अच्छी नौकरी व घूस लेने की बात पूछे जाने पर कहता है "मिल तो सकती थी सौ रूपये की थी; पर यहाँ रोब है, और आराम है। पचास-साठ रूपये ऊपर से मिल जायेंगे। जालपा-"तो तुम घूस लोगे, गरीबों का गला काटोगे ? रमा ने हँस कर कहा --"नहीं प्रिये, यह जगह ऐसी नहीं कि गरीबों का गला काटना पड़े। बड़े-बड़े महाजनों से रकमें मिलेगी और वह खुशी से गले लगावेंगे। मैं जिसे चाहूँ दिन-भर दफ़्तर में खड़ा रक्खूँ। महाजनों का एक-एक मिनट एक-एक अशरफ़ी के बराबर है। जल्द-से-जल्द अपना काम कराने के लिए वे खुशामद भी करेंगे, पैसे भी देंगे।"§पृ. 59§ रिश्वत के बल पर गहने बनवाता है पर पैसे जमा न होने पर कार्यालय के पैसे से उधार चुकाता। दूसरे दिन कार्यालय में पैसे न जमा कर पाने के कारण घर छोड़कर कलकत्ता भाग जाता है। पर

अन्त में सुधर कर एक आदर्श प्रस्तुत करता है; अपनी पत्नी को सुनाते हुए कहता है "मैंने जज साहब से सारा कच्चा-चिट्ठा कह सुनाने का निश्चय कर लिया है। इसी इरादे से इस वक्त चला हूँ। मेरी वजह से इनको इतने कष्ट हुए, इसका मुझे खेद है। मेरी अक्ल पर परदा पड़ा हुआ था। स्वार्थ ने मुझे अंधा कर रक्खा था। प्राणों के मोह ने, कष्टों के भय ने बुद्धि हर ली थी। कोई ग्रह सिर पर सवार था। इनके अनुष्ठानों ने उस ग्रह को शांत कर दिया। शायद दो-चार साल के लिए सरकार की मेहमानी खानी पड़े। इसका भय नहीं। जीता रहा तो फिर भेंट होगी। नहीं मेरी बुराईयों को माफ़ करना और मुझे भूल जाना। तुम भी देवी दादा और दादी, मेरे अपराध क्षमा करना। तुम लोगों ने मरे ऊपर जो दया की है, वह मरते दम तक न भूलूँगा। अगर जीता लौटा, तो शायद तुम लोगों की सेवा कर सकूँ। मेरी तो जिन्दगी सत्यनाश हो गई। न दीन का हुआ न दुनिया का। यह भी कह देना कि उनके गहने मैंने ही चुराये थे। सराफ को देने के लिए रूपये न थे। गहने लौटाना जरूरी था। इसलिए वह कुकर्म करना पड़ा। उसी का फल आज तक भोग रहा हूँ और शायद जब तक प्राण न निकल जायेंगे - भोगता रहूँगा। अगर उसी वक्त सफाई से सारी कथा कह दी होती, तो चाहे उस वक्त उन्हें बुरा लगता, लेकिन यह विपत्ति सिर पर न आती। तुम्हें भी मैंने धोखा दिया था दादा, मैं ब्राह्मण नहीं, कायस्थ हूँ। तुम जैसे देवता से मैंने कपट किया। न जाने इसका क्या दंड मिलेगा। सब कुछ क्षमा करना। बस यही कहने आया था।"(पृ. 352-353)

आदर्शवाद और अवसरवाद के चरम धुवान्तों को जैनेन्द्र ने भी प्रस्तुत किया है। --सुनीता (जैनेन्द्र कुमार) का क्रांतिकारी दल का नेता हरिप्रसन्न की आदर्शवादिता उस समय प्रकट होती है जब श्रीकान्त उससे पूछता है कि अगर मैं न मिलता तो तुम इन पाँच आनों का क्या करने वाले थे, तथा उसे धन-दौलत कमाने के लिए कहता है तब वह कहता है "पैसे वाले क्यों बना जाय ? आप पैसे वाला होना दस और को उससे वंचित रखना है, और यदि कोई पैसे वाला बनता है, तो मेरा ख्याल है

इस कारण उसे बल्कि निम्न समझना चाहिए।लेकिन वस्तुओं की बाज़ार-दर को न मानकर मैंने अपने लिए लाचारी खड़ी कर ली है कि मैं उखड़ा रहूँ। जिनको निम्न कहा जाता है उनसे अपने को तोड़-कर मैं भद्रवर्गीय बनूं यह मुझे स्वीकार नहीं।" §पृ. 28§ इसी तरह श्रीकान्त व उसकी पत्नी सुनीता हरिप्रसन्न का विवाह सत्या से करने की अभिलाषा रखते हैं पर वह देश के लिए अपना घर बसाना नहीं चाहता। श्रीकान्त द्वारा इस बात की चर्चा चलने पर वह कहता है कि -- "नहीं-नहीं, वह जिंदगी नहीं है जिसमें चारों तरफ दीवारें खड़ी करके हम विश्व के बीचों-बीच अपना पक्का घर बनाकर अपने को कैद कर लेते हैं। विश्व के जीवित सम्पर्क में रहना होगा। आज और कल के बीच में बंद हम नहीं रहेंगे। शाश्वत को भी छुएँगे, सनातन और उन्नत को भी चखेंगे। तुमने जो बनी-बनाई राह सामने कर दी है वह हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती। हमारा मार्ग अनन्त है और वह तुम्हारी राह अपनी समाप्ति पर संतुष्ट पारिवारिक जीवन देकर हमें भुलावे में डाल देती है। मनुष्य पति और पिता बनकर अपने को बाँधता है। इस प्रकार उत्सर्ग की मुक्ति और स्वाधीन जीवन की, महिमा से वह अपने को दूर बनाता है।"§पृ. 30§ उसका यह देश प्रेम सुनीता के द्वारा विवाह कर लेने और चैन से जीवन गुजारने की बात कहने पर भी छूटता नहीं। वह सुनीता से कहता है कि "मेरे चैन की बात छोड़ो, उसे मैं भुगतूंगा। लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ, भाभी कि ब्याह को तुम क्या चीज मानती हो ? उससे आगे होकर क्या कोई कर्तव्य नहीं है ? जो हो, क्या उसमें तुम जीवन की सिद्धि समझती हो ? मैं कहना चाहता हूँ, भाभी कि तुम भूल में हो" ---तुम भूल में हो, बाहर क्या हो रहा है, मालूम है, लाखों मोहताज है, त्रस्त हैं, उनके दुःख की तौल हो सकती है ? वह दुःख घर में बैठकर कैसे मालूम हो ? वह दुःख क्या उनका ही है जिनको मिल रहा है ? क्या तुम और हम निर्दोष की भाँति अलग रह जावें ? क्या हम यह समझ लें कि उसकी आंच हमें तो लगती नहीं, तब हमें क्या ? पर यह गलत है, बाहर आँच हो तब कोठरी में अपने को मूंद लेने में बचाव नहीं होगा। आँख मूंद

लेना काफ़ी नहीं है। .... अपने से चाहता हूँ कि निकल चलूँ। इस फैले विश्व को ढ़ाढ़स दूँ, भूखे के लिए अन्न की व्यवस्था करूँ, दम्भी का दम्भ तोड़ू, संकीर्ण स्वार्थ की दीवारें जो समाज में हैं उन्हें ढ़ा न दूँ तो उनमें द्वार-खिड़कियाँ तो खोल दूँ।" §पृ.165§ और अन्ततः वह घोषणा करता है कि "जिसने मनुष्य को बाँटा है वह मेरे लिए नहीं होगा। धर्म और पाप ने मनुष्य को मनुष्यत्व से अलग किया। सभ्यता ने, समाज ने, क़ानून ने, अमीर-गरीब, शासक-शासित, कुलीन और अछूत की सृष्टि की। यह सब मेरे लिए न होगा, उन सबमें जो सत्य है मात्र वही मेरे लिए होगा। मैं किसी वर्ग का नहीं हूँ। हूँ तो निम्न वर्ग का है, श्रमी-वर्ग का हूँ। मेरा परस्पर व्यवहार किसी समाज और सम्प्रदाय की परिधि में घिरा न होगा। मैं अपनी सहानुभूति पर कोई भूगोल की सीमा न चढ़ने दूंगा। मेरा भविष्य सदा अनिश्चित होगा क्योंकि मनुष्य का निश्चय "मौत" नाम की वस्तु आ जाने पर सब रखा रह जाता है। मैं अकेला रहूँगा; क्योंकि न मैं बन्धना चाहता हूँ न बाँधना चाहता हूँ। स्नेह का बंधन ही मेरे लिए हो, क्योंकि वह बाँध कर भी खोलता है। स्नेह को औचित्य देने के लिए मेरे निकट किसी संस्था की आवश्यकता नहीं है।" §पृ.30§ ऐसे देश प्रेमी क्रान्तिकारी नेता-नायक की चिंता व देखभाल करने वाला वकील श्रीकांत भी आदर्श पात्र है। वह लाहौर से सुनीता को पत्र में निर्देश देता है कि "मैं नहीं चाहता हूँ कि वह क्षमता उसकी व्यर्थ न जाय। हमारा प्रयत्न हो कि वह समाज के लिए उपयोगी बनें।"§पृ.167§ इसी तरह उनके दूसरे उपन्यास "त्याग-पत्र" के जज प्रमोद अति आदर्शवादी है। मार्ग से भटकी बुआ के प्रति प्रेम उनके विवाह की बातचीत तोड़ देता है। जहाँ उनका विवाह निश्चित होता है वहीं उसी घर में उनकी बुआ पढ़ाती है और वे अपने भावी ससुर को बुआ के बारे में स्पष्ट बताते हुए कहते हैं कि -- "जब चलने का समय आया तब मैंने डॉक्टर साहब से मानों चुनौती के साथ कहा कि मास्टरनी मेरी बुआ है। ....मैंने उनकी सारी

बात कह सुनाई और कह दिया कि वह अच्छी तरह सोंच-समझ लें। बुआ को मैं बुआ मानता हूँ और मानूँगा।"....पर विधि-लीला। स्थिति में तनाव आया और मेरे झुकने पर भी वह न सम्भली। रिश्ता टूट गया।" (पृ. 73) अपने उपन्यासों में यथार्थवादी संस्पर्श और "गोदान" जैसे उपन्यास की क्लासिक ट्रेजिक परिणति के बावजूद प्रेमचंद मुख्यत: आदर्शवादी उपन्यासकार ही कहे जाएँगे, कारण यह है कि उनके उपन्यासों में अधिकांश चरित्र और विशेषकर बुद्धिजीवी चरित्र आदर्शवादी सिद्धान्तों के आधार पर ही चित्रित किए गए हैं। जैसे - "कर्मभूमि" का अमरकांत बहुत आदर्शवादी व स्वाभिमानी पुरुष है। धन-दौलत का भण्डार होने पर भी स्वयं मेहनत से पढ़ने का प्रयत्न करता है। उसका स्वाभिमान तब और भी उग्र हो जाता है जब उसकी पत्नी उसे सास के पैसों से पढ़ने के लिए कहती है तब वह कहता है कि "मुझे डिग्री इतनी प्यारी नहीं है कि उसके लिए ससुराल की रोटियाँ तोड़ूँ; अगर मैं अपने परिश्रम से धनोपार्जन करके पढ़ सकूँगा, तो पढ़ूँगा, नहीं कोई धन्धा देखूँगा।" (पृ. 10) जब उसे पत्नी व पिता द्वारा दुकान पर बैठने के लिए जोर दिया जाता है तब वह घर छोड़कर गाँव आ जाता है और वहाँ अछूतों के साथ रहने लगता है, उन्हें सभ्य व साक्षर बनाने के लिए पाठशाला खोलता है। और इस तरह शिक्षक, नेता बनकर समाज-सुधार का कार्य करने लगता है "कई महीने गुजर गये। गाँव में फिर मुरदा माँस न आया। आश्चर्य की बात तो यह थी कि दूसरे गाँवों के चमारों ने भी मुरदा माँस खाना छोड़ दिया। शुभ उद्योग कुछ संक्रामक होता है। अमर की शाला अब नयी इमारत में आ गई थी। शिक्षा का लोगों को कुछ ऐसा चस्का पड़ गया था कि जवान-तो-जवान, बुढ़े भी आ बैठते और कुछ-न-कुछ सीख जाते। अमर की शिक्षा-शैली आलोचनात्मक थी। अन्य देशों की सामाजिक और राजनैतिक प्रगति, नये-नये आविष्कार, नये-नये विचार, उसके मुख्य विषय थे। देश-देशान्तरों के रस्मों-रिवाजों, आचार-विचार की कथा सभी चाव से सुनते। उसे यह देखकर कभी-कभी विस्मय होता था कि ये निरक्षर लोग जटिल सामाजिक सिद्धांतों

को कितनी आसानी से समझ जाते हैं। सारे गाँव में एक नया जीवन प्रवाहित होता हुआ जान पड़ता। छुत-छात जैसे लोप हो गया था। दूसरे गाँवों की ऊँची जातियों के लोग भी अक्सर आ जाते थे।" §पृ.।।4§ अमरकान्त गाँव की गंदगी तक स्वयं साफ करने से हिचकता नहीं। और अन्त में ग्रामीणों की दयनीय आर्थिक स्थिति देखकर उन्हें लगान चुकाने से मना कर देता है तब हालात देखते हुए डिप्टी कलेक्टर सलीम को आकर अमरकांत को गिरफ्तार करना पड़ता है "दोनों आदमी आकर मोटर पर बैठे। मोटर चली, तो सलीम की आँखों में आँसू डबडबाये हुए थे। अमर ने सशंक पूछा -- मेरे साथ दगा तो नहीं कर रहे हो ? सलीम अमर के गले लिपट कर बोला - इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता न था। मैं नहीं चाहता था कि तुम्हें पुलिस के हाथों जलील किया जाय।"§पृ. 209-210§ अमरकांत की तरह डॉ. शान्ति कुमार कट्टर देश-भक्त व समाज सेवी है। वे गोपनीय रूप से स्वतन्त्रता संग्राम के कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। प्रेमचंद उनके बारे में लिखते हैं "शांति कुमार की अवस्था कोई पैंतीस की थी। गोरे-चिट्टे रूपवान आदमी थे। वेष-भूषा अँग्रेज़ी थी, और पहली नजर में अँग्रेज़ ही मालूम होते थे; क्योंकि उनकी आँखें नीली थी, और बाल भी भूरे थे। आक्सफोर्ड से डॉक्टर की उपाधि प्राप्त कर लाये थे। विवाह के कट्टर विरोधी, स्वतन्त्रता प्रेम के कट्टर भक्त, बहुत ही प्रसन्न मुख, सहृदय सेवाशील व्यक्ति थे। ...सामाजिक आन्दोलनों में खूब भाग लेते; पर गुप्त रूप से। खुले मैदान में न आते। हाँ, सामाजिक क्षेत्र में खूब गरजते थे।"§पृ.।0§ लेकिन बाद में वे खुले रूप से गरीबों के आवास के लिए किए जाने वाले आन्दोलन से स्वयं को जोड़ लेते हैं और हज़ारों-लाखों लोगों के बीच खड़े होकर सरकार के विरुद्ध हड़ताल करने की प्रेरणा देते हैं। इसी तरह सलीम भी आदर्शवादी अफसर है। वह गरीब-किसानों की दयनीय आर्थिक स्थिति को देखकर लगान वसूलने से इन्कार कर देता और अपने इस आदर्श के कारण नौकरी-डिप्टी कलक्टरी से हाथ धो बैठता

है - "गजनवी ने बहुत ऊँच-नीच सुझाया; लेकिन सलीम पर कोई असर न हुआ। उसे डंडों से लगान वसूल करना किसी तरह मंजूर न था। आखिर गजनवी ने मजबूर होकर उसकी रिपोर्ट ऊपर भेज दी, और एक ही सप्ताह के अन्दर गवर्नमेन्ट ने उसे पृथक कर दिया। ऐसे भयंकर विद्रोही पर वह कैसे विश्वास करती ?"(पृ. 238)

आलोच्य उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र का जो अब तक विश्लेषण हुआ, वह आदर्शवादी और स्वार्थी-अवसरवादी पात्रों के आधार पर पृथक-पृथक हुआ था लेकिन अब हम एक ही पात्र के चरित्र में आए दोहरेपन, दोहरी मानसिकता दोहरे मानदण्ड व दोहरी नैतिकता के द्वन्द्व को देखेंगे। इन पात्रों में एक साथ ही आदर्शवादिता और अवसरवादिता तथा स्वार्थपरता और त्यागशीलता का एक अजीब संघर्ष दिखाई देता है। "गोदान" के सम्पादक ओंकारनाथ के चरित्र में यही दोहरापन दिखाई देता है। वे राय साहब से कहते हैं कि गरीबों पर किये गए उनके अत्याचारों को समाचार पत्र में प्रकाशित कर देंगे। वे गरीबों के साथ किसी की जबरदस्ती पसंद नहीं करते और इन सताये हुए मजलूम गरीबों के पक्ष में खबरें छापना उनका कर्तव्य है पर राय साहब से पैसे लेकर इन अत्याचारों को न छापने का आश्वासन देते हैं। मजे की बात यह है कि उनको अपने स्वार्थी व अवसरवादी होने का बोध है। वे अपनी पत्नी से कहते हैं कि "एक इनके ठीक हो जाने से तो देश से अन्याय मिटा जाता नहीं, फिर क्यों न इस दान को स्वीकार कर लूँ ? मैं अपने आदर्श से गिर गया हूँ जरूर; लेकिन इतने पर भी राय साहब ने दगा की, तो मैं भी शठता पर उतर आऊँगा। जो गरीबों को लूटता है, उसको लूटने के लिए अपनी आत्मा को बहुत समझाना न पड़ेगा।"(पृ. 18) यही दोहरापन, दोहरी मानसिकता राय साहब (जो लेखक भी हैं) में दिखाई देती है जिसे निम्न उद्धरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। राय साहब, मेहता से कहते हैं कि "मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि किसी को भी दूसरे के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। कर्म करना प्राणिमात्र का धर्म है। समाज की ऐसी

व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसे और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती। पूंजी और शिक्षा, जिसे मैं पूंजी ही का एक रूप समझता हूँ, इनका किला कितनी जल्दी टूट जाये, उतना ही अच्छा है। जिन्हें पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उनके अफसर और नियोजक दस-दस, पाँच-पाँच हज़ार फटकारें, यह हास्यास्पद है और लज्जास्पद भी।" (पृ. 56) लेकिन अवसर मिलते ही राय साहब अपने सारे आदर्श ताक पर रख देते हैं, जैसे ही उन्हें पता चलता कि "होरी" से महाजन आदि जुर्माना वसूल किये हैं तब वे अपना हिस्सा माँगते हुए नोखेराम से कहते हैं कि "मैं कहे देता हूँ, आज शाम तक जुरमाने की पूरी रकम मेरे पास पहुँच जाए, वरना बुरा होगा। मैं एक-एक से चक्की पिसवाकर छोड़ूँगा।"(पृ. 173) बड़े-बड़े आदर्श की बातें करने वाले राय साहब थोड़े से धन के कारण उपजीवी बनने पर लज्जा का अनुभव नहीं करते। "परख" के वकील "सत्यधन"की भी ऐसी ही स्थिति है। वह अपनी सहपाठी बाल-विधवा कद्दटो के विवाह के बाद ही अपना विवाह करना चाहता है। वह सोचता है "क्या दुनिया के प्रति हम निश्चिन्तों का कोई कर्तव्य नहीं है ? क्या संसार का सारा सुख हथिया लेना अन्याय नहीं है, उनके प्रति जिन्हें जिसका कण भी नहीं मिल पाया है ? और कुछ नहीं तो उनके खातिर क्या हम अपना सुख कम नहीं कर सकते ? कद्दटो को इसी तरह रहने देकर मैं खुद कैसे विलासगर्त में डूब सकता हूँ ?" (पृ. 38) अतः वह गरिमा के पिताजी से कहता है कि "एक बात है, पिताजी गाँव में एक लड़की है। मेरे साथ-साथ पढ़ी है। उसका कुछ ठीक हो जाये तो मैं शादी करूँ। मैं तो इधर यों विलास में पड़ जाऊँ, और वह मेरे घर के पास झुरती-झुरती रहे, - न, यह मुझसे न होगा।"(पृ. 41) इसलिए वह कद्दटो का विवाह अपने मित्र बिहारी से करना चाहता है पर परिस्थितिवश उन दोनों में प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब सत्यधन कद्दटो से कहता है कि "जाने दो सब बात। मैंने तुम्हें बहुत दुःख पहुँचाया। अब उसका प्रतिकार करूँगा।"(पृ. 52) इस तरह विवाह की मौन स्वीकृति दे देता है पर बाद में अपने

घर-परिवार, स्वयं की बदनामी मां, हैसियत, गरिमा आदि के बारे में सोचता है जिससे उसकी दोहरी मानसिकता का पता चलता है" ...आखिर मैंने क्या कहा ? यही कि वह मुझे स्वीकार करती है या नहीं। वह रो पड़ी, स्वीकार करती है। पर उसने ऐसा कहा तो नहीं ! ...तो क्या मैं उसे अपनाऊँगा ? क्या अपनाना होगा ? सब सोचकर देखा, बात कुछ ऐसी ही-सी प्रतीत होती है। तब बहुत-सी बातें बढ़-चढ़कर विरोध में खड़ी होने लगी। बाबू जी, गरिमा । ...बाबू जी भी कुछ नहीं, और गरिमा-गरिमा भी, खैर देखा जायगा। लेकिन-लेकिन। इस बहुत बड़े "लेकिन" में कई बातें थीं, ---यह कैसी अजीब-सी बात होगी। लोग क्या कहेंगे ? बिरादरी और गाँव में क्या हैसियत रह जाएगी ? यह सब होगा कैसे ? और - कट्टो की माँ ! --फिर, फिर मेरी माँ।....माँ यह कभी नहीं होने देगी। सुनेगी तो मर जायेगी। थोड़ी-सी बातों पर वह जिन्दा रहती है। लड़के को इतनी तो छूट दी, पर यह अधर्म नहीं होने देगी। इसमें शक नहीं। मौत से जब वह कुछ वर्षों के अन्तर पर ही रह गई है तो क्या मैं ही उसकी बची-खुची जिन्दगी के ये बरस छीन लूँ और उसे अपने ही हाथ से मौत के मुँह में धकेल दूँ ?" (पृ. 52-55-56)....एक ओर अपनी बात की रक्षा है और बेचारी कट्टो की रक्षा है। दूसरी ओर अपनी हैसियत की, अपनी माँ की अपने सब कुछकी रक्षा का खयाल है। और कट्टो, क्या सचमुच आवश्यक रूप में उसके ही द्वारा रक्षणीया है ?"(पृ. 63) सत्यधन की इस दोहरी मानसिकता पर बिहारी उससे स्पष्ट शब्दों में कहता है कि "मैं तो कहूँगा कि तुम आत्म-प्रवंचन करते हो, और उसके साथ चलने वाली जो आत्मग्लानि है उसे अपनी माँ और बापूजी और गरिमा की ओट बैठकर बचा जाना चाहते हो। सो नहीं होगा सत्य।"(पृ. 67-68) लेकिन सत्यधन पर बिहारी के समझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह गरिमा के पिताजी का पत्र पाकर पूरा स्वार्थी व अवसरवादी

बन जाता है "कट्टो को वह प्यार करता था, -यह वह अब मान लेने को तैयार है। इस प्रेम के ही कारण वह उसकी रक्षा करना चाहता था और अपनी बना लेना चाहता था। जहाँ यह "अपनी" बना लेने की कामना है — वह प्रेम उपादेय नहीं है। अब इसमें सत्य को संशय नहीं रहा। फिर दूसरी भी तो बात है। प्रेम जीवन को बहलाने की वस्तु तो बन सकती है, लेकिन जीवन उसके लिए स्वाहा नहीं किया जा सकता। जीवन तो दायित्व है, और विवाह वास्तव में उसकी पूर्णता की राह-उसकी शर्त। इस दायित्व से एक ख्याल, एक भावना में बहकर कैसे छुट्टी पाई जा सकती है। प्रेम को इस दायित्वपूर्ण विवाह की बात में कैसे दखल देने दिया जाय ? जीवन प्रेम से ज्यादे महत्व की - ज्यादे ऊँची और पवित्र चीज है। प्रेम, जो अन्त में केवल एक आवेग, एक भाव है, उस पर जीवन कैसे निछावर कर दिया जाय ? वकील साहब की यह बात (विवाह सामाजिक - पारिवारिक उत्तरदायित्व है) उसे स्पष्ट अमिट सत्य की नाईं लग रही है। मानों वह जिस आधारभूत जीवन सिद्धांत पर पहुँचने का अब तक प्रयत्न कर रहा था, वह जगह जहाँ पैर टिके और जहाँ पक्की नींव बांधकर, जीवन खड़ा किया जा सके, — वह मानों उसे मिल गया। अब उसके बारे में भूल नहीं करेगा। अब उसे साफ दीख रहा है - अब तक जिन बातों को ठीक समझकर वह अपने से चिपटता था, वह कोरे शब्द थे, — कोरे भाव । उस पर दुनियाँ नहीं टिक रही है। जो वकील साहब ने लिखा — वह है जिसको केन्द्र मानकर दुनिया चल रही है और व्यक्ति को चलना चाहिए। जीवन एक दायित्व है -- कैसी सुन्दर बात है, कैसी सही कैसी शुभ लगती है। और वह दायित्व है किसके प्रति ?

संसार के प्रति, समाज के प्रति, समाज संसार की उन्नति के प्रति" (पृ. 86-88)

वह बिहारी से कहता है "बिहारी तुम यह नहीं समझते, इसमें मेरा क्या दोष ? अपने को टटोलता हूँ, तो देखता हूँ कि कट्टो की ओर मैं उस भाव से खिंच रहा हूँ जिसे प्यार कहा जाता है। यह प्रेम एक भावावेग है, और भाव पैदा होने और

मिटने के लिए होता है। अर्थात् यह क्षण स्थायी है। अब विवाह एक टिकने वाला सत्य, दायित्व का अंश है। प्रेम को उसमें दखल देने देना ठीक नहीं होगा।" .... लेकिन मैं क्या करूँ। प्रेम में जहाँ कब्जे की इच्छा है वहाँ मैल भी है। क्या इस मैल का काबू स्वीकार करूँ ?"....जिस बात को मानकर दुनिया खड़ी है, जिस दुनियाँ की कीली को हम और तुम नहीं बदल सकते, उसको हिलाने की कोशिश करने के बजाय हम मजबूत करने में सचेष्ट हों तो ज्यादे कार्यकर हो सकते हैं। और वह आधार भूत तत्व की बात यह है कि कोई नितांत स्वतन्त्र नहीं, सब ही उत्तरदायित्वों में बंधे हुए हैं। उन्हीं में उनका मोक्ष है। ...."बिहारी, बापूजी की जो इच्छा है, माँ जिसके लिए कब से जोर दे रही है, जिसमें तुम और गरिमा भी शायद हृदय से सहमत हो, — उसे मैं नहीं टालूँगा। बड़ों की बात मानूंगा, — उनका आशीर्वाद खो न सकूँगा।" §पृ. 88-89§ इस तरह सत्यधन आदर्श को छोड़कर स्वार्थ का पल्ला पकड़ लेते हैं। "मंगलसूत्र" के साहित्यकार देवकुमार के चरित्र में आदर्श और अवसर, स्वार्थ और त्याग का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। देवकुमार में इन तत्वों का द्वन्द्व निरन्तर चलते रहता है। उनकी इस दोहरी नैतिकता व मानसिकता को निम्न उद्धरणों से देखा जा सकता है। उनके द्वारा रास्ते में बेची गई ज़मीन कुछ वर्षों बाद लाखों की बन जाती है। देवकुमार का लड़का संतकुमार उस ज़मीन पर पुनः कब्जा करना चाहता है इसीलिए अदालत में दावा करने के लिए उनकी अनुमति मांगता है तब "देवकुमार को एक क्षण तक तो अपने कानों पर विश्वास न हुआ। उन्होंने स्वच्छंद, निर्भीक, निष्कपट जिन्दगी व्यतीत की थी। कलाकारों में एक प्रकार का जो आत्माभिमान होता है उसने सदैव उनको ढ़ाढ़स दिया था। उन्होंने तकलीफें उठायी, फांके भी किये थे, अपमान सहे थे लेकिन कभी भी अपनी आत्मा को कलुषित न किया था जिन्दगी में कभी अदालत के द्वार तक भी नहीं गए थे। वे बोले — मुझे खेद होता है तुम मुझसे यह प्रस्ताव कैसे कर सके। और इससे ज्यादा दुःख इस बात का है कि ऐसी कुटिल चाल तुम्हारे मन में आयी क्यों कर। ....वह दो लाख ही नहीं, दस लाख की हो। मेरे लिए वह आत्मा को बेचने का प्रश्न है। मैं थोड़े से रुपये के लिए अपनी

आत्मा नहीं बेच कसता। ... मैं सत्य की हत्या होते नहीं देख सकता।.... मेरे जीते-जी यह धांधली नहीं हो सकती। हर्गिज नहीं। मैंने जो कुछ किया सोच-समझकर और परिस्थियों के दबाव से किया। मुझे उसका बिल्कुल अफसोस नहीं। अगर तुमने इस तरह का कोई दावा किया तो उसका सबसे बड़ा विरोध मेरी ओर से होगा, मैं कहे देता हूँ।" §पृ.192-193§ काश ऐसा होता, पर उनकी आत्मा बिक गई, सत्य की हत्या उन्हीं के द्वारा हो गयी "एक दिन उन्होंने सेठ गिरधारी दास के पास जाकर साफ-साफ कह दिया — अगर आप मेरी जायदाद वापस न करेंगे तो मेरे लड़के आपके ऊपर दावा करेंगे। उल्टा वे ही संत कुमार से पूछते हैं ...." -तुम लोगों ने अभी तक मुकद्दमा दायर नहीं किया। नाहक क्यों देर कर रहे हो ?" संत कुमार के कहने पर कि आपकी अनुमति का इन्तजार था तब वे कहते हैं --- "मैं बड़ी खुशी से अनुमति देता हूँ। मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।" §पृ.198§ लेकिन मुकद्दमा दायर करने के लिए पैसे नहीं थे। अवसर पड़ने पर वही देवकुमार जिसने कभी धन की उपासना न की थी, धन के लिए कभी किसी के सामने नहीं झुके थे अब अपने भक्तों से सहायता की याचना करने लगे --"उनके भक्तों की काफी तादाद थी। दो-चार राजे भी उनके भक्तों में से थे जिनकी यह पुरानी लालसा थी कि देवकुमार जी उनके घर को अपने चरणों से पवित्र करें और वह अपनी श्रद्धा उनके चरणों में अपर्ण करें। मगर देवकुमार थे कि कभी किसी दरबार में कदम नहीं रखा, अब अपने प्रेमियों और भक्तों से आर्थिक संकट का रोना रो रहे थे। वह आत्म-गौरव जैसे किसी कब्र में सो गया हो।"§पृ.199§ एक भक्त का प्रस्ताव पारित होता है कि देवकुमार की साठवीं वर्षगांठ पर उन्हें साहित्य-प्रेमियों की ओर से धन की थैली भेंट की जाय। निम्न उद्धरण में उनके अन्तर्द्वन्द तथा दोहरी नैतिकता का सुन्दर चित्रण किया गया है-- "उनका जीवन बौद्धिक था, और बुद्धि जो कुछ करती है नीति पर कसकर करती है। नीति का सहारा मिल जाय तो फिर वह दुनिया की परवाह नहीं करती। वह पहुँचे

तो स्वागत हुआ, मंगल-गान हुआ, व्याख्यान होने लगे जिनमें उनकी कीर्ति गायी गयी। मगर उनकी दशा उस आदमी की-सी हो रही थी जिसके सिर में दर्द हो रहा हो। उन्हें इस वक्त इस दर्द की दवा चाहिए। कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। सभी विद्वान हैं, मगर उनकी आलोचना कितनी उथली, ऊपरी है जैसे कोई उनके संदेशों को समझा ही नहीं, जैसे यह सारी वाह-वाह और सारा यशगान अंध-भक्ति के सिवा और कुछ न था। कोई भी उन्हें नहीं समझा, किस प्रेरणा ने चालीस साल तक उन्हें संभाले रखा, वह कौन-सा प्रकाश था जिसकी ज्योति कभी मंद नहीं हुई।

सहसा उन्हें एक आश्रय मिल गया और उनके विचारशील पीले मुख पर हल्की-सी सुर्खी दौड़ गयी। यह दान नहीं प्राविडेन्ट फंड है जो आज तक उनकी आमदनी से कटता जा रहा है। सरकार की नौकरी में लोग पेन्शन पाते हैं, क्या वह दान है ? उन्होंने जनता की सेवा की है, तन-मन से की है, इस धुन से की है, जो बड़े-से-बड़े वेतन से भी न आ सकती थी। पेंशन लेने में क्यों लाज आये ?

राजा साहब ने जब थैली भेंट की तो देवकुमार के मुँह पर गर्व था, हर्ष था, विजय थी।"(पृ. 200) इस तरह वे अपनी स्वार्थपरता व अवसरवादिता को बौद्धिक नीति का सहारा देकर गर्व से भर उठते हैं। इसी प्रकार "गोदान" के मैनेजर खन्ना की दोहरी नैतिकता व मानसिकता का वर्णन प्रेमचंद इस प्रकार करते हैं--"अन्य कितने ही प्राणियों की भाँति खन्ना का जीवन भी दोहरा या दोरुखी था। एक ओर त्याग और जन-सेवा और उपकार के भक्त थे तो दूसरी ओर स्वार्थ और विलास और प्रभुता के। कौन उसका असली रूप था, यह कहना कठिन है। कदाचित उनकी आत्मा का उत्तम सेवा और सहृदयता से बना हुआ था, मद्धिम आधा स्वार्थ और विलास से। पर उत्तम और मद्धिम में बराबर संघर्ष होता रहता था और मद्धिम ही अपनी उद्दण्डता और हठ के कारण सौम्य और शान्त उत्तम पर गालिब आता था।" (पृ. 294) ऐसी स्थिति सिर्फ खन्ना की ही नहीं है बल्कि आलोच्य उपन्यासों के सभी

बुद्धिजीवियों की है। चाहे वह "गोदान" का ओंकारनाथ हो या "परख" का सत्यधन हो अथवा "मंगल सूत्र" का देवकुमार। निष्कर्षतः हम इन बुद्धिजीवियों के आदर्श के सम्बन्ध में जैनेन्द्र के शब्दों (परख-लेखकीय) में कह सकते हैं कि "बौद्धिक आदर्शवाद कभी कृतकार्य नहीं होता। उसका अन्त प्रतिक्रिया में होता है।" और हमेशा जीत होती है स्वार्थपरता की, अवसरवाद की तथा धन की। इस जीत के कई कारण है जैसे बेकारी, दरिद्रता आदि पर मुख्य कारण है आज की शिक्षा का व्यावसायीकृत हो जाना। शिक्षा के व्यावसायीकरण का क्रम उसी समय से शुरू हो गया था। प्रेमचन्द "कर्मभूमि" में लिखते हैं कि "हमारे स्कूलों और कॉलिजों में जिस तत्परता से फ़ीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। महीने में एक दिन नियत कर दिया जाता है। उस दिन फ़ीस का दाख़िला होना अनिवार्य है। या तो फ़ीस दीजिए, या नाम कटवाइए, या जब तक फ़ीस न दाखिल हो, रोज कुछ जुर्माना दीजिए। कहीं-कहीं ऐसा भी नियम है कि उसी दिन फ़ीस दुगुनी कर दी जाती है, और किसी दूसरी तारीख को दुगुनी फ़ीस न दी तो नाम कट जाता है। काशी के क्वींस कॉलिज में यही नियम था। सातवीं तारीख को फ़ीस न दो, तो इक्कीसवीं तारीख को दुगुनी फीस देनी पड़ती थी, या नाम कट जाता था। ऐसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था, कि गरीबों के लड़के स्कूल छोड़कर भाग जाएँ। वही हृदयहीन दफ्तरी शासन, जो अन्य विभागों में हैं, हमारे शिक्षालयों में भी है। वह किसी के साथ रिआयत नहीं करता। चाहें जहाँ से लाओ, कर्ज़ लो, गहने गिरो रखो, लोटा-थाली बेचो, चोरी करो; मगर फीस जरूर दो, नहीं दूनी फ़ीस देनी पड़ेगी या नाम कट जाएगा। ज़मीन और जायदाद के कर वसूल करने में भी कुछ रिआयत की जाती है। हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने ही नहीं दिया जाता। वहाँ स्थायी रूप से मार्शल-लॉ का व्यवहार होता है। कचहरी में पैसे का राज है, हमारे

स्कूलों में भी पैसे का राज हैं, उससे कहीं कठोर, कहीं निर्दय। देर में आइए तो जुर्माना; सबक याद न हो तो जुर्माना; किताबें न खरीद सकिए तो जुर्माना; कोई अपराध हो जाए तो जुर्माना; शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है। यही हमारी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफों के पुल बाँधे जाते हैं। यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेच देने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या है ?"(पृ.।)

स्पष्ट है कि ऐसी शिक्षा जिस विराट व्यवस्था का अंग है वहाँ के चरित्र भी "गोदान" के खन्ना के समान ही होंगे जो आत्मीय सम्बन्धों को भी रुपये के आगे तुच्छ समझते हैं। राय साहब द्वारा बैंक से पैसे दिलाने की बात पर खन्ना उनके अंतरंग मित्र होने के बावजूद कहते हैं कि "बैंक ने एक तरह से लेन-देन का काम बन्द कर दिया है। मैं कोशिश करूँगा कि आपके साथ खास रिआयत की जाय; लेकिन बिजनेस इज़ बिजनेस यह आप जानते हैं। पर मेरा क्या कमीशन रहेगा ?....मैंने भी सदैव आपको बड़ा भाई समझा है और अब भी समझता हूँ। कभी आपसे कोई पर्दा नहीं रखा लेकिन व्यापार एक दूसरा क्षेत्र है। यहाँ कोई किसी का दोस्त नहीं, कोई किसी का भाई नहीं। जिस तरह मैं भाई के नाते आपसे यह नहीं कह सकता कि मुझे दूसरों से ज्यादा कमीशन दीजिए, उसी तरह आपको भी मेरे कमीशन में रिआयत के लिए आग्रह न करना चाहिए।" (पृ. 240)

आलोच्य उपन्यासों में प्रगतिशील विचारों वाले बुद्धिजीवी पात्रों का भी चित्रण हुआ है जो परम्परा का विरोध करते हैं, प्राचीन सड़े-गले प्रथाओं-रीतियों को नहीं मानते और उनके स्थान पर कुछ नए महत्तर मूल्य स्थापित करते हैं। जैसे "आत्मदाह" (आचार्य चतुरसेन) का साहित्यकार सुधीन्द्र जात-पात के बन्धनों को नहीं मानता। गाँव में पहुँचने पर वृद्ध के "ब्राह्मण है क्या ?" पूछने

पर कहता है "नहीं, यों तो जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ है, परन्तु आप क्षमा कीजिए, मैं जाति-बंधन का कायल नहीं हूँ।" आगे कहता है "मनुष्य ही हमारी जाति है। शास्त्र कहते हैं — "समान प्रसवात्मिका जातिः" जिनका रीति से प्रसव हो, वही एक जाति है। मनुष्य-मात्र की इससे एक जाति होनी चाहिए।"....प्रजा को वर्ण संकर होना ही चाहिए। इससे बड़ा लाभ है — नस्ल उन्नत होती है, सार्वभौम भ्रातृ-भाव उत्पन्न होता है, जिसके बिना समाज में कभी चैन नहीं पड़ सकता"....मेरा तो कहना है, एशिया और यूरोप के मनुष्यों में खुल्लमखुल्ला रोटी-बेटी के संबंध जारी हो जाएं। जिन जातियों का विस्तार कम है, उनमें अति निकट विवाह-संबंध होते हैं। उन जातियों में बड़ी तेज़ी से स्वास्थ्य तथा नस्ल गिर जाती है। क्या आप इस बात पर नहीं विचार कर सकते कि जब पशु-पक्षी और वनस्पतियों में गैर नस्ल की कलम देने से उसकी नस्ल उत्कृष्ट हो जाती है, तब मनुष्यों की नस्ल इससे क्यों न सुधरेगी ?"...."जब तक यह (जाति बंधन) नहीं टूटते, हिन्दू जीवन नहीं पा सकते। वे संसार के मनुष्यों से सच्चा सहयोग भी नहीं पा सकते।"(पृ. 82-83-84) वे "भोजन बना चुकने पर तीनों जनें खाने बैठे। वहाँ कुछ भेद-भाव न था। छुआछूत भी न थी।" (पृ. 89) "परख" का बिहारी बाल विधवा कट्टो से विवाह करता है "कट्टो का बायाँ हाथ बढ़ा, बिहारी का दायाँ। दोनों एक में गुंथ गये। "हम दोनों एकाकी यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बंधते हैं। हम एक होंगे ...एक प्राण-दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।" कट्टो ने कहा। बिहारी ने दोहरा दिया। "हम दोनों एकाकी यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बंधते हैं।" हम एक होंगे, - एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।" बिहारी ने दोहरा दिया। ...."यह महाशून्य साक्षी हो, हम कट्टो बिहारी सदा एक-दूसरे के प्रति कट्टो-बिहारी रहेंगे। न कम, न अधिक।"(पृ. 96-97) और वे हमेशा अलग-अलग हो जाते हैं ताकि समाज-सेवा कर सके। इसी समाज-सेवा के

कारण "गोदान" की मालती और मेहता परिणय-सूत्र में नहीं बंधते बल्कि परम्परा का विवाह प्रथा का विरोध कर आजीवन "मित्र" बनकर रहना चाहते हैं। मालती, मेहता से कहती है — "मैंने यह तय किया है कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझ पर विश्वास करते हो, और मुझे भरोसा है कि आप अवसर आ पड़े तो तुम मेरी रक्षा प्राणों से करोगे। तुममें मैंने अपना पथ-प्रदर्शक ही नहीं, अपना रक्षक भी पाया है। मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ, तुम पर विश्वास करती हूँ, और तुम्हारे लिए कोई ऐसा त्याग नहीं है, जो मैं न कर सकूँ। और परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना है कि जीवन-पर्यन्त मुझे इसी मार्ग पर दृढ़ रखे। हमारी पूर्णता के लिए, हमारी आत्मा के विकास के लिए, और क्या चाहिए?"....यह भी जानती हूँ कि पूर्णता के लिए पारिवारिक प्रेम और त्याग और बलिदान का बहुत बड़ा महत्व है; लेकिन मैं अपनी आत्मा को दृढ़ नहीं पाती। जब तक ममत्व नहीं है, अपनत्व नहीं है, तब तक जीवन को मोह नहीं है, स्वार्थ का ज़ोर नहीं है। जिस दिन मन मोह में आसक्त हुआ और हम बन्धन में पड़े, उस क्षण हमारा मानवता का क्षेत्र सिकुड़ जायेगा, नयी-नयी जिम्मेदारियाँ आ जायेंगी और हमारी सारी शक्ति उन्हीं को पूरा करने में लगने लगेगी। तुम्हारे जैसे विचारवान, प्रतिभाशाली मनुष्य की आत्मा को मैं इस कारागार में बन्दी नहीं करना चाहती। अभी तक तुम्हारा जीवन यज्ञ था, जिसमें स्वार्थ के लिए बहुत थोड़ा स्थान था। मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी। संसार को तुम- जैसे साधकों की जरूरत है, जो अपनेपन को इतना फैला दें कि सारा संसार अपना हो जाये। संसार में अन्याय की, आतंक की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्धविश्वास का, कपट-धर्म का, स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने वह आर्त-पुकार सुनी है। तुम भी न सुनोगे तो सुनने वाले कहाँ से आयेंगे? और असत्य प्राणियों की तरह तुम भी उसकी ओर से अपने कान नहीं बन्द कर सकते। तुम्हें वह भोजन भार हो जायेगा। अपनी

विद्या और बुद्धि को, अपनी जागी हुई मानवता को और भी उत्साह और ज़ोर के साथ उसी रास्ते पर ले जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगी। अपने जीवन के साथ मेरा जीवन भी सार्थक कर दो।"(पृ. 349-350)

निष्कर्ष

आलोच्य उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग के प्रस्तुतीकरण में आदर्श और यथार्थ, प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियावाद तथा परमार्थ और स्वार्थ के परस्पर विरोधी आयाम दिखाई देते हैं। यह अन्तर्विरोध वास्तव में भारतीय जीवन में उभर रही तात्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का अन्तर्विरोध है जिसकी ओर प्रस्तुत प्रबन्ध के आरम्भिक अध्याय में संकेत किया गया है। लक्ष्य करने की बात यह है कि स्वातन्त्र्य-पूर्व उपन्यासकारों ने न केवल अपने समय में अस्तित्व पा रही इस व्यवस्था के मनुष्य-विरोधी रूप को पहचाना और उसे अपनी रचनाओं में उतारा बल्कि अपने चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में उन सूत्रों की ओर संकेत किया है जो चरित्रों की प्रस्तुत परिणति के लिए उत्तरदायी है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन उपन्यास-कारों ने अपने पात्रों के चरित्र-विकास के लिए उनको स्वयं को कम और परिस्थितियों को अधिक उत्तरदायी ठहराया है साथ ही वे यह भी बताते हैं कि बुद्धिजीवी पात्र अपने आत्मबल से अपने पतन के कारणों पर विजय पा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के उपन्यास "कायाकल्प" में चक्रधर जब ग्रामिणों पर अपनी गाड़ी को धक्का न देने के कारण बिगड़ते हैं और उन्हें मारने दौड़ते हैं तब उन्हीं में से एक अपने पुराने जेल-जीवन के साथी द्वारा फटकारे जाने पर लज्जित होकर सोचते हैं कि धन और विलासपूर्ण जीवन ने उन्हें कितना बदल दिया है कि जिस जीवन-शैली का वे कुछ वर्षों पूर्व तक विरोध किया करते थे अब उसी का शिकार हो गये हैं। प्रेमचंद ने "कायाकल्प" उपन्यास में विशेषकर यह बताया है कि अमीरी मनुष्य का कायाकल्प कर देती है,

वह उसे स्वार्थी और विलासी बनाती है किन्तु जब मनुष्य अपनी लोभवृत्ति पर विजय पा लेता है तब उसे सत्-मार्ग से हटाने की क्षमता किसी में नहीं होती। इसी प्रकार अपने पूर्ववर्ती उपन्यास "सेवासदन" में प्रेमचन्द ने ऐसे सफेदपोश नेताओं, समाज-सेवकों, वकीलों और जनता की सेवा का दम्भ भरने वाले शिक्षित वर्ग की पोल खोली है जो अपनी विलासाकांक्षा की पूर्ति के लिए वेश्यावृत्ति को बन्द नहीं होने देना चाहते। इस प्रकार उन उपन्यासकारों ने उन सभी कारणों की बारीकी से छानबीन की है जो शिक्षित वर्ग को पतन या उत्थान की ओर ले जाते हैं। इन औपन्यासिक पात्रों और पहले के अध्यायों में विवेचित तात्कालीन पारिस्थितिक पृष्ठभूमि को मिलाकर देखने से एक बात स्पष्ट होती है कि ये पात्र अपनी परिस्थितियों के अनुरूप ही विविधवर्गी चरित्र है। आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत का बुद्धिजीवी अपने पूर्ववर्ती चरित्रों की तुलना में अधिक जटिल, दारुण और बहुस्तरीय संघर्ष से गुजर रहा है इसीलिए स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों के बुद्धिजीवी पात्र अधिक विषम स्तरीय और गहन चरित्र प्रस्तुत करते हैं।

o
o o
o

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

चतुर्थ अध्याय

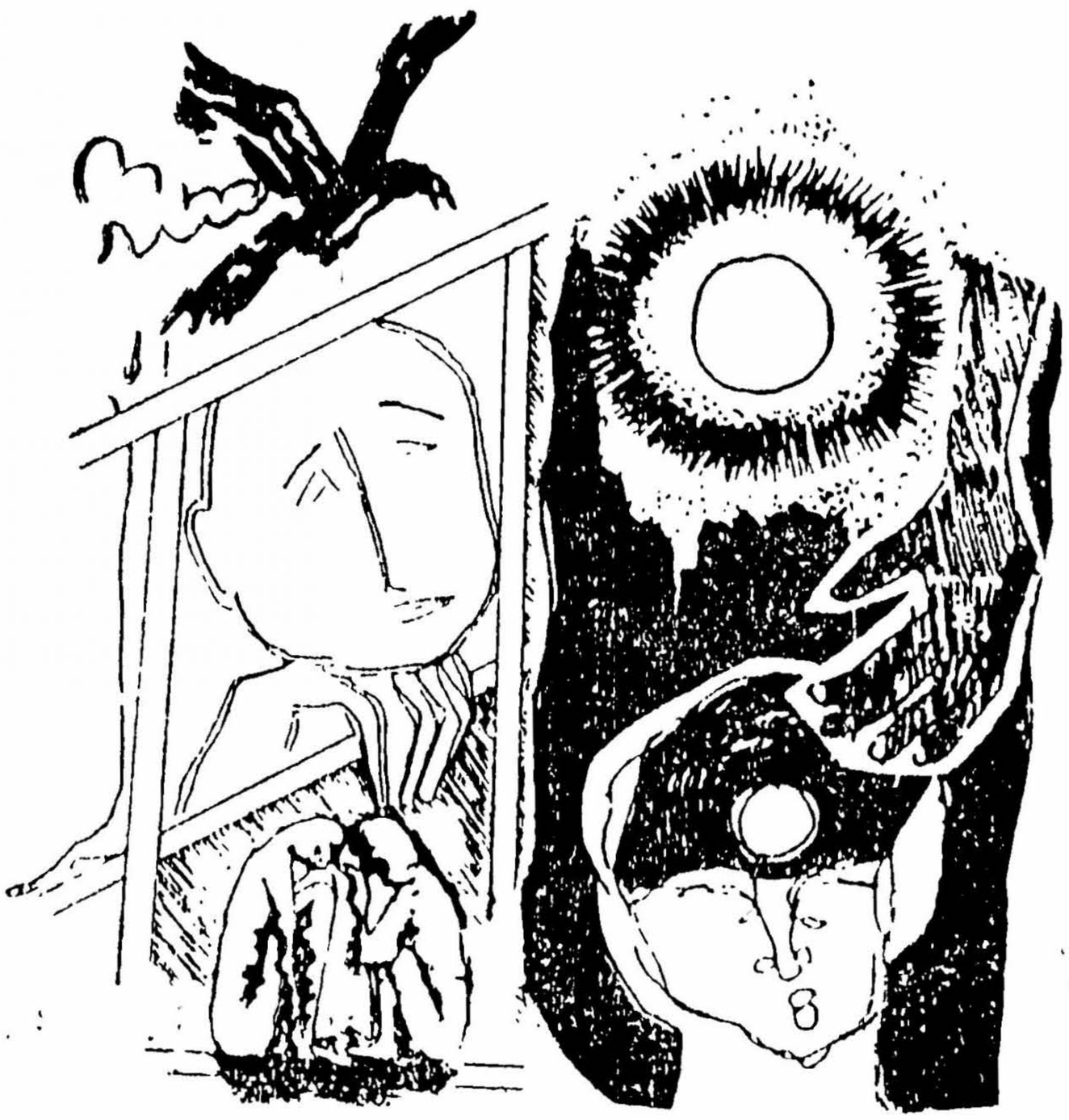

चतुर्थ अध्याय

4 स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण : व्यावसायीकरण के परिप्रेक्ष्य में

4.1 व्यावसायीकरण, आर्थिक दबाव और बुद्धिजीवी वर्ग

4.2 महत्वाकांक्षा और सफ़लता की अंधी दौड़

4.3 शोषक और शोषित की दोहरी भूमिका

4.4 दोहरी नैतिकता और दोहरे मानदण्ड

o
o o
o

चतुर्थ अध्याय

४. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण : व्यावसायीकरण के परिप्रेक्ष्य में

४.१ व्यावसायीकरण, आर्थिक दबाव और बुद्धिजीवी वर्ग

लेखन तथा शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यावसायीकरण का प्रवेश होने के फलस्वरूप बुद्धिजीवी वर्ग में "व्यावसायिक दृष्टिकोण" अथवा "व्यावसायिक भावना" का विकास होता जा रहा है। इसके हमें दो स्तर दिखाई पड़ते हैं -- एक तो विशुद्ध व्यावसायीकरण - इसमें आर्थिक रूप से समर्थ होने पर भी ऐसे बुद्धिजीवी आते हैं जिन्होंने आर्थिक रूप से समर्थ होने पर भी बौद्धिक कार्य को "व्यवसाय" का रूप दे दिया है। दूसरे स्तर पर ऐसे बुद्धिजीवी आते हैं जो आर्थिक रूप से परेशान हैं अतः वे जनता की रुचि के अनुसार साहित्य रचते हैं; अनुवाद या प्रूफ़ रीडिंग का कार्य करते हैं, ट्यूशन पढ़ाते हैं इत्यादि।

"लेकिन दरवाजा" का नायक नीलांबर जिम्मेदार साहित्यकार होने पर भी (आर्थिक रूप से समर्थ) विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण के तहत मास के लिए उनकी रुचि अनुसार पॉकेट बुक्स के लिए छद्म नाम से सीरिज़ ही नहीं लिखता बल्कि अपनी पत्नी के नाम से एक नाटक भी लिखता है और उसका मंचन भी होता है जिसका पता हमें "देवेन" के इस उद्धरण से चलता है "यानी यह अफ़वाह सच थी कि सुरुचि पॉकेट बुक्स की "इंस्पैक्टर इन्द्रजीत" सीरिज़ का "घोस्ट राइटर" नीलांबर ही था।...यद्यपि मैंने कभी भी नीलांबर से स्पष्टीकरण

नहीं मांगा, पर मुझे यह विश्वास ही नहीं हुआ कि पंजाबी नाटक "चढ़ी जवानी बुड्ढे नूँ" की तर्ज पर, हिन्दी दर्शकों की कमज़ोरियों को मद्दे नज़र रखते हुए लिखा गया नाटक "पहले यार फिर घर बार" सुमन का लिखा हुआ है।" §पृ. 187§ इतना ही नहीं जब उसे "देवेन" द्वारा उपन्यास लिखे जाने का पता चलता है तो उसकी व्यावसायिक बुद्धि उसे सलाह देती है कि "उपन्यास तो लिखा ही जाएगा। पहले कहीं सीरियलाइज़ेशन की बात तय करो, तब बढ़ना आगे।" §पृ. 153§ आज का युग पब्लिसिटी का है और इसी कारण नीलांबर खुद ऐसे उपन्यास लिखता है जिसमें उसके अनुसार "रिडेबिलिटी" है जबकि देवेन के अपने विचार में यह "वल्गेरिटी" है। इस तरह साहित्य आज एक व्यवसाय बनकर रह गया है जैसा कि देवेन स्वीकार करता है " दिल्ली आने के कुछ ही दिनों बाद एक बात मेरी समझ में आ गयी थी कि ..."जिन लोगों को रोटी कमानी है उसके लिए हर काम पेशा ही तो है, फिर चाहे वह राजनीति हो, साहित्यकारी हो या वेश्या वृत्ति।" §पृ. सं. 78§ ऐसे ही लोगों के लिए धूमिल ने लिखा था कि "जिन्दा रहने के लिए / सही तर्क नहीं है / तो रामनामी बेचकर या रंडियों की दलाली करके / जीने में कोई फ़र्क नहीं है।" नीलांबर की परिणति यह होती है कि बीच में उसे साहित्य छोड़कर बिज़नेस में आना पड़ता है। इसी प्रकार "महाभोज" उपन्यास का सम्पादक "दत्ता बाबू" अपने पत्र "मशाल" को पेशे या व्यवसाय का साधन बना देता है। सत्ताधारी नेताओं की कलाई खोलने की अपेक्षा उनका स्नेह भाजन बन जाता है, ताकि सरकार की ओर से मिलने वाले विज्ञापनों व कागज़ का कोटा, के डबल हो जाने से वंचित न रह जाना पड़े। इसीलिए सिरोहा में हुई किसी बिसेसर नामक नौजवान की हत्या को विरोधी नेता सुकुल बाबू द्वारा ज़ोर देने पर उसे आत्महत्या के केस में तबदील कर देते हैं और जो अंक वे निकाल रहे थे हत्या की हेड लाइन के साथ उसे रोक देते हैं" ... सबसे पहले नये अंक की तैयारी करो। सरोहा किसे भेजा था?

कोई रिपोर्ट आयी सुकुल बाबू के भाषण की ? ....नहीं, यह रिपोर्ट भी इसी अंक में जाएगी। नहीं हुआ तो अंक शाम तक निकालेंगे। ...."मशाल" का ताज़ा अंक।" पिछले सप्ताह की सारी प्रमुख घटनाएँ दी हैं और बड़े सलीक़े और जिम्मेदाराना ढंग से। मुख पृष्ठ पर असन्तुष्टों द्वारा मंत्रि मंडल गिराने के प्रयास की घोर असफलता की बात ही नहीं, वरन् उन लोगों की स्वार्थपरता और पद लोलुपता की कड़ी आलोचना भी की। लोचन बाबू की बर्ख़ास्तगी को दा साहब का एक सही और साहसिक क़दम बताया है और इस बात की प्रशंसा की है कि पार्टी के अनुशासन और एकता के लिए अपनी ही पार्टी के एक मंत्री को निकाल देने का निर्द्वन्द्व भाव से लिया गया निर्णय निश्चित ही अभिनन्दनीय है।

बीच के पृष्ठ पर सुकुल बाबू की रैली का समाचार है। तस्वीर कोई नहीं है, पर यह स्वीकार किया है कि इस प्रान्त के इतिहास में इतनी बड़ी रैली शायद ही कभी हुई हो। विरोधियों की इतनी बड़ी रैली बिना किसी बाधा-व्यवधान के शांतिपूर्ण ढंग से हो गयी इसके लिए गृह-मंत्रालय और डी.आई.जी. पुलिस के प्रति आभार व्यक्त किया है।

इसके बाद तीसरी प्रमुख ख़बर : दोस्ती की आड़ में बिसू की हत्या करने वाला बिन्दा गिरफ़्तार। फिर बड़े सनसनी-खेज और रोचक ढंग से विस्तृत वर्णन दिया गया था कि किस प्रकार नये सिरे से बयान लेने और गहरी छानबीन करने पर कुछ ऐसे विस्मयकारी तथ्य सामने आये जिन्होंने सारी घटना की दिशा ही बदल दी। डी.आई.जी. ने जिस सूझबूझ का प्रमाण दिया इस सारे मामले में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा थी। साथ ही एक छोटे से बॉक्स में बधाई देते हुए यह सूचना भी थी कि आई.जी. के रिक्त स्थान को डी.आई.जी. सिन्हा ने संभाल लिया।

उसके बाद सरोहा चुनाव-क्षेत्र में बढ़ती हुई सरगर्मियों के अनेक रोचक विवरण। और अन्तिम पृष्ठ पर तीन तस्वीरों के साथ घरेलू उद्योग योजना की तेज़ी से बढ़ती हुई गतिविधियों के उल्लेख के साथ आशा व्यक्त की गयी थी कि इसी सक्रियता और कर्मठता के साथ योजना चलती रही तो साल भर के भीतर-भीतर गाँव के ग़रीब तबक़े की आर्थिक स्थिति में आमूल परिवर्तन आ जायेगा।" §पृ. सं. 144-56§ इस तरह पत्रकारिता का व्यावसायीकरण हो गया।

दूसरे स्तर पर व्यावसायीकरण आर्थिक दबावों या परिस्थितियों के कारण हुआ जिसकी वजह से बुद्धिजीवी ट्यूशन, जनता तथा प्रकाशक की रुचि व आवश्यकतानुसार लेख लिखने, अनुवाद तथा प्रूफ़ रीडिंग जैसे कार्य करने को विवश है। "नरक दर नरक" के पात्र "विनय गुप्ता" को अपनी गृहस्थी चलाने के लिए कुछ न कुछ लिखना पड़ता था "मुख्यतः मसीजीवी होने के कारण विनय गुप्ता के लिए यह बहुत जरूरी था कि नियमित रूप से लिखे। लेकिन गृहस्थी चलाने के सिलसिले में उसे बहुत कुछ ऐसा भी लिखना पड़ता था जिसकी कोई साहित्यिक या वैचारिक संगति नहीं थी।" §पृ. सं. 192§ "नदी के द्वीप" के भुवन को एम. एस. सी. करने के तुरन्त बाद ही जीविकोपार्जन हेतु ट्यूशन करना पड़ता है "भुवन ने उसे पढ़ाना आरम्भ कर दिया था, और आय के लिए एक आई. सी. एस. अधिकारी के बिगड़े हुए और पढ़ाई के प्रति उदासीन लड़के की ट्यूशन भी स्वीकार कर ली थी, जिससे उसे सवा सौ मासिक मिल जाता था।" §पृ. सं. 61§ "भ्रम भंग" के चन्दन की भी यही स्थिति है ..."वहाँ से लौट रहा हूँ। लगता है, जीवन का कुछ मतलब ज़रूरत होता है। टिकने के लिए सहारा मिल गया है। मिसेज़ शर्मा को इण्टर की तैयारी करानी है। तीस रुपये मिलेंगे। ...आज खुश हूँ। जीने का एक क्षीण सहारा। तीस रुपये महीना। कम नहीं होते तीस रुपये...।"§पृ. सं. 37§ "टूटते बंधन" की मुरली भी आर्थिक दबावों

के कारण दयूशन करती है यशवन्त से कहती है -- "तुम पहले दयूशन तो दिलाओ बाद में मैं सब संभाल लूंगी। प्रयत्न करने से पूर्व जो व्यक्ति असफल हो जाने के भय से कम्पित होना प्रारम्भ कर देता है, वह जीवन में कभी कृत कार्य नहीं होता" §पृ. सं. 64§ और वह दयूशन पढ़ाने लगी "इस भेंट का परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन से ही मुरली को दयूशन मिल गया...मुरली अष्टमी को पढ़ाने लगी।" §पृ. सं. 65§ "गिरती दिवारें" के चेतन को अपनी जीविका हेतु अनुवाद, प्रूफ़ रीडिंग तथा एक कहानी लिखनी पड़ती है। वह अपने मित्र अनन्त को पत्र में लिखता है "मैंने अनुवाद सीख लिया है और आठ घंटे बिना सिर उठाये अंग्रेज़ी तारों का अनुवाद करता हूँ, प्रूफ़ पढ़ता हूँ और फिर जुल्म यह है कि इतने काम के बावजूद सम्पादक साहब चाहते हैं कि अब भी प्रति सप्ताह एक कहानी पत्र के साप्ताहिक अंक के लिए लिखा करूँ। §पृ. सं. 131-132§ आर्थिक दबावों के कारण "शेखर - एक जीवनी" §संघर्ष-भाग-2§ के शेखर को "हमारा समाज" बेच देना पड़ता है "पर मैं तो आपको सर्वाधिकार दे रहा हूँ, आप हस्तलिपि के साथ जो करना चाहे करें --- पुस्तक पर सम्पादक का नाम, लेखक का नहीं। लेखक को घटाने-बढ़ाने, बदलने, छापने या न छापने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। और इस सर्वाधिकार विसर्जन के बदले शेखर पाएगा-- पुस्तक प्रकाशन के दो मास बाद सौ रुपये, या तुरन्त साठ रुपये"§पृ. सं. 202§ "नगर पुत्र हँसता है" का पत्रकार गुणाकर भी उपन्यासों का अनुवाद करता है पर उसे प्रकाशक प्रकाशित नहीं करता "अरे साहब, मौलिक कृतियों को छापने की फ़ुर्सत नहीं फिर अनुवाद कौन छापे।" §पृ. सं. 09§ तथा प्रकाशक उसे भारतीय रुपये के अवमूल्यन पर पुस्तक लिखने के लिए कहता है जिसके लिए वह तैयार हो जाता है "अब "अवमूल्यन" पर पुस्तक लिखनी ही होगी...इस समय तो लाइब्रेरी जाकर कुछ पुस्तकें चुननी है जो भारतीय रुपये के अवमूल्यन पर लिखी जाने वाली किताब के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके।"§पृ. 10-11§

तथा अनुवाद कार्य करता है "पर्स बिल्कुल खाली था, और इस बड़े शहर में खाली हाथ नहीं रहा जा सकता।' बहुत दिनों से एक अनुवाद का काम पड़ा हुआ था... मैंने डिक्शनरी खोलकर एक ओर रख ली। मेज़ पर लिखने का कागज़, कलम जुटाया और काम में लग गया।...चार दिन बीत गये। अनुवाद पूरा हो गया। एक अजब-सा सन्तोष मन में समा गया। ...पैसे मिलने में कोई ख़ास दिक्कत नहीं हुई। जेब में पैसे आते ही मन हवा में उड़ने लगता है।" (पृ. 64) इसी उपन्यास की माधवी शिक्षा विभाग में काम करने के बावजूद आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए ट्यूशन करना चाहती है, वह गुणाकर से कहती है कि "रात से एक बात मन में है। मेरी सहायता करनी होगी। नौकरी के साथ कुछ और काम भी मुझे करना होगा। एक दो ट्यूशन ही दिला दीजिए।" और वह "पढ़ाने घर पर गई, लेकिन जो अपमान मिला उससे दो दिन भी न टिक सकी। एक जगह तो एक सोलह साल के लड़के ने ही हाथ पकड़ने की कोशिश की। बस फिर हिम्मत नहीं हुई।"...आपके माध्यम से काम मिलेगा तो कम से कम अपमान तो न होगा।" (पृ. 76-77)

शिक्षण को व्यवसाय के रूप में देखने वाले बुद्धिजीवी की कमी नहीं है। वे उच्च शिक्षा इसी उद्देश्य के लिए पाते हैं जिससे उनकी उन्नति हो। यह बात "विपात्र" के कथानायक "मैं" के इस कथन से स्पष्ट होती है "इस विद्या केन्द्र" में किसी को भी विद्यानुराग नहीं था। ... हमारे यहाँ से जो लोग पी-एच.डी. या डी.एस.सी. होने गये वे अपने आँकड़े समझा कर गये थे। वे सिर्फ़ पी-एच.डी. चाहते थे जिससे कि वे अगली सीढ़ी पर चढ़ सके।"(पृ.सं. 27-28) "अन्तराल" के "कुमार" के अनुसार बुद्धिजीवी धन कमाने हेतु "अध्यापन" क्षेत्र चुनते हैं "अपने कॉलेज के प्रिंसिपल, वाइस प्रिंसिपल और स्टाफ़ के बारे में, ...जो सबके-सब अध्यापन को एक दो मंजिला मकान बनाने का साधन मानते थे।"(पृ. 36) अध्यापन के व्यवसायिक

रूप का पता "भ्रमभंग" के चन्दन के कॉलिज को देखने पर होता है "...यह कॉलिज। यहाँ के लोग...। पाँच महीनों का छोटा-सा समय...। लेकिन सारा रहस्य खुल गया है। विद्यार्थी पढ़ना नहीं चाहते। क्लासें खाली पड़ी रहती हैं। क्लास चल रही है। लड़के आ रहे हैं, जा रहे हैं। आप रोक नहीं सकते। पूछ नहीं सकते कुछ। नहीं तो वे आपको बाहर देख लेंगे। कौन रिस्क ले। पराया शहर। पराये लोग। प्रोफ़ेसर वोरा जैसे अध्यापक। अध्ययन-अध्यापन विरोधी। फ्रेंच के प्रोफ़ेसर हैं। कॉलिज में फ्रेंच विषय ही नहीं है। अंग्रेज़ी पढ़ाते हैं। फर्स्ट ईयर साइन्स को। गुजराती अँग्रेज़ी। सब चलता है। सरकारी कॉलिज है। फ्रेंच का प्रोफ़ेसर अंग्रेज़ी पढ़ाता है। सरकार समझती है, कॉलिज में फ्रेंच पढ़ायी जा रही है। कैसे-कैसे यह सब चलता है। प्रोफ़ेसर त्रिवेदी कितना पॉप्युलर है विद्यार्थियों में। उसे जोक शूट करने आते हैं। यही उसकी योग्यता है। अंग्रेज़ी बोलता है--- "व्हेन-एवर आई गोज टू द क्लास देयर इज पिन्स ड्राप्स साइलेंस।" क्यों न हो? लड़के जोक सुनना चाहते हैं। इकनामिक्स के पीरियड में गुजराती जोक्स।...जिन्दगी कितनी नीरस है। उसमें पैंतालिस मिनट जोक्स सुनने का पहला मौका। कुछ एण्टरटेन हो जाता है मन। कुछ रिलैक्स।" (पृ.102) कुछ ऐसी ही स्थिति "दीक्षांत" की प्राध्यापिका कमलेश के माध्यम से होती है "अरे आप अभी नयी हैं न, मोना जी। सीधी-सी बात तो यह है कि आजकल क्लास-रूमों में चिल्ला-चिल्लाकर जी-जान से पढ़ाना-समझाना कुछ खास मायने रखता ही नहीं हम टीचर्स का, ख़ासकर जबकि छात्र-छात्राएँ हमेशा निहायत तफ़रीही मूड में रहते हों, मसलन चुइंगम चूस रहे हैं या फिर इश्क हकीकी फ़रमा रहे हैं। ....इस ड्यूटी शब्द को संभाल कर रखिएगा मिस चौधरी, आपसे दो साल बाद यही सवाल दुहराऊँगी... जब ऊंट पहाड़ की चढ़ाई का मज़ा चख चुका होगा...,माई डियर ...यह ड्यूटी थी - "कर्तव्य, नैतिकता, निष्ठा और अनुशासन आदि अब सिर्फ़ साहित्य और

शब्दकोशों के महत्व के हैं। इन शब्दों के अर्थ तोता रटंत करवा दिया करिए, बस...पढ़ने-पढ़ाने का महत्व अब सिर्फ़ इतना रह गया है कि हम-आप जैसों को गुज़ारे के लिए एक नौकरी मिल जाती है और छात्र-छात्राओं को एक शग़ल।" §पृ. 23-24§ ट्यूशन तो व्यवसाय हो गया पर उसका निकृष्टतम रूप ऐसा हो गया है कि जो लड़का स्कूल टीचर के पास ट्यूशन नहीं पढ़ता उसके साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया जाता है और अपने पास पढ़ने वाले को प्रथम स्थान मिलता है, "दीक्षांत" के "शर्मा" सर के लड़के के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है "पढ़ाई करने, न करने का कोई फ़ायदा ही नहीं, जो-जो लड़के सर से ट्यूशन लेते हैं उन्हें बिना पढ़े भी अच्छे नम्बर मिल जाते हैं ... और फर्स्ट तो उनसे ट्यूशन लेने वाले ही आएँगे।" ....गणित और अंग्रेज़ी वाले सर इतना खुला पक्षपात क्यों करते हैं..."§पृ. 39§ इसी तरह नाटक, कविता लिखकर पाठ्य-पुस्तकों में लगवाना भी आज बुद्धिजीवियों का व्यवसाय हो गया है। "बाँधो न नाव इस ठाँव" के सम्पादक, कवि चातक जी चेतन से कहते हैं कि "तुम एक ड्रामा क्यों नहीं लिखते? ..."दो वर्ष बाद यहाँ "रत्न", "भूषण" और"प्रभाकर"की परीक्षाओं का पाठ्यक्रम बदलने वाला है। तुम्हारी लघु-गल्प तो मैंने काव्य-संकलन के माध्यम से इण्ट्रोड्यूस कर ही दी है। नाटक लिखोगे तो आगे के लिए मैदान बन जाएगा। "प्रभाकर" में तो नीरव जी का ही नाटक लगेगा, लेकिन "रत्न" और "भूषण" के लिए मुझसे नाटक लिखने को कहा जा रहा है। मुझे"मंजरी" के काम से इतना अवकाश नहीं मिलता कि एकाग्रता से नाटक लिख सकूँ। हिन्दी में अभी तुम्हारा नाम नहीं है, इसलिए तुम्हारे नाम से तो नाटक नहीं लग सकता। पर तुम नाटक लिखो तो मैं उसे देख लूँगा। उस पर अपना नाम दे दूँगा। भूमिका लिख दूँगा, उसमें उल्लेख कर दूँगा कि इसे लिखने में तुमने मेरी मदद की है। रॉयल्टी मिलेगी, वह आधी-आधी बाँट लेंगे।§पृ. 54-55§

4.2 महत्वाकांक्षा और सफ़लता की अंधी दौड़

मुक्तिबोध ने बहुत ही बेबाक और प्रताड़नकारी लहज़े में आज के साहित्यकार के जीवनक्रम और जीवनाकांक्षा की चर्चा की है कि "आज के साहित्यकार का आयुष्यक्रम क्या है। विद्यार्जन, डिग्री और इसी बीच साहित्यिक प्रयास, विवाह, घर, सोफ़ासेट, ऐरिस्टोक्रैटिक लिविंग, महानों से व्यक्तिगत सम्पर्क, श्रेष्ठ प्रकाशकों द्वारा अपनी पुस्तकों का प्रकाशन, सरकारी पुरस्कार, अथवा ऐसी ही कोई विशेष उपलब्धि और चालीसवें वर्ष के आस-पास अमरीका या रूस जाने की तैयारी, किसी व्यक्ति या संस्था की सहायता से अपनी कृतियों का अंग्रेज़ी या रूसी में अनुवाद, किसी बड़े-भारी सेठ के यहाँ या सरकार के यहाँ ऊँचे क़िस्म की नौकरी।"[1] आगे वे कहते हैं कि "अब मुझे बताइए कि यह वर्ग क्या तो यथार्थवाद प्रस्तुत करेगा और क्या आदर्शवाद?"[175] मुक्तिबोध का यह सवाल बिल्कुल सही है। लेकिन इससे भी आगे बढ़कर आज का बुद्धिजीवी इस सवाल से उलझने की कोशिश ही नहीं करता। उसके आगे तो इससे भी बड़े सवाल हैं और वे सवाल हैं कि उसकी अपनी ज़िन्दगी में ज़्यादा से ज़्यादा ऊपर उठने और सफ़ल होते चलने के। सफ़लता एक बुर्जुआ मूल्य है, "नथिंग लाइक सक्सेस" के सिद्धांत पर चलती पूंजीवादी व्यवस्था मनुष्य को एक अन्तहीन दौड़ में ढकेल देती है। जीवन स्तर आज भौतिक सुख-साधनों से मापा जा रहा है और बुद्धिजीवी इस सफ़लता की अंधी दौड़ में बुरी तरह फंसा हुआ है। वह किसी न किसी तरह सर्वोच्च स्थान पर पहुँचना चाहता है, चाहे वह लेखक, पत्रकार मसीजीवी हो, या प्रोफ़ेसर, प्राध्यापक अथवा अध्यापक हो,

---

1. मुक्तिबोध रचनावली-चार --- नेमीचन्द्र जैन - पृ. 174-175 संस्करण, 1980

या डॉक्टर, इंजीनीयर कौशलजीवी हो या राजनीतिज्ञ, इसकी वजह से वह नैतिक मूल्यों, आदर्शों को ठुकरा देता है फलतः वह अवसरवादी, स्वार्थी व ईर्ष्यालू हो जाता है।

मसीजीवियों के लिए अधिक से अधिक भौतिक सुख-साधन जुटाना और अधिक से अधिक मीडिया का दोहन करना ही एकमात्र उद्देश्य रह गया है। "लेकिन दरवाजा" के नीलाम्बर का चरित्र जैसे ऊपर उद्धृत वाक्यों को चरितार्थ करने के लिए ही रचा गया है। चाहे वह टी.वी. पर कार्यक्रम देने की बात हो या फ़िल्मों की कहानी का प्रस्ताव हो या पुरस्कार प्राप्ति की होड़ हो- सब जगह बुद्धिजीवी कुछ भी करने को तैयार है यहाँ तक कि अपनी भावी पत्नी को दूसरों की बाँहों में सौंप देता है। नीलांबर अपनी स्क्रिप्ट पर फ़िल्म बनाने के लिए निर्माता अस्प्र के हाथ में अपनी भावी पत्नी को सौंप देता है "एक स्क्रिप्ट पर नीलांबर भी काम कर रहा है।"[119] ... सुमन न जाने कब से अस्प्र के नज़दीक बैठी, साक़ी बनी हुई है ... और उसने सुमन को बाहुपाश में लगभग कस लिया। वे दोनों इसी तरह काफ़ी देर बैठे एक दूसरे की आँखों में झाँकते-मुस्कराते रहे।" §पृ.123§ प्रसिद्धि के लिए मीड़िया पर आने से अपने आपको देवेन §पत्रकार-लेखक, लेकिन दरवाजा§ रोक नहीं पाता "वैसे भी मैं निर्णय नहीं कर पा रहा था, क्योंकि टी.वी. आकर्षण ज़बरदस्त था। अपना चेहरा कौन नहीं दिखाना चाहता, फिर चाहे वह बदसूरत ही क्यों न हो।"§पृ.129§ साफ़ ज़ाहिर है कि जो व्यक्ति जितना ज़्यादा मीड़िया पर आएगा वह उतना ही सफ़ल माना जाएगा। नीलांबर न केवल इस मूल्य के पीछे प्राणपण से पड़ा हुआ है बल्कि वह देवेन को भी निरन्तर उपदेश देता रहा है, जैसे जब उसे पता चलता है कि देवेन उपन्यास लिख रहा है तो उसे सलाह देता है कि "उपन्यास तो लिखा ही जायेगा। पहले कहीं सीरियलाइज़ेशन

की बात तय करो, तब बढ़ना आगे।" §पृ. सं. 153§ आज का युग प्रचार का है इसके और इसके कारण नीलांबर खुद ऐसे उपन्यास लिखता है जिसमें उसके अनुसार "रिडेबिलिटी"है तो देवेन के विचार में "वल्गेरिटी"। स्पष्ट है कि इन्हीं मूल्यों के कारण साहित्य एक व्यवसाय बनकर रह गया है जैसा कि देवेन स्वीकार करता है कि "दिल्ली आने के कुछ ही दिनों बाद एक बात मेरी समझ में आ गयी थी कि भारत जैसे ग़रीब देश में वामपंथी होना सफ़लता के लिए सबसे आसान नुस्ख़ा है, फिर आप चाहे राजनीति से रोटी कमा रहे हों या साहित्य से।" §पृ. 78§ और आगे वह स्पष्ट करता है कि "और जिन लोगों को रोटी कमानी है उसके लिए हर काम पेशा ही तो है फिर चाहे वह राजनीति हो, साहित्यकारी हो या वेश्या वृत्ति।" §पृ. 78§ नीलांबर की परिणति यह होती है कि बीच में ही उसे साहित्य छोड़कर बिज़नेस में आना पड़ता है। यहाँ आकर उसकी आत्मा विद्रोह कर जाती है और वह कहता है कि "मैं इस रैकट में शामिल नहीं होने वाला हूँ। नहीं, मुझे ऐसा नहीं चाहिए। इससे बेहतर मैं भूखों मरना पसंद करूँगा।"§पृ. 94§ यह लेखक की आत्मा का विद्रोह है जो बीच-बीच में उभर कर आता है लेकिन इसके बावजूद नीलांबर के बारे में देवेन का मत है कि "अपनी सारी प्रगतिशीलता और ज्ञान के बावजूद वैभव और समृद्धि से उसे एक सांघातिक क़िस्म का लगाव है।" §पृ. 96§ चूँकि नीलांबर साहित्य जगत में है अतः उसे "साहित्य अकादमी" से पुरस्कृत होना अतिआवश्यक है। इस सफ़लता की अंधी दौड़ में स्वार्थवश वह अकादमी के अध्यक्ष का इंटरव्यू दूसरों के नाम से छापकर उनकी चापलूसी करता है। अपने मित्र देवेन के पास आकर कहता है कि "डॉ. रामभजन का इंटरव्यू छापना है।"

"ठीक है, हो जाएगा।" मैंने हौले से कहा। वैसे भी यह कोई बड़ी बात नहीं थी। यह तो फ़ोन पर भी कहा जा सकता था, मैंने सोचा।

"नहीं, इंटरव्यू मेरे पास है, इसी अंक में लगाना है।" उसने कहा।
"किसने लिखा है ?"
"मैंने।" वह मुझे देखता रहा।
"फिर क्या दिक्कत है ?"
नीलांबर का नाम ही अपने आप में किसी चीज़ को छपवाने के लिए पर्याप्त है।
"नहीं।" वह कुछ अटका, "मेरे नाम से नहीं छापना है।"
"ओ।" बात समझ में आने लगी।
"इस बार "अपना चेहरा" पुरस्कार के लिए "स्ट्रांग कंटेंडर" है। अगर इंटरव्यू मेरे नाम से छपा तो उसका बुरा असर पड़ेगा। "उसने समझाया।"
§पृ. 212§

देवेन भी प्रसिद्ध होने की महत्वाकांक्षा रखता है इसीलिए वह नाटक लिखने की सोचता है "उन दिनों यह नाटक §आधे-अधूरे§ इतना चर्चित था कि आधुनिक होने के लिए "आधे-अधूरे" और राकेश की रचना-प्रक्रिया पर चर्चा आवश्यक थी। इसलिए मैं व्यक्तिगत रूप से नाटक को पूरी बारीकी से देखना चाहता था। इसके अलावा नाटकों ने चूंकि हिन्दी लेखन को एक नया क्षेत्र दिखला दिया था जिससे यदि पैसे की दृष्टि से नहीं भी कहा जाए, तो प्रसिद्धि की दृष्टि से रातों-रात सफ़ल हुआ जा सकता था। नीलांबर का उदाहरण सामने था, उसने कुल दो नाटक लिखे थे और दूसरे नाटक "आपने मेरे बारे में सुना है" ने तो उसे दिल्ली नाट्य जगत् की एक हस्ती ही बना दिया था। इसलिए मैं भी अन्य लेखकों की तरह नाटक का एक ज़बरदस्त प्लाट स्पष्ट तौर पर जो "वेटिंग फॉर गोदो" की परम्परा में था - और लिखने की बलवती इच्छा लिए घूम रहा था और अकसर सोचा करता था कि

त्रिवेणी थियेटर गार्डन के बाद मेरा नाटक जिसका नाम मैं तय नहीं कर पाया था - सीधे ऑफ़ ब्राडवे में होगा।" §पृ.49-50§ "एक इंच मुस्कान" का अमर भी महत्वाकांक्षी है वह भी सफ़लता की अंधी दौड़ में शामिल है। एक सफ़ल लेखक होने के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन को विध्वंस कर लेता है। छः वर्ष तक रंजना से प्रेम करता है बाद में उसी से विवाह करने से इन्कार कर देता है "क्योंकि उसके दिमाग़ में अमला यह बात बिठा देती है कि कलाकार को विवाह नहीं करना चाहिए। विवाह, जिम्मेदारियां, कलाकारों के लिए घातक है, इससे कला पथभ्रष्ट हो जाती है। अतः वह रंजना से कहता है "तुम किसी सुपात्र से विवाह कर लो ... अब मैं कभी बीच में बाधा बनकर नहीं आऊँगा।" §पृ.59§ अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए दूसरों की संवेदनाओं और ज़िन्दगी के विषय में नहीं सोचता। रंजना, अमर के विवाह करने से इन्कार कर देने पर सटीक व्यंग्य करती है "यह कलाकार है। अपने को संवेदनशील और भावुक समझने वाला कलाकार। किसी की भावनाओं का, किसी के भविष्य का, किसी के जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं है इनकी दृष्टि में।" §पृ.60§ "नगर पुत्र हंसता है" का पत्रकार गुणाकर आर्थिक परिस्थितियों के कारण "क्लर्क" बन जाता है पर वह अति महत्वाकांक्षी होने के कारण पुनः मसीजीवी बनने की सोचता है "मैं न पहले क्लर्क था, न अब हूँ --- यह तो समय की मार है कि मैं साल-छः महीने के लिए यहाँ फँस गया हूँ। देख लेना मैं बहुत जल्द इससे अपने को आज़ाद कर लूँगा" §पृ.237§ क्या मैं वाकई में एक क्लर्क बन के रह गया हूँ।..क्या मेरी ज़िन्दगी का मतलब महीने में सिर्फ़ सात सौ रुपया कमाना भर ही है ?"§239§ .... मुझे जब भी याद आता है कि मैं अपनी सही लाइन से कटकर सिर्फ़ एक क्लर्क बन कर रह गया हूँ तो लगता है मेरा सर दर्द से फट जायेगा।"§240§ ....यह तो मेरा दुर्भाग्य है जो मैं क्लर्क बना ऑफ़िस की पतित ज़िन्दगी जिया। अब इस बारे में सोचना ही नहीं चाहिए क्योंकि भविष्य

में क्लर्की से मेरा ताल्लुक ही क्या होगा। ... मुझे अपनी कलम के सहारे जीना है और मैं अपने क्षेत्र में ही जिऊँगा।" (पृ. सं. 25) इस असंतोष से पता चलता है कि गुणाकर महत्वाकांक्षी है पर कोई ग़लत हथकंडे नहीं अपनाता जबकि इसकी तुलना में उसका "सम्पादक" सफ़लता की अंधी दौड़ में अपने पत्र को बनाये रखना चाहता है अतः वह गुणाकर को सरकारी नीतियों के विरोध पर लिखे लेख पर सरकारी विज्ञापन खो देने से होने वाले नुकसान के कारण उसे निकाल देता है "आपने सीधे-सीधे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर हमला किया है। प्रदर्शन को बहुत गलत ढंग से पेश किया है। बेकार की नुक़्ता-चीनी की है। आपको पता है कि आपके इस काम से हमें कितना नुकसान हुआ है। पेपर को मिलने वाले सारे सरकारी विज्ञापन बन्द कर दिए गये हैं।" ....(मॉफ़ी न मांगने पर) ... अगर यह नहीं होगा तो आज से आपका काम यहाँ समाप्त हो गया। नीचे खजाँची से अपना हिसाब ले लीजिए।" (पृ. ।।4-।।5) इसकी अपेक्षा "गिरती दिवारें" के "भूचाल" का सम्पादक जीवन लाल कपूर अपने पत्र को निम्न स्तर पर ले जाता है और निचले स्तर के लोगों की रुचि के अनुसार पत्र निकाल कर कई पत्रों को पीछे छोड़कर सफ़लता के उच्च शिखर पर आसीन हो जाता है, "जीवन लाल कपूर" सफ़ल पत्रकार थे। अशिक्षित, अर्धशिक्षित या फिर जाति-पाँति, धर्म-अधर्म के चक्कर में फँसे कट्टर हिन्दुओं के सिर मूँडने का ढंग उन्हें खूब आता था। उनके मन भाने वाला कोई भूख मिटाने के एक्ट्रेसों की दुःख भरी आपबीतियाँ, यूरोप के "पापियों की" जीवन गाथाएँ, "पतन के ज्वालामुखी पर खड़े यूरोप" में सुन्दरियों के मुकाबिले, "यौवन की सम्राज्ञी" कहाने वाली तन्वंगियों के जीवन की कहानियाँ अपनी ओर से नमक मिर्च लगा कर अपने पत्र में निरन्तर छापते रहते। पढ़ने वालों का धर्म भी बना रहता, वासना की भूख भी मिट जाती और वाद-विवाद में आज़ादी और आज़ाद ख़्याली को गालियाँ देने के लिए उपयुक्त उदाहरण और युक्तियाँ भी प्राप्त हो

जातीं। निम्न-मध्यवर्गीय लोगों के मनोविज्ञान की जो पकड़ उन्हें थी किसी दूसरे पत्र-सम्पादक को न थी। यही कारण था कि उनका पत्र कई पुराने पत्रों को पीछे छोड़ गया था।" §पृ. 543§ "एक नन्ही कन्दील" का पत्रकार-लेखक चेतन अति महत्वाकांक्षी है अतः वह हिन्दी क्षेत्र में भी सफ़ल होना चाहता है, नाम, प्रसिद्धि चाहता है इसीलिए वह सोचता है "जर्नलिज़्म से तीस-चालीस, पचास-सौ, या पाँच सौ कमा लेना महज़ मेरी ज़िन्दगी का मक़सद नहीं हो सकता।"[277] अतः "उसने तय किया कि वह जितनी जल्दी हो सके, निरन्तर अभ्यास से, हिन्दी में पर्याप्त क्षमता प्राप्त कर लेगा। अपनी तमाम कहानियों को हिन्दी का लिबास पहनाएगा। और इस भाषा में इतनी निपुणता प्राप्त कर लेगा कि तमाम समकालीन लेखकों से लोहा ले सके। वह लाहौर की तंग परिधि से निकलकर भारत के करोड़ों हिन्दी भाषियों तक अपनी आवाज़ पहुँचाएगा।" §पृ. सं. 456§ "शेखर : एक जीवनी §संघर्ष-भाग-2§ का शेखर स्वतन्त्र लेखन कार्य करना चाहता है। अपनी महत्वाकांक्षा के कारण "क्लर्की" नहीं करना चाहता। इसका पता हमें उसके द्वारा अपने माता-पिता से कही गयी इस बात से चलता है "क्लर्की में तीस-चालीस मिल सकते होंगे, पर वह मैं कभी नहीं करूँगा।" §पृ. 14§ उसका जीवन व लेखन के प्रति असन्तोष भी उसके महत्वाकांक्षी होने की पुष्टि करता है। §उत्थान-भाग-1§ वह सोचता है कि "क्या है मेरे इस जीवन जी सिद्धि ? क्या है इसकी सम्पूर्ति ? सब झूठ-शून्य, शून्य, शून्य। बल्कि शून्य से भी कम, एक ऋण, जिसे मैं पूंजी समझे बैठा हूँ। ---मैं क्या हूँ ? मेरा मतलब क्या है ? जिसके अन्त के लिए इतनी शक्ति व्यय की जा रही है, इतना आयोजन हो रहा है, उस जीवन की सत्यता क्या थी ? वायु में उड़ती धूल पर खिंची रेखा, और बस ? नहीं हो सकता। मेरे इतने सब स्वप्न, उतने नगण्य नहीं हो सकते, भले ही मेरा जीवन नगण्य रहा हो। मैं कुछ नहीं, मेरा कार्य कुछ

नहीं, मेरा स्थायित्व कुछ नहीं, पर मेरी यह विद्रोह चेष्टा कहाँ जाएगी। मैं जो इतने अनवरत यत्न से संसार की - या संसार में जहाँ तक मेरी पहुँच हो सकी है, उसकी - प्रत्येक वस्तु में घोर परिवर्तन, एक मौलिक क्रांति का आदर्श लेकर आया हूँ, वह क्या एक फाँसी के फन्दे में ही घुटकर मर जाएगा? मैं न रहूँ, मेरा कोई चिन्ह भी न रहे, पर क्या यह शक्ति भी नष्ट हो जाएगी?" §पृ. 36§ §संघर्ष भाग-2§ में लेखन के प्रति असन्तोष से उसकी महत्वाकांक्षा का बोध होता है -- "मैं जो कुछ लिखता हूँ, बहुत उबल कर लिखता हूँ, पर पीछे मुझे लगता है कि वह अच्छा नहीं है। बल्कि कभी यह भी लगता है कि उद्देश्य भी उसमें नहीं है, क्योंकि वह उबाल ही उबाल है, और उद्देश्य के लिए तो नक्शा बनकर संयम से चलना चाहिए।"§पृ. 116-117§ महत्वाकांक्षी मसीजीवी सफ़लता की अंधी दौड़ में शामिल होकर स्वयं की कृतियों को अपने अनुसार आलोचना करवाना चाहता है। "बांधो न नाव इस ठाँव §भाग-2 तकलीफ़ और तनाव§ का साहित्यकार देवदर्शन, चेतन से अपने नाटक पर स्वयं के अनुसार आलोचना करवाना चाहते हैं अतः वे उससे कहते हैं "तुमने मेरी सभी कहानियाँ पढ़ रखी हैं।" वे स्वर को और भी अनौपचारिक और दोस्ताना बनाते हुए बोले, "मेरा नाटक""बन्दर की बला" भी पढ़ रखा है। अगर तुम लाहौर के किसी रोज़नामें, हफ्तावार या माहनामे में उनके बारे में उनके डायलॉग्ज़ की चुस्ती और बजरस्तगी के बारे में .....तो मैं बहुत मशहूर हूँगा। किसी अंग्रेज़ी अख़बार में लिख दो तो क्या बात है। यूँ तो मेरे दोस्तों ने सरकार साहब पर मेरे अफ़सानों की सादगी और ज़बान की मिठास का बड़ा रंग जमा रखा है, लेकिन छपी हुई बात का असर ही दूसरा होता है।" §पृ. 284-285§ अब तो हालत यह हो गयी कि मसीजीवी इतने निचले स्तर पर उतर आया कि अपनी कृति की आलोचना स्वयं लिखकर दूसरों के नाम से प्रकाशित करवाते हैं, स्वयं प्रशंसा पत्र

छपवाते हैं तथा स्वयं अपना ढिंढोरा तक पिटवाते हैं। इसकी पुष्टि "लेकिन दरवाजा" में नीलांबर के द्वारा देवेन को दिए गए उपदेश से होती है" मैं तुम्हें एक बात बता दूँ, अगर तुमने अपना ढोल अपने आप नहीं पीटा तो सुन लो, चाहे कितना भी अच्छा लिखो लोग तुम्हें पहचानने तक नहीं जा रहे हैं।.... तुम्हें अभी कुछ पता नहीं। यहाँ लोग अपने बारे में अपने-आप लेख लिखते हैं और दोस्तों व चेलों के नाम छपवाते हैं। अपनी छपी रचनाओं पर विभिन्न नामों से प्रशंसा-पत्र भिजवाते हैं।"(पृ. 64-65) "एक नन्हीं कन्दील" में चेतन पत्रकार की अपेक्षा लेखक बनने की महत्वाकांक्षा रखता है "मुझे कभी-कभी लगता है- मैं कहाँ आ फँसा। इस माहौल से स्कूल की फ़िज़ा कैसे बुरी है ? ऐसी ऐडीटरी से मास्टरी क्या बेहतर नहीं ? ... लेकिन अब अगर मैं इस दलदल में आ फंसा हूँ तो इससे कुछ पाये बिना इसे नहीं छोड़ूँगा। हाँ, मैं इसमें सदा नहीं रह सकूँगा। भाई साहब लाहौर आ ही गए हैं। जिस दिन उनकी दुकान चल निकली और मेरे सिर पर छत का सहारा हुआ, मैं इस दम घोंटू माहौल से निकल जाऊँगा। इस अख़बारी ज़िन्दगी के तजरूबे धाते में रहेंगे। मुझे अगर अदीब (लेखक) बनना है तो ज़िन्दगी के बुरे और तकलीफ़देह तजरूबात से कन्नी काट कर काम नहीं चलेगा। जो कुछ भी रास्ते में आएगा, उसे आँखें खोलकर देखूँगा फिर चाहे वह कितना ही भयानक, घिनावना, ग़लीज़ और नफ़रतंगेज़ क्यों न हो...।"(पृ. 159) और जब वह कहानियाँ लिख लेता है तो उनका संग्रह प्रकाशित करवाना चाहता है अतः यमनलाल की चापलूसीपूर्ण प्रशंसा करता है और झूठ का सहारा लेकर कहता है कि "महाशय देवदर्शन ने मेरी कहानियों की सिफ़ारिश "लखनपाल ब्रदर्ज़" से की थी। उन्होंने कहा कि अगर महाशय देवदर्शन या मुंशी जी उसका दीबाच (भूमिका) लिख दें तो वे छाप देंगे और 15% रायल्टी देंगे।"...महाशय जी तो चाहते ही थे कि भूमिका लिखें, मैं एक बार कहता तो वे लिख देते, पर मैं मुंशी जी को लिख चुका था।

...उन्होंने लिख दी है और हक यह है कि बहुत अच्छी लिखी है। लेकिन मेरे मन में शक पैदा हो गया है और इसीलिए मैं आपसे राय लेने आया हूँ।" ..."चमन भाई, आप मेरी किताब छापे तो इससे बढ़कर खुशी की बात मेरे लिए और क्या हो सकती है। मैंने तो जब से आपको देखा है आपकी शख्सियत से मुतासिर §प्रभावित§ हुआ हूँ और आपके हुस्ने-सुलुक §सद्व्यवहार§ ने तो मेरा मन मोह लिया है। लखनपाल ब्रदर्ज की बात महाशय देवदर्शन ने कही थी और सच्ची बात है कि मेरा मन भी था, पर उसकी बद्दयानती की बात सुनकर मेरा हौसला पस्त हो गया है। मुझे रायल्टी-वायल्टी की फिक्र नहीं। नौकरी मेरी लग गयी है, काम चलने लगा है। बस आप किताब बढ़िया छाप दीजिए।" §पृ.431-432 तथा 437§ "प्रश्न और मरीचिका" में पत्रकार उदय की विदेश में बसने की महत्वाकांक्षा है, विदेश में बसने वाले सफ़ल व्यक्तियों में से माने जाते हैं। यही दृष्टिकोण उदयराज का है" आज से ढ़ाई साल पहले जब मैं पंडित शिवलोचन शर्मा तथा अपने पिता के संयुक्त प्रभाव से दिल्ली में मार्निंग स्टार के संवाददाता के रूप में अमेरिका गया था, तब मैंने मन-ही-मन संकल्प कर लिया था कि मैं अब हिन्दुस्तान नहीं वापस लौटूँगा। यह जाति-पांति वाली परम्परा की सडाँध की घुटन, यह साम्प्रदायिकता की घृणा और प्रान्तीयता के अविश्वास के ज़हर वाली मौत इससे मुझे छुटकारा मिला। मैं अपने अन्दर वाली कुण्ठा और कटुता से छुटकारा चाहता था। न जाने कितने सुनहले सपने लेकर मैं अमेरिका गया था। लेकिन आशाएँ निराशाएँ बन गई, सपने कुरूप और भयानक निकले।" §पृ. ।।7§

उच्चवर्ग में मिलने की महत्वाकांक्षा भी हमारे आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवियों में देखने को मिलती है। "लेकिन दरवाजा" के नीलांबर की भी यही महत्वाकांक्षा है, वह स्वयं स्वीकार करते हुए कहता है "मैं पिछले आठ दस वर्षों से जिस समाज में घुसने का प्रयत्न करता रहा हूँ, वहाँ लोग मेरी शकल और मेरी

स्मार्टनेस की तारीफ़ करते हैं। मेरी बीबी मुझे एक बबुए की तरह प्रेज़ेंट करती है और यह सोच-सोच कर खुश होती जाती है कि देखो, मेरा ख़सम शुद्ध लाला नहीं, "इंटलैक्चुअल" और "हैंडसम" भी है।" (पृ. 249-250) यही महत्वाकांक्षा "भगोडा" के लेखक - युनियन नेता "मैं" में है, उसी के शब्दों में उसकी महत्वाकांक्षा की परिणति कहाँ होती है देखिए --"आज मैं एक बात जरूर कह सकता हूँ पिछले लंबे अरसे से मैं बड़ों की ज़मात में शामिल होने की कोशिश करता रहा था। उधर शामिल हो पाने का विश्वास तो मुझे कभी हुआ नहीं, हाँ यह जरूर पता लग गया था कि मैं छोटे आदमी से भी कट चुका हूँ।" (पृ. 129)

साहित्य के द्वारा अमर होने की अभिलाषा भी लेखकों को पीड़ित करती रही है। सफ़लता की अंधी दौड़ या व्यावसायिक जीवन की दौड़ लेखक को एक अजीब से भय से ग्रस्त कर देती है और वह भय है मृत्यु भय। "लेकिन दरवाजा" का नीलांबर इसी भय का शिकार है "तुम्हें अजीब लगेगा, पर सच बात यह है कि आज-कल मुझे एक अजीब तरह का भय घेरे रहता है। स्कूटर चलाते हुए लगता है, सामने आती गाड़ी से टकरा जाऊँगा। जैसे कि स्कूटर पर मेरा नियंत्रण हो ही नहीं। डी.टी.सी. की कोई बस पीछे से टक्कर मार देगी, या हो सकता है ठीक समय पर ब्रेक का वायर टूट जायेगा और मैं सामने से आ रही डबल डेकर के नीचे आ जाऊँगा।"[100] लेकिन वह इस भय से लड़ने के लिए साहित्य को अमरत्व के वस्त्र के रूप में इस्तेमाल करना चाहता है। "तुम मुझे गलत न समझना; वह फिर गम्भीर हो गया, "मैं मौत से नहीं घबराता। मरना तो एक दिन है ही, पर मेरा सारा डर व्यर्थता से है। जैसे-जैसे समय निकल रहा है, मैं और भी अधिक आतंकित और बीमार होता जा रहा हूँ। देब्बू, मैं जानवर की मौत नहीं मरना चाहता। उसने मेरा हाथ कस कर पकड़ लिया, "मैं कुछ करके मरना चाहता हूँ।" (पृ. 103-104)

वास्तव में नीलांबर अपने जीवन में कुछ ऐसा करके मरना चाहता है जिससे लोग उसे मृत्युपर्यन्त भी याद रखे अर्थात् वह साहित्यकार के रूप में अमर होना चाहता था। इस बात को देवेन समझ जाता है और सोचता है "अब नीलांबर की पीड़ा मेरी समझ में आयी। वह स्वयं को शेक्सपीयर, टॉलस्टाय, बॉलजाक और हेमिंग्वे के साथ देखना चाहता है। उसका सारा संकट अमरत्व का ही रहा है।" (पृ. 104)

इस प्रकार साहित्य-सृजन एक साधन है चाहे इससे अमरत्व का सुख मिले या भौतिक जीवन का सुख।

इसी महत्वाकांक्षा, भौतिक सुख-साधनों तथा उच्च पदों की प्राप्ति की सफ़लता की अंधी दौड़ में वकील, इंजीनीयर, डॉक्टर, क्लर्क आदि कौशलजीवी भी शामिल हैं। "वही बात" का चीफ़ इंजीनियर प्रशांत अति महत्वाकांक्षी है और सर्वोच्च पद की प्राप्ति की आकांक्षा के लिए पत्नी तक को त्याग कर अपना जीवन नष्ट कर लेता है। उसकी पत्नी समीरा उसे समझाने का प्रयत्न करती है और अपने अकेलेपन, उसके संग की अभिलाषा व्यक्त करती है तब प्रशांत उल्टा उसे ही समझाते हुए कहता है" -- जरा समझने की कोशिश करो समी। उसने कहा। ये सब मैं खुद अपने लिए नहीं, तुम्हारे लिए ही कह रहा हूँ। एक काम में अगर मुझे सफलता मिलती है तो क्या वह सफलता तुम्हारे लिए भी नहीं है ?

--मुझे सफलता की नहीं, तुम्हारी जरूरत है।

--पर तुम जानती हो, समीरा, असफल आदमी की जरूरत किसी को नहीं होती।"[33]

---"डार्लिंग ! इसे कहते हैं सक्सेस! वह बड़े गर्वीले अंदाज में बोला -- मैंने कहा था न, असफल आदमी की जरूरत किसी को नहीं होती ...समी! जर्मन कोलेबोरेशन में एक बहुत बड़े थर्मल प्लांट का प्रोजेक्ट बन रहा है। सरकार उस कंस्ट्रक्शन का चार्ज

देने के लिए इंजीनियरों के नामों पर विचार कर रही है। यह बहुत बड़े प्रमोशन का मौका है। इस वक्त अपने प्रोफेशन को बिजनेस में बदला जा सकता है। मैं सोच रहा हूँ, कल दिल्ली चला जाऊँ। मेरा वहाँ होना बहुत जरूरी है। कंपटीशन बहुत टफ़ है। कहीं ऐसा न हो, मेरी गैर मौजूदगी ही मेरी असफलता का कारण बन जाए। ...तीन चार दिनों में वापस आ जाऊँगा।

--इतनी सफलता को लेकर क्या करोगे? जितनी है, उतनी ही मेरे लिए काफ़ी है। समीरा ने कहा।

--तुम समझती नहीं, समी। ऐसे मौके जिन्दगी में बार-बार नहीं आते...आगे बढ़ना हो तो हर मौके को दोनों बाहों से पकड़ लेना चाहिए...

--तुम आगे बढ़ते जाओ, पर...यह तो देखते रहो कि कहीं मैं बहुत पीछे न छूट जाऊँ...।

--कैसी बातें करती हो ?

--बातें नहीं, हकीकत है यह...तुमने कभी सोंचा है कि मैं कहाँ-कहाँ अधूरी होती जा रही हूँ ?

--सफलता के लिए बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है, समीरा ।

--तो ठीक है। जो तुम्हारे मन में आए, करते जाओ...इस जिन्दगी के साथ... इस मन के साथ...इस शरीर के साथ...। प्रशांत सफ़लता के सपनों के सरपट दौड़ते घोड़े पर सवार होकर बहुत जल्दी ही नींद की घाटी में उतर गया।"§47-48§

प्रशांत राजधानी गया तो पाँचवें दिन भी नहीं लौटा। वहाँ से फोन आया-समी! मुझे दो-एक दिन और लग जायेंगे...। ...मैं इस लिए लौट आया कि तुम बहुत अकेली होगी। वैसे मुझे अभी वहीं रुकना चाहिए था। यही वक्त है, जब पोस्ट

के बारे में सब कुछ मिनिस्ट्री में तय होगा। एक बार इस नए थर्मल प्रोजेक्ट का चीफ हो जाऊँ तो फिर अपने मजे-ही-मजे हैं। एक पैर देश में होगा, दूसरा विदेश में...।

--तो लौट जाओ...समीरा ने बड़े अनमने ढंग से कहा।

--हाऊ नाइस, समी। ...आखिर धीरे-धीरे तुम भी मानने लगी कि सफलता के बगैर जिन्दगी का कोई मतलब नहीं है, ... है न ?

--हाँ ... उस सफलता के लिए चाहे कुछ भी करना पड़े।

प्रशांत को अपनी दिमागी उड़ानों की वजह से इतनी फुर्सत नहीं थी कि वह समीरा के शब्दों में निहित व्यंग्य और तकलीफ को समझने की कोशिश कर सके।...

दो दिन बाद उसने राजधानी से फोन किया। ...सुनो, समी !...

...बहुत अच्छी खबर है। लगता है, सब ठीक हो जाएगा...सेक्रेटरी ने मेरा तगड़ा रिकमेंडेशन किया है। तीन कैंडीडेट्स रन में हैं -- पर होगा मेरा ही अपाइंटमेंट ...बस, कल या परसों सब तय हो जाएगा। तय होते ही मैं लौट आऊँगा...खुश हो न ? [5]

§वापस आने पर नकुल व समीरा के सम्बन्धों का पता चलता है और तलाक देकर अपने बसे-बसाये घर को उजाड़ कर चला जाता है§

"समीरा। तुमने मुझे धोखा दिया होता तो मैं बर्दाश्त कर लेता, पर तकलीफ इस बात की है तुमने मुझे तकलीफ दी है काश ! तुम कुछ और इन्तजार कर लेती...ये सब ....मैं तुम्हारे लिए ही तो कर रहा था...तुमने मुझे वक्त तो दिया होता...। ...अगले एक हफ्ते में सब कुछ तय हो गया। प्रशांत ने सारी स्थिति को दार्शनिक अंदाज में स्वीकार कर लिया था। न वह समीरा से नाराज़ था, न नकुल से।" ...मैंने पहले भी मिनिस्ट्री तक यह बात पहुँचा दी थी कि मेरे बाद नकुल को यहाँ प्रमोट कर दिया जाय...इस्तीफा देते हुए मैंने

फिर नकुल के नाम की ही सिफारिश की है...अब मैं अपनी पोस्ट और अपना घर -- दोनों नकुल के लिए छोड़े जा रहा हूँ।"(पृ. 58-59) इस तरह उसे अपनी सफलता की कीमत पत्नी व घर को खोकर चुकानी पड़ी। "नकुल" भी पारिवारिक खुशी व समीरा को प्यार व महत्व देने के बदले प्रशांत के नक्शे कदम पर, सफ़लता की अंधी दौड़ में शामिल हो जाता है। अपनी उन्नति के सम्बन्ध में दिल्ली आना-जाना प्रारम्भ कर देता है समीरा को अकेला छोड़कर । समीरा द्वारा प्रशांत के मार्ग पर चलने की बात सुनकर "नकुल का गुस्सा बेकाबू हो गया। तड़ाक। ....एक आवाज़ हुई ... नकुल का खुला हाथ समीरा के गाल पर पड़ा था।" (पृ. 73) पर प्रशांत की वजह से नकुल - समीरा का दाम्पत्य टूटने से बच जाता है, और सब कुछ खोकर प्रशांत को पता चल जाता है कि सफ़लता ही सब कुछ नहीं है। वह नकुल को समझाते हुए कहता है कि "नकुल जो गलती मैंने की है, उसे तुम न दोहराओ। यह हार-जीत का मामला नहीं है। यह एक हकीकत है, दोस्त। समीरा ने मुझे अपने कारणों से छोड़ा था, तुम्हारी वजह से नहीं। अब तुम्हें ऐसे कारण नहीं देने चाहिए और न ही समीरा को कोई ऐसी वजहें देनी चाहिए कि तुम चल दो। मेरी गलती से तुम दोनों को समीरा को और तुम्हें सोचना चाहिए। एक आदमी की सफलता ही सब कुछ नहीं है। सफलता सबके साथ कारगर होती है। मेरी या तुम्हारी सफलता की कीमत समीरा चुकाये या कोई और औरत....बस, यहीं से जिन्दगी सूरज की तरह ऊपर चढ़ने लगती है, पर घर में शाम उतरने लगती है...और फिर रात। ...छायाएँ बहुत लंबी हो जाती हैं...और अलग-अलग...।" (पृ. 98) भौतिक साधनों को जीवन का सुख मान उसकी प्राप्ति के लिए "परछाईयों के पीछे" की सुमित्रा सोचती कि "मन में एक साध थी, अपने घर में नफीस बनत का सोफासेट रखेगी, टीक की पाटी के पलंग, बेडरूम में डबल बेड, ड्राइंगरूम में रेडियोग्राम, हीटर, फोल्डिंग लैंप, पर्दे के आधुनिकतम डिज़ायन-शेड और हो सका तो टी. वी.

भी।" §पृ. 94-95§ "नगर पुत्र हँसता है" के परमेश्वरी की महत्वाकांक्षा है मसिजीवी बनने की अतः "इसी बीच परमेश्वरी ने अपने अन्दर कस्बे में पनपे सारे निशानों को मिटा डालने की पूरी कोशिश की। छील-छील कर उसने अपने ऊपर से मध्यवर्गीय परिवार के संस्कारों की केंचुल उतारने की कोशिश की थी इस बीच जो जख्म के निशान चेहरे पर रह गए थे उन्हें वह क्रीम पाउडर से छिपाने का प्रयत्न करता था। वह पूरी तरह आधुनिक बनना चाहता था, मगर उसके अन्दर की हीन भावना उसे कुछ भी बनने नहीं देती थी।...नौकरी के नाम पर क्लर्की से एक इंच ऊपर की नौकरी। फिर भी एक बनावट, एक झूठी अकड़। वास्तव में इस प्रकार के पेटी-बुर्जुआ लोग ही सारे समाज को घुन की तरह खा गए। ...वह तो चाहता है कि ज्यादा से ज्यादा लोग उसके घर आएँ ताकि वह प्रचार कर सके कि अमुक-अमुक लोग उसके घर पर आते रहते हैं। पर शर्त सिर्फ़ इतनी होनी चाहिए कि सूचना देकर आएँ, क्योंकि उसे दूसरों के सामने टिकने में कुछ समय लगता है। स्वयं को बौद्धिक घोषित करने के बाद भी वह बौद्धिक वर्ग के सामने हकलाने लगता है।" §55-56§ इसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए स्वार्थवश पत्रकार गुणाकर को अपने कार्यालय में क्लर्क का काम दिलाता है ताकि उसके माध्यम से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेख परिष्कृत करवा कर छपवा सके "तब फिर हमारा ही कुछ काम करो। मैंने बताया था न कि मैं और अपने तिवारी जी काबुल एक सांस्कृतिक टूर पर गये थे। वहाँ हमने बहुत कुछ देखा। मैं तो खैर जरा घुमक्कड़ टाइप का आदमी हूँ; इसलिए वहाँ के नोट्स क्रम से न ले सका, लेकिन तिवारी जी बहुत काम के पक्के हैं। रोज रात को सोने से पहले डायरी लिखते थे। अब यह सब चीज़ यहाँ देश के लोग भी जाने कि आखिर काबुल में हमने क्या देखा, क्या सुना, और हमारी यात्रा से भारत और अफ़गानिस्तान कितना निकट आ गये हैं ?... फाइल से अपनी और तिवारी की फोटो निकाल कर बोला, "इन्हें भी लेख के साथ दे देना। कल इतवार है। मैंने तिवारी जी का डायरीनुमा लेख और अपना यात्रा लेख

तैयार कर दिया है, लेकिन फिर भी तुम जरा सुधार देना, मेरा मतलब है आवश्यक काट-छाँट कर लेना। बस, इसी माह इसे किसी अच्छी पत्रिका में छपा दो।" (पृ.192) "शेष यात्रा" का डॉ. प्रणव हर क्षेत्र में सफ़ल रहना चाहता है, अतः अपनी पत्नी अनु से कहता है "मैं नम्बर वन रहना चाहता हूँ, हमेशा। घर, गाड़ी, प्रैक्टिस, हर चीज में सबसे ऊपर।"(पृ. 20) "प्रणव" के छोड़कर जाने पर अनु की डॉक्टर बनने की महत्वाकांक्षा जाग उठती है और वह उसके स्तर का डॉक्टर अपने आपको बनाती है "उसी मानसिक तनाव में मैंने सोचा कि अच्छा, अभी तो सारी उमर पड़ी ही हुई है, चलो कुछ बनने की कोशिश तो कर लो। शुरूआत तो करो; देखो कि तुम भी प्रणव कुमार बन सकती हो कि नहीं? इतफाक से मेडिकल कालेज में एडमिशन मिल गया; माँ की भी इच्छा थी कि मैं डॉक्टर बनती; एंड हियर आई एम -- नोबेल प्राइज विजेता की रिसर्च टीम में..."

..."मगर अनु" प्रणव ने कहा, "पैसा कहाँ से ?"

"कुछ था, कुछ नौकरियों की, कुछ कर्ज़ लिए -- एक बार शुरूआत करके फिर छोड़ने का सवाल ही नहीं उठा। किसी-न-किसी तरह से, पेट के बल रेंगते हुए सैनिक की तरह मैंने यह पुल पार कर ही लिया।" (पृ.107) "चिड़िया घर" की मिसेज रिज़वी (सहायक रोजगार अधिकारी) भी सफ़लता की अंधी दौड़ में शामिल है, अपना नाम कैरेक्टर रोल में अच्छे रूप में लाने के लिए कई हथकंडे अपनाती है ताकि उन्नति पाकर ऊँचे पद पर पहुँचे; अतः ट्रांसफर होने वाले अधिकारी स्मिथ से झूठ कहती है (उनका ट्रांसफर न हो सके) कि "सर, बहुत कम लोग जानते हैं, मिस्टर जौहरी के अंकल अपने डिपार्टमेंट के सेक्रेटरी है। आ"म श्योर जौहरी विल हेल्प यू।"[136] "सर, अभी जौहरी ने सेक्रेटरी से फोन पर बात की है। परसों यहीं आ रहे हैं। मेरा ख्याल है, आप उनसे यहीं मिल लें। जौहरी आपके साथ चले जायेंगे।"[138] ...मैं सोंचती हूँ, आपकी तरफ से मैं ही मिल आऊँ।"[139]

§जौहरी के पूछने पर§ "अगर उनका ट्रॉंसफर हो गया तो ?
-- तो चले जायेंगे।" ..."मिस्टर जौहरी, बॉस नाम का यह इंसान कुर्सी के सिवाय किसी का नहीं होता इसीलिए मातहत भी कुर्सी पर बैठे आदमी के नहीं हो पाते।"[140]

"आप तो नौकरी के दॉंव पेच जानती है। अगर मैं फँस गया तो मेरे लिए निकलना मुश्किल हो जाएगा। हम लोग उन्हें §सेक्रेटरी§ जानते नहीं उनसे मिले नहीं,
"बात को बिना समझे-बूझे ही कहे जा रहे हो ? आज हम लोगों के कैरेक्टर-रोल डाइरेक्टर को भेजे जा रहे हैं ...मैंने उन्हें बताया है -- सेक्रेटरी साहब ने कहा है "अगर आर्डर्स जारी नहीं हुए होंगे तो हम रुकवा देंगे। और मजे की बात यह है कि उनके और बिष्ट के ट्रॉंसफर आर्डर्स आ गये हैं; लेकिन कैरेक्टर-रोल डिस्पेच हो जाने के बाद डिलीवर होंगे। ...हम दोनों की एंट्रीस ए वन है। बिष्ट की एंट्री में बट जुड़ गया है।
"--उनका विश्वास हम लोगों पर से उठ जाएगा --
"आप है लटकन ! बंदे खुदा के, तुम्हारी समझ में यह बात नहीं आ रही है। यह अंग्रेज़ की औलाद साल भर में रिटायर होने जा रहा है। यह हमारा क्या बिगाड़ लेगा।" §पृ.।५५§ "दारूलशफा" का वकील कमला सिंह भी महत्वाकांक्षी है, भौतिक सुख-सुविधाओं और प्रसिद्धि पाने के लिए सफ़लता की अंधी दौड़ में शामिल हो जाता है और यशोदा वल्लभ के लिए केस लड़ने तैयार हो जाता है। "यशोदा वल्लभ के आने से लेकर आज तक कमला सिंह गरीबी, विपदाओं से भागकर दारूलशफा के माहौल में आया था। अब उसके पास मोटर थी, बंगला था, हज़ारों का बैंक बैलेन्स महीने-दर-महीने बढ़ता जा रहा था। ...उत्सुक दास का मंत्रिमंडल बनने

जा रहा था। कृष्ण वल्लभ मंत्री होंगे, जो चाहे हो सकता था। लेकिन भला चाहे भी तो क्या...कमला सिंह सोच रहा था। बड़े दिनों से सीनियर सरकारी वकील बनने की अभिलाषा उसके मन में पल रही थी। उसे मालूम था सरकारी वकील बनकर ही वह ऊँचाइयों की ओर बढ़ सकेगा। अभिलाषा और उपलब्धि के बीच अब कितना कम फासला बचा था। चरस की सिगरेट अब खत्म हो गई तो असली विल्स फिल्टर सुलगाकर अपनी नयी योजना के नशे में वह लौट चला यशोदावल्लभ के पास जहाँ ही उसका अब ठिकाना था।"(पृ.।।5)

राजनीति के क्षेत्र में बुद्धिजीवी नेता महत्वाकांक्षी होते हैं और सत्ता में बने रहने तथा ऊँचे पद के लिए कई तिकड़में भिड़ाते हैं, अवसरानुसार बदल जाते हैं तथा परिवार तक को छोड़ देते हैं। "काली आंधी" की मालती (संसद सदस्या) अति महत्वाकांक्षी है, वह किसी न किसी तरह सत्ता में बने रहना चाहती है। सफ़लता-जीत चाहती है। चुनाव के समय मालती स्वार्थवश अपने पति से होटल बंद कर देने के लिए कहती ताकि उसकी "जनता में बनी छवि" पर धब्बा न लगे" "आप यह होटल बंद कर दीजिए। ...इसलिए कि मैं पब्लिक में यह नहीं सुनना चाहती कि हम लोगों ने होटल को बहाना बना रखा है कि यह होटल हमारी काली आमदानी का ज़रिया है ... कि यह गंदे कामों के लिए इस्तेमाल होता है... इससे मेरी पब्लिक इमेज पर धब्बा लगता है ... और मेरी बदनामी का भी यही एक ज़रिया है। ... राजनीति की इस दुनिया में साफ चेहरे रखने के लिए बहुत नुकसान भी उठाने पड़ते हैं। और होटल का बंद होना कोई इतना बड़ा नुकसान नहीं है कि ....आप मेरी खातिर इतना भी न कर सकें।(पृ. 9-10) सफ़लता पाना ही उसके लिए मुख्य है, वह इतनी अवसरवादी है कि किसी भी समय कुछ भी करने को तैयार रहती है। चुनाव के समय पति-बच्ची को छोड़ने की बातें जनता में फैलती

हैं पति के साथ उसकी बदनामी होती है तो अपने पति के पास जाती है और कहती है कि "...मेरी वजह से आपको जो कुछ सुनना पड़ा है या बर्दाश्त करना पड़ा है; मुझे उसका अफसोस है और कुछ न भी हो तो भी इतना तो मैं हमेशा चाहती रही हूँ कि हमारा साथ रहना या अलग रहना ... हमारे बीच की बात रहे। ...इसमें दूसरे लोग दखल क्यों दे ? ... मेरे कारण आप दस तरह की बातें सुनें, बर्दाश्त करें और अपने दर्रे से उखड जाएँ ...यह मैं बर्दाश्त नहीं कर पाऊँगी ... प्लीज, आप रिजाइन नहीं करेंगे..."[89] पर यहाँ वह स्वार्थवश आती है गुरूसरन जी के अनुसार "मैं कैसे उन्हें बताता कि जरूरत पड़ने पर और वक्त पड़ने पर मालती जी कुछ भी कर सकती है --"[93] चुनाव में न हारे इसीलिए जग्गी बाबू का हालचाल ही नहीं पूछती बल्कि उन्हें चुनाव सभा में भी ले आती है। "....सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह थी कि मालती जी के साथ जग्गी बाबू भी चले आ रहे थे। (पृ. 95) (पति का इस्तेमाल चुनाव सभा में करती)"मुझे यह कहना है कि ये ... ये ... मालती जी ने बहुत स्निग्धता से जग्गी बाबू की तरफ देखा था, और उसी क्षण लल्लूबाबू ने जग्गी बाबू को दूल्हे की तरह उठाकर खड़ाकर दिया था और मालती जी ने कहा था - जी ! यही है मेरे पति। पति परमेश्वर, मेरे दोस्त, मेरे प्रेमी और मेरे यार। जो कुछ भी है, यही है। और ये मेरे साथ आपकी अदालत में मौजूद हैं इससे ज्यादा मैं और क्या कह सकती हूँ। एक औरत अपने चरित्र पर लगे इल्जाम का सबसे बड़ा सबूत क्या दे सकती है।" (पृ. 100-101) इस तरह सफ़लता के लिए अवसर मिलने पर अपने पति का उपयोग करने से हिचकती नहीं। अपने परिवार और पति के लिए उसके पास समय नहीं है क्योंकि वे उसकी ज़िंदगी की ज़रूरत नहीं है "आप तो सब जानते हैं गुरूसरन जी ...मैं यहाँ आई हूँ चुनावों के लिए ...मुझे जरूरत नहीं है कि कोई मेरा इस तरह ख्याल रखे ... मेरी जिन्दगी की जरूरत यह नहीं है...। (पृ. 54)

मालती को पता है कि परिवार को खोकर वह क्या पा रही है। गुरूसरण बाबू के अनुसार "ऐसा नहीं था कि लिली की उन्हें याद न आई हो या जग्गी बाबू के आने पर वे डांवाडोल न हुई हों -- पर उस वक्त जो कुछ उन्होंने सहा या खोया, उसके मुकाबले उन्होंने क्या पाया, यह वे अच्छी तरह जान रही थीं... और यह जानना भी उनकी सफलता का एक अहम जरिया था।" §पृ. 58§ अन्ततः परिवार को त्याग कर भी सफ़ल होना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य रह गया है "आगे बढ़कर उन्होंने बहुत प्यार से लिली को चूमा और बेतरह रो पड़ी थीं। फिर आँखें नीचे किए-किए ही उन्होंने जग्गी बाबू को नमस्ते किया था और आँचल मुँह में दबाए बाहर आ गई थीं।" §पृ. 133§ "भगोडा" का कथानायक "मैं" लेखक है, साथ ही यूनियन का लीडर भी। उसकी महत्वाकांक्षा उसे गाँव से खींचकर शहर लाती है और धीरे-धीरे वह अपनी यूनियन का अध्यक्ष बन जाता है "सुनिए, एक बात बताइए हम लोगों के अलग-अलग संगठन हैं। क्या हम सब मिलकर एक फेडरेशन नहीं बना सकते ? -- मैंने अचानक ही बात छेड़ दी। -- उस दिन आपने पंडित जी से कहा था कि फेडरेशन बनना चाहिए, हम भी यह सोच रहे थे। हमने सोचा बना ही ले तो अच्छा है ---हम लोगों की पहली बैठक मेरे ही आग्रह पर खूबसूरत से वातानुकुलित रेस्त्रॉं में हुई। वहाँ मैंने इसलिए बैठक की कि दिवाकर को भी आना था --- लेकिन वह नहीं आया -- लेकिन मुझे उससे एक लाभ जरूर मिला और वह अनायास ही मिला -- पहले महासंघ का मैं अध्यक्ष बन गया।" §100-101§ "दारूल शफा" के मुख्य मंत्री उत्सुक दास अति महत्वाकांक्षी हैं, वे सत्ता में आने या बने रहने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। जब पार्टी के सदस्य रहते हैं तो अपना प्रभाव सभी के बीच जमाने की कोशिश करते ताकि राजनीति के राज्य के सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकें। यही उनकी महत्वाकांक्षा है अतः वे सफ़लता की इस अंधी दौड़ में शामिल हो जाते हैं"उत्सुक उन दिनों पार्टी कार्यकारिणी के सदस्य बन चुके थे। तब से बड़े

नेताओं के पैर छू कर, हाथ जोड़कर अपने प्रभाव को बढ़ाने के अतिरिक्त वह युवक, मज़दूर नेताओं, सरकारी अफ़सरों, पत्रकारों, अभियन्ताओं, खूनी-डकैतों, ठेकेदारों, कोटा-परमिट के धन्धे वालों, काला-बाज़ारी करने वालों को अपने साथ बटोरते रहे। इनको शासन तंत्र का संरक्षण प्रदान किया। प्रत्येक ज़िले में कार्यकर्ताओं के गुट बनाये। गुस्पद स्वामी के नाम पर उनके हज़ारों बिखरे हुए प्रशंसकों समर्थकों को एकत्र करके, उन्होंने अपने प्रभाव में लेना शुरू कर दिया।

आज़ादी के बाद राजनीति का जो स्वरूप बन रहा था उसमें जनसंपर्क का अर्थ लोगों के ग़लत सही कामों को ठीक करना था। ...अन्य कई प्रकार के धन्धे चल निकले जिनमें कोटा, परमिट से लेकर ठेकेदारी में तक सरकार का हस्तक्षेप होने लगा। लोगों में होड़ लगी थी, कौन कितना लूट सकता है। कारू का ख़ज़ाना सामने था, उत्सुक दास कैसे चूक जाते। अफ़सर किसका आदमी, किन ज़िलाधिकारियों पर कितना विश्वास किया जा सकता, विभागों में प्रभाव डालने के लिए किससे कहना होगा, इस सबका ज्ञान उनको था। पुलिस,आबकारी, बिक्री कर, सिंचाई, बिजली, कृषि आदि विभागों की ओर उत्सुक दास ऐसा झुके, ऐसा चिपके जैसे शहद के छत्ते की ओर मधुमक्खी। (पृ. 27-28) उनके लिए सफ़लता ही सब कुछ है। पार्टी के आदर्शों को ताक पर रखकर विरोधी दलों के साथ सांठ-गांठ कर मुख्यमंत्री बन जाना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं है। बलदेव चौधरी के अनुसार "फिर इसमें उत्सुकदास, गुस्पद स्वामी का कौन मुकाबला कर पायेगा। ...वे तो सीधे-साधे तरीके से हमला कर देना ज्यादा कारगर समझते हैं। ...उनके पीछे बड़ी नामवारी थी, जिसकी वीणा पर पार्टी के तमाम विधायक साथ हो आते। ... या फिर विरोधी दलों के साथ सांठ-गांठ करके भी मुख्यमंत्री बन जाने का माद्दा था, उनके पास।"(पृ. 387) सफ़लता व धन के लिए वे गुस्पद स्वामी को भी नहीं छोड़ते जिनका उत्सुकदास को मुख्यमंत्री बनाने में भी हाथ था "उन दिनों उत्सुकदास

शतरंज के मोहरे लगा रहे थे, जिसकी हर चाल गुप्त रूप से गुरूपदस्वामी की जड़ें काटने को चली जाती। घपले विशेष अफ़सरों के माध्यम से गुरूपद स्वामी के विभागों में होते जिनका लाभ उत्सुकदास को मिलता, बदनामी गुरूपद स्वामी को।"(पृ.।।।-।।2) मुख्य मंत्री बनने के पहले पार्टी अध्यक्ष के आने पर वे स्वार्थवश चापलूसी करते हैं, एक समय वे पार्टी अध्यक्ष को अपमानित भी कर चुके थे पर अवसरवादी होने के कारण उनके स्वागत के लिए हवाई हड्डे जाते हैं, स्वयं गाड़ी का दरवाज़ा खोलकर बिठाते हैं और प्रशंसा करते हैं "पार्टी अध्यक्ष को उस समय का अपना अपमान कभी नहीं भूला, जब उत्सुकदास ने उनके बारे में कहा था,"उस चूतिये की क्या हैसियत। मेरी कार का दरवाज़ा खोलता था।" आज हवाई अड्डे पर उतर कर उन्होंने देखा उत्सुकदास अपने गिरोह के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बाहर जाने पर स्वयं उत्सुकदास ने फूलमाला पहनाकर उनका स्वागत किया। अपने साथियों के साथ, उनकी जय-जयकार की, समाजवाद ज़िंदाबाद के नारे लगाये। उत्सुकदास जानते थे, पार्टी अध्यक्ष अपनी जयकार से अधिक समाजवाद की जयकार सुनकर खुश होते। टर्मिनल के पास खड़ी हुई गाड़ी में, जब उत्सुक दास ने कार का दरवाज़ा खोलकर उन्हें बैठने के लिए कहा तो वह एक क्षण को रूके। उस समय उनको वही पुरानी बात याद आयी।"[135] चूंकि पार्टी अध्यक्ष मुख्यमंत्री पद के लिए उनके नाम की सिफ़ारिश करने वाले हैं यह सोचकर "हवाई अड्डे से आते वक्त, रास्ते भर, पार्टी अध्यक्ष की मोटर में, उत्सुकदास चापलूसी में लगे रहे। उनकी न जाने कितनी प्रशंसा की, पार्टी के कार्यक्रमों को सख्ती के साथ लागू करते हुए समाजवाद की ओर क़दम आगे बढ़ाने के लिए अपने दृढ़ संकल्पों की चर्चा की। विरोधी दलों की बढ़ती हुई शक्ति को बाँधने की अपनी योजनाएँ उन्हें बतलाते रहे।"(पृ.।36) मुख्य मंत्री बनने के लिए देखिए वे क्या तिकड़म करते हैं "दिल्ली में पश्चिमी दूतावासों ने बड़ी नौकरशाही के ज़रिये, बड़े उद्योगपतियों ने चुनाव

में खरीदे हुए नेताओं के ज़रिये, गुस्मद स्वामी ने राजनैतिक प्रभाव और खुद उत्सुक दास ने अपनी तिकड़म से प्रधानमंत्री के चारों ओर ऐसा समाँ बाँधा था, पार्टी अध्यक्ष से पूछा तक नहीं गया। यहाँ आने से पहले उन्होंने दो पर्यवेक्षक भेजे थे जिनकी अभी-अभी मिली रिपोर्ट में कुछ ऐसा भी नहीं था जिसके आधार पर उत्सुक दास को आज मुख्यमंत्री बनने से रोका जा सके। पर्यवेक्षकों के दारूलशफ़ा पहुँचते ही उत्सुकदास के आदमियों ने उन्हें घेर लिया। दारू के नशे में उनके निर्देश बह गए। मुजरा, ताश, सैर-सपाटा, बाज़ार-हाट में, पर्यवेक्षक ऐसा फंसे, उनको उत्सुकदास का विरोध कहीं दिखायी न दिया। चारों ओर अजब माहौल था। उत्सुकदास की पकड़ इतनी दूर तक जाती; भला उनके शिकंजे से, यह लोग कहाँ बचते। पर्यवेक्षक कितने विधायकों से मिले। उनको मिलाया ही गया उन लोगों से, जिनका उत्सुकदास को समर्थन प्राप्त था। रंगीन राय, लोबीराय का नाम; उनकी रिपोर्ट में लिखा गया लाल स्याही से, खतरे की घंटी बजने वालों में।" §पृ. 138§ और उत्सुकदास मुख्य मंत्री बने "मुख्य मंत्री, पार्टी अध्यक्ष-कार्यकारणी, संसदीय बोर्ड या विधायकों की गिनती से नहीं राजनीति की तिकडम से बना करता है, बलदेव चौधरी बस वहीं लटके रह गए और उत्सुकदास का मुख्यमंत्री पद के लिए नाम घोषित कर दिया गया।" §पृ. 204§

अपनी इन महत्वाकांक्षाओं की वजह से तथा सफ़लता का अमृत पीने के बाद अपनी तुलना जानवर से करने के बाद भी उत्सुकदास यहीं जीवन बिताने के लिए मजबूर है" ...यहाँ राजनीति की लड़ाई में, भूखे भेड़ियों के बीच, मैं भी किसी जानवर से कम नहीं। ...आस्था, विश्वास के संकल्प धीरे-धीरे पीछे छूटते जा रहे थे। ... कभी-कभी लगता, सब कुछ छोड़कर चला जाऊँ ... लेकिन कहाँ जाऊँगा ? ... किधर है मेरा ठिकाना। ... किस कगार पर, मेरी नाव लगेगी ? कोई भी तो नहीं है मेरा। ...रानी काली शंकर को छोड़ नहीं सकती, राहुल

रानी से दूर नहीं जाएगा। ...मैं, इसी नरक में सड़ता रहूँगा। ... मेरे पापों का शायद यही प्रायश्चित है। ... इस विशाल धरती में मेरे लिए कोई जगह नहीं। ... किसके कंधे पर सिर रखकर मन की शांति तलाश करूँ। ...हे भगवान् मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ। मेरी लिप्सा, कुत्सित आकांक्षाओं के घेरों की जकड़न भला छोडेगी। ...नहीं, अब भागना असम्भव है ..इन्हीं घेरों के दायरों में भटकना होगा। यही मेरा अन्त है।" (पृ.140) "उखडे हुए लोग" के संसद सदस्य देशबंधु को अपने भाषणों की पुस्तक व आत्मकथा को लिखवा कर प्रसिद्ध होने की महत्वाकांक्षा है अतः वह शरद से कहता है" --अच्छा हाँ, ऐसा करो शरद बाबू, तीन चार दिन लगाकर इस अलमारी में रखी फाइलों में से मेरे भाषण इस दृष्टि से इकट्ठे कर डालो की उनकी एक किताब छपवा दी जाय।[123] ...अच्छा एक काम करो शरद बाबू, मैं तुम्हें अपने पिछले जीवन की विस्तृत कथा कभी सुनाऊँगा। तुम आवश्यक नोट्स ले लेना। फिर फर्स्ट पर्सन में हीं उन्हें डेवलप कर देना। मुझे जरा भी टाइम होता तो मैं जरूर ही कर देता। जब भी जहाँ भी दिक्कत हो मुझसे सलाह ले लेना। किताब ऐसी चटखदार शैली में आये कि लोग भी दंग रह जायें और समझे की हाँ, आत्म-कथाओं में कोई नयी किताब आई है। मैं समझता हूँ उसके तीन भाग हो सकेंगे : पहला चढ़ाव..."(पृ. 320)

महत्वाकांक्षी और सफ़लता की अंधी दौड़ में शिक्षक भी शामिल हैं- स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक के। "भ्रम भंग" का चन्दर अति महत्वाकांक्षी है, कुछ विशिष्ट बनने की सोचता है "काम करने की, संघर्ष करने की एक परम्परा नस-नस में व्याप गई है।...मैं भी तो थक गया हूँ...। जिस दिन मान लूँगा, मेरी मौत हो जायेगी। ...इसीलिए नहीं मानना चाहता। जब एक लकड़हारे का लड़का अब्राहम लिंकन बन सकता है, बेकर का बेटा नेपोलियन हो सकता है या एक मध्यवर्गीय परिवार से सरदार पटेल या जयप्रकाश नारायण निकल सकते हैं तो

मैं चन्दन नेगी, भी कुछ विशिष्ट बन सकता हूँ। मैं बनूँगा ... अवश्य बनूँगा।[133] यूनिवर्सिटी में पद पाने की आकांक्षा में चन्दर स्वार्थवश पुस्तक और थीसिस दोनों भी अपने निर्देशक को समर्पित करता है "...सुमन, तुम्हीं ये चैप्टर लिखवा रही हो। सोचता हूँ, पुस्तक तुम्हीं को समर्पित कर दूँ। ...लेकिन नहीं; यह भी अपने रिसर्च गाइड को समर्पित करनी पड़ेगी। थीसिस भी और यह पुस्तक भी। यहाँ की यही परम्परा है। अपने माता-पिता से भी ज्यादा गाइड का स्थान होता है। माता-पिता तो सिर्फ़ जन्म देते हैं। गाइड डिग्री दिलाता है। ...डिग्री, जिससे नौकरी मिलती है....। नौकरी और प्रमोशन...। इसीलिए सुमन, यह पुस्तक भी गाइड को समर्पित होगी। भले ही प्रमोशन मिले या न मिले। ...किसी यूनिवर्सिटी में लग जाने का मोह। ...मृगतृष्णा। मैं जानता हूँ यूनिवर्सिटी में कौन लोग लगते हैं। कैसे लगते हैं। कैसे लगाये जाते हैं। फिर भी एक दूर की सम्भावना...। महत्वाकांक्षी हूँ...। महत्वाकांक्षी को सौ जोड़-तोड़ करने पड़ते हैं सुमन....। क्या तुम नहीं चाहती मैं ऊपर उठूँ ? जरूर चाहती होगी।...तभी तो...। यह पुस्तक ... यह थीसिस भी ...। तुम्हें कुछ भी समर्पित नहीं हो सकता...।" §पृ.105§ इस तरह अपनी महत्वाकांक्षा को पूरी करने के लिए, जीवन में सफ़लता के सर्वोच्च शिखर पर बैठने के लिए हर क्षेत्र में अलग-अलग नुक्सें हैं, तिकड़में हैं, चापलूसी के विभिन्न रूप हैं। यह मूल्य हमारे बुद्धिजीवियों को आदर्श के स्थान से गिरा कर उन्हें स्वार्थी, अवसरवादी, ईर्ष्यालू तथा कुछ न कर सकने पर अपनी स्थिति पर विवश हो असहाय-सा जीवन व्यतीत करने पर मजबूर कर रहा है।

"दीक्षांत" के डॉ. विद्याभूषण शर्मा की आकांक्षा है कि वे "डिग्री" स्तर की कक्षाएँ लें। जहाँ वे पढ़ाते हैं वहीं डिग्री कॉलेज के प्राध्यापक के जाने पर वहाँ डिग्री कक्षाएँ लेने की कोशिश करते हैं क्योंकि वे योग्य व क्वालिफ़ाइड हैं लेकिन प्रिंसिपल से कहने के लिए झिझकते हैं "फिर जैसे झुंझलाकर अपने आप पर ही उबल पड़े ... क्यों नहीं दी जा सकेगी, दी जानी चाहिए ही ... मैं सबसे ज्यादा क्वालिफ़ाइड हूँ, पी-एच.डी. मुझे छोड़ कर किसी ने नहीं की है। मुझे छोड़कर यह पद किसी

को देना सरासर अन्याय होगा। यह मेरी ही नहीं, विद्यालय की प्रतिष्ठा का भी सवाल होगा कि संस्था में एक क्वालिफ़ाइड व्यक्ति के रहते उसे उसके अधिकार से वंचित रखा जाये ..."(पृ. 50) अतः वे प्रिंसिपल राजदान से प्रार्थना करते हैं; (खानगी संस्था को सरकार द्वारा ग्रांट मिलेगी पर एम. एल. ए. भानजे को शर्मा जी के स्थान पर नौकरी देने के बाद) डिग्री कक्षाएँ देने की अपेक्षा उनकी महत्वाकांक्षाओं का गला घोंटा जाता है, उन्हें कॉलिज से निकाल दिया जाता है "मेरी आपसे पूरी सहानुभूति है। मैं जानता हूँ आप सम्मानित, आदर्शवादी उसूलों वाले अध्यापक हैं। आपके पास ऊँची क्वालिफिकेशन भी है। इसलिए आप ऐसा कीजिए ... सैंकड टर्म तक या दो-तीन महीने तो चलाइए ही ... उसके बाद अगले सत्र यानी नेक्स्ट इयर तक कहीं और देख लीजिए।" (पृ. 84) "विपात्र" के राव साहब सफ़लता की सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए हमेशा अवसर की तलाश में रहते हैं "राव साहब इस वक्त जिस सीढ़ी परहैंउसकी अगली सीढ़ी का नक्शा बराबर ध्यान में रखते थे। उस अगली सीढ़ी पर चढ़ने की तरकीबें भी जानते थे और अपना मुँह हमेशा उसी तरफ रखते। वे सिर्फ मौजूदा जरूरत के लायक पढ़ लिया करते। सामाजिक वार्तालाप में पिछड़ जाने के भय पर विजय प्राप्त करने के लिए वे दो चार अखबार भी रोज़ देख लिया करते। प्रायः चुप रहते और मेहनत करते। महाकाव्य के धीरोदात्त नायक की भाँति ही, धर्म, बुद्धि, कर्तव्यपरायणता और दयाशीलता की सुशिल्पित मूर्ति थे। लेकिन काम पड़ने पर, अवसर के अनुसार पवित्र नियमों से इधर-उधर हटकर भी अपना मतलब साध ही लेते हैं।" (पृ. 5) "नदी के द्वीप" का चन्द्रमाधव अत्यन्त महत्वाकांक्षी है वह अपने साधारणपन से उठकर विशिष्ट बनना चाहता है पर न बन पाने के कारण दुखी है "पर यही तो असल बात है-- यह साधारणपन ही तो असली खा जाने वाला घुन है; यह तो सबसे बड़ा, सबमें घुभने वाला, अकिंचनता की कसक से बराबर सालते रहने वाला दुःख है।"(पृ. 44)

"पचपन खम्भे लाल दिवारें" की सुषमा उच्च पद पर या उन्नति पाने की सम्भावना के कारण "नील" से विवाह करने से इन्कार कर देती है "कितनी ही बातें ऐसी थीं जो कि वह नील को समझा नहीं पा रही थी। अगले साल उसका सीनियर ग्रेड में आ जाने का मौका और वह प्रिंसिपल से मनमुटाव नहीं करना चाहती थी। सीनियर ग्रेड में आकर उसका वेतन एकदम सात सौ रूपये हो जाता और वार्डनशिप का भत्ता मिलाकर उसे आठ सौ रूपये मिलते।"[114] और "कुछ दिन अवसन्न और क्लांत पड़े रहने के बाद सुषमा ने जाकर प्रिंसिपल से कह दिया था कि यदि उन्हें नील के कॉलिज आने पर आपत्ति है तो वह नहीं आयेगा। उन सबको नील के सम्बन्ध में गलती हुई है।" (पृ.111) इस तरह सुषमा अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु अपना परिवार बनने से पहले ही उजाड़ लेती है। नील उसकी महत्वाकांक्षा को समझ जाता है और जाते-जाते कह जाता है कि "तुम्हारी ऐसी क्या मजबूरी है ? ...क्या तुम्हें किसी और की प्रतीक्षा है, कोई ऐसा जो कि तुम्हारी नज़रों में तुम्हारा पूरा मोल चुका सके। तुमने अपने ऊपर जो प्राइस-चिट चिपका रखी है, उतना सब देने को मेरे पास नहीं है ...। ...ठीक है, तुम यहीं रहो, इन पचपन खम्भों में बंदी होकर। मैं तुम्हारे बहकावे में आ गया था। मैं सोचने लगा था कि तुम्हारे लिये मैं ही सब कुछ बन गया हूँ। मैंने अब जाना कि तुम्हारे पास खूबसूरत चेहरे के अलावा एक बहुत व्यावहारिक बुद्धि और अपना भला समझने वाला दिमाग भी है।" (पृ.115) विडम्बना यह है कि सुषमा अपनी महत्वाकांक्षा के कारण नील के साथ सम्बन्ध तो तोड़ लेती है पर अपनी भावी स्थिति का उसे बोध रहता है "सुषमा उन (छात्राओं) चेहरों पर असन्तुष्टि-देखती, और वह उसे बहुत आघात पहुँचाती। कागज समेटती हुई वह सोचती -- नील के बगैर मैं कुछ भी नहीं हूँ, केवल एक छाया, एक खोये हुए स्वर की प्रतिध्वनि; और अब ऐसी ही रहूँगी, मन की वीरानियों में भटकती हुई।"(पृ.122) इसी उपन्यास की संस्कृत प्राध्यापिका मिस दुर्गा शास्त्री अपने वार्डन बनने की महत्वाकांक्षा के

लिए सुषमा को वार्डन पद से हटाने के लिए अपनी सहयोगिनों के साथ योजना बनाती है (सुषमा-नील के सम्बन्धों को लेकर) जो इस प्रकार है "प्रिंसिपल तक रिपोर्ट पहुँच जाय तो बस काम बना समझो। सर्विस का तो कान्ट्रेक्ट होगा, पर वार्डनशिप छोड़ने को तो विवश किया ही जा सकता है। ..."हमें आपको क्या करना है ? दो-तीन लड़कियों से प्रिंसिपल को चिठ्ठी लिखवाना ही पर्याप्त है कि सुषमा वार्डन पद के लिए उपयुक्त नहीं। उसका आचरण अनैतिक है। प्रिंसिपल हम लोगों को बुलाकर पूछेंगी, क्योंकि हम लोग भी यहीं रहते हैं, तो कह देंगे कि देखा तो हमने भी है।" (पृ. 89) "अपना मोर्चा" के डॉ. राय और गर्ग बहुत ही महत्वाकांक्षी हैं अतः अपने विभाग के अध्यक्ष व रीडर पद के चुनाव के समय कुलपति की चापलूसी के लिए उनकी भाषागत रुचि को मालूम करना चाहते हैं ताकि वे अपना भाषण कुलपति की रुचि वाली भाषा में दे सकें इस तरह वे अवसर के अनुसार कार्य करने वाले अवसरवादी हैं "और चूँकि ...विभाग में अध्यक्ष और ....विभाग में रीडर का चुनाव होने वाला है इसलिए डॉ. राय और गर्ग हर हालत में समय लेकर बोलेंगे। उनके सामने समस्या केवल यह है कि वे किस भाषा में बोलें -- अंग्रेज़ी में या हिन्दी में ? वे भाषा पर बंगाली कुलपति का रूख जानने के लिए बेचैन हैं।" "रेखा" के डॉ. अरोडा अध्यक्ष पद पाना चाहते हैं चूँकि डॉ. योगेन्द्रनाथ मिश्र को, प्रो. प्रभाशंकर चाहते हैं और अपना उत्तराधिकारी मान उसे अध्यक्ष बनाना चाहते हैं अतः डॉ. अरोडा, डॉ. मिश्र व रेखा के बीच सम्बन्धों की बातें पूरी यूनिवर्सिटी में फैला देते हैं ताकि डॉ. मिश्र इस्तीफा देकर कहीं चले जाएं और वे निर्विरोध अध्यक्ष बन जाएं। प्रो० प्रभाशंकर, डॉ. मिश्र को रेखा से मिलने-जुलने पर रोक लगा देते हैं तब डॉ. मिश्र कहते हैं "आप जो कहते हैं उस पर अमल करूँगा। मैं यह कह सकता हूँ कि यह क़दम गलत होगा। यह केवल भय का ही प्रदर्शन होगा मेरी ओर से, और भय अपराध का द्योतक है। मैं तो इससे भी कड़ा क़दम उठाने के लिए प्रस्तुत होकर आया हूँ। मैं विश्वविद्यालय से इस्तीफा दे रहा हूँ।" ...

तो योगेन्द्र, तुम डॉक्टर अरोडा के बिछाये जाल में फंस रहे हो। तुम्हारे रहते उन्हें बढ़ने का मौका नहीं मिलेगा, वह जानते हैं और वह चाहते हैं कि तुम मुझसे दूर हो जाओ ? नहीं योगेन्द्र, तुम्हें रिजाइन नहीं करना है।" §पृ. 253§

"रूकोगी नहीं राधिका" के भौतिक शास्त्र के प्राध्यापक दिवाकर की विदेश जाने तथा भौतिक-जीवन के सुख-साधनों की महत्वाकांक्षा इस तरह प्रकट होती है"मेरी बीवी कहती है कि हमें अपने देश का त्याग नहीं करना चाहिए। हमें अपने देश में ही रहना चाहिए, अपने बच्चों का भविष्य देखना चाहिए। मेरा कनेडियन प्रोफ़ेसर मुझे कई चिट्ठियाँ लिख चुका है, पर मेरी बीवी कहती है कि मुझे यहीं रहना चाहिए। बहुत सीधी-सादी, बहुत प्यारी-सी है औरत है वह। पर मैं पूछता हूँ कि मेरे देश में मेरे लिए क्या है ? मेरे कॉलिज में मेरे आगे के काम लायक लैब नहीं है, मेरे बच्चों को अच्छे स्कूल में दाखिला नहीं मिल रहा है। एक स्कूटर खरीदने के लिए मुझे बरसों इन्तज़ार करना पड़ रहा है, मेरा वेतन इतना नहीं कि मैं कभी चार दोस्तों को बुलाकर उन्हें अच्छी शराब पिला सकूँ या एक नौकर रख सकूँ जिससे कम से कम मुझे दूध लेने के लिए लाइन में न खड़ा होना पड़े।" §पृ. 87-88§ "गोबर गणेश" का विनायक अधिक सफ़लता के लिए इलाहाबाद जाना चाहता है वह सोचता है "नैनीताल उसकी प्रतिभा के लिए छोटा पड़ गया है और अब इलाहाबाद ही उसे चमका सकता है।" §पृ. 212§ इतना ही नहीं उसकी महत्वाकांक्षा उच्च वर्ग में मिलने की है "क्या उसमें यह सन्तोष भी निहित नहीं था कि उसने जैसा संसार देखा-जाना है, उससे अलग और ऊँचे एक भद्र लोक में उसका स्वागत हो रहा है -- एक उच्च कोटि का अधिकारी उससे प्रभावित होकर उसे बराबरी की मैत्री के स्थान पर प्रतिष्ठित कर रहा है। तो क्या शान्तम् के प्रति उसके आकर्षण के मूल में कहीं उसकी वही महत्वाकांक्षा, वही अपने वर्ग से ऊपर उठकर भद्रलोक का सदस्य बनने की लालसा ही तो काम नहीं कर रही है ?" §पृ. 269-270§ विनायक की महत्वाकांक्षा अपूर्ण रह जाने पर शान्तम् के साथ विवाह न होने से

उसकी असफलता का प्रभाव शिक्षण पर पड़ता है" ..."मेरे गले में हठात् कुछ फंस गया था। मेरे लिए उस पंक्ति को पढ़ाना तो क्या पढ़ना भी मुश्किल हो गया था ... कई सारी आँखें मुझ पर आ टिकी थीं...मैं उनसे कतराता हुआ अपने ऊपर काबू पाने की कोशिश में और फिसलता जा रहा था।"{पृ. 326}

4.3 शोषक और शोषित की दोहरी भूमिका

शोषक वर्ग के हाथों जिस तरह मज़दूर वर्ग शोषित होता है ठीक उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग भी बौद्धिक रूप से शोषित होता है। शोषित होकर उसकी स्थिति भी शोषित वर्ग-सी हो जाती है लेकिन वह अपने शोषित होने की नियति को स्वीकार नहीं करता और निम्न वर्ग के समान अपने को शोषित नहीं मानता। दूसरी ओर मौक़ा मिलते ही बुद्धिजीवी स्वयं शोषक बन जाता है और दूसरे बुद्धिजीवियों का शोषण करने लगता है। इस प्रक्रिया में वह अपने आत्मीयजनों को भी नहीं बख़्शता।

"विपात्र" का कथानायक "मैं" भी शोषित है उसकी आर्थिक स्थिति भी निम्न वर्ग के समान है और उसे अपनी इस स्थिति का ज्ञान है, वह सोचता है

"सच है कि हम श्रम बेचकर पैसा कमाते हैं। लेकिन श्रम के साथ हम न केवल श्रम के घण्टों में वरन् उसके बाहर भी अपना-अपना संघर्ष-स्वातन्त्र्य, विचार-स्वातन्त्र्य और लिखित अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य भी बेच देते हैं। और यदि हम अपने इस स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने लगते हैं तो पेट पर लात मार दी जाती है। यह यथार्थ है। इस यथार्थ के नियमों को ध्यान में रखकर ही पेट पाला जा सकता है, अपना और बाल-बच्चों का।

...क्या मेरी अपनी उन्नति के लिए, समाज में मेरी बढ़ती के लिए मुझे भी उसी तरह अपनी पूंछ हिलानी पड़ेगी ? वास्तविकता यह है कि अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से पूंछ हिलाते हैं। मेरा भी पूंछ हिलाने का अपना तरीका है। मैं पहले अपने पंजे मालिक की गोद में रख दूँगा और फिर दाँत निकाल कर मालिक के मुँह की तरफ देखते हुए पूंछ हिलाऊँगा। दूसरे कुत्ते, दरवाजे में खड़े होकर पूंछ हिलाते हैं। कुछ कुत्ते पास आने की लगन बताते हुए बीच-बीच में भौंकते हैं, गुरति हैं और पूंछ हिलाते रहते हैं। मतलब यह कि स्थिति-भेद और स्वभाव के अनुसार पूंछ हिलाने की अलग-अलग शैलियाँ हैं। तो मैं यह नहीं कह सकता कि मैं पूंछ नहीं हिलाता।"

"मैं" को अपने वर्ग में रहने का मोह है लेकिन धीरे-धीरे उसकी आर्थिक स्थिति निम्न वर्ग की-सी हो जाती है जिसका उसे ज्ञान है जब जगत उसे नौकरी को दुत्कार देने के लिए कहता है तो "मैं" कहता "दुत्कारना आसान है। मेरी भी यह पन्द्रहवीं नौकरी है। लेकिन पेट पालना बहुत मुश्किल है। मेरे घर में सारे दुर्भाग्य मौजूद है-- लम्बे-लम्बे रोग, भारी कर्ज़, कलह और मानसिक अशांति बीसियों साल से घर किये बैठे हैं। उन्होंने मुझे भी चुना है। बाल-बच्चों को सड़क पर फेंककर भले ही मैं कुछ कर जाऊँ, लेकिन मैं उतना कठोर नहीं हो पाता, शायद कोई भी नहीं हो सकता।"

...हमें अपने वर्ग में रहने का मोह है, निचले वर्ग में जाने से डर लगता है। लेकिन क्रमशः हमारी स्थिति गिरते-गिरते उन जैसी ही होती जाती है। ...तो वहाँ सहर्ष ही क्यों न पहुँच जायें। लेकिन वहाँ भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि उस स्थान पर भी उत्पीड़न घोरतर है।" (पृ. 39-40)

"दीक्षांत" के शर्मा सर की स्थिति तो घर के नौकर-सी हो गयी। जिस घर में वे ट्यूशन पढ़ाते हैं वहाँ घर का कार्य भी करते हैं "मास्टर जी, जरा लौटते हुए लक्ष्मी आयल मिल में ये थैला देते आइएगा..., या फिर बड़ा वाला कहेगा - सर ! मम्मी ने कहा है जरा ये लेटर रजिस्ट्री करने हैं।"(पृ. 3)

"भ्रमभंग" का चन्दन भी अपनी शोषित-सी स्थिति पर सोचता है "कितनी श्रेणियाँ हैं व्यक्तियों की। ... व्यक्ति श्रेणियों में बंटना स्वाभाविक है ? शायद नहीं...। शायद क्या, बिल्कुल नहीं। कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ ...। कुछ व्यक्तियों का शोषण....। शोषक और शोषित। इस शोषण की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए भाग्यवाद और कर्म फल के फार्म्यूले। भाग्यवाद ....? शोषितों के लिए दिलासे की घूँट...। शोषकों के लिए मनमानी करने की छूट...। मैथ्यू से लेकर मोतीराम तक सब पिसते रहेंगे। रमेश से लेकर चन्दन तक भी। कृपलानी का वर्ग फलता रहेगा। सेक्सरिया और बग्गड का भी...। ज्योति का भी ...। पिसना हमें है ...। लेकिन हम क्यों पिसें ....?

पर इस व्यवस्था में हमें पिसते रहना है। ऊँच और नीच की यह व्यवस्था। छोटे और बड़े की। शोषक और शोषित की। ...इंटरव्यू में आने के लिए कितनों के सामने हाथ फैलाना पड़ा था...। हाथ फैलाने की विवशता। मजबूरी...। पैसा कितनी बड़ी चीज़ है। कभी-कभी कितनी बड़ी चीज़ हो जाती है। मैथ्यू की माँ बीमार है। केरल का कोई झोंपड़ा। नारियल के झुरमुट। गंदे बिस्तर पर मां पड़ी होगी। न दवाई होगी न पास बैठने वाला। मैथ्यू ने सबसे कहा है। कुछ उसे देंगे, कुछ टरका देंगे। कुछ की मजबूरी होगी। कहाँ फ़र्क है मुझमें और मैथ्यू में। उसे भी माँगना पड़ता है, मुझे भी।

कभी-कभी कितना बुरा लगता है। ...यह सफ़ेद कॉलर। कितना बड़ा पाखण्ड है। कभी-कभी बीच सड़क पर नंगा हो जाने को मन करता है...। मन करता है, ज़ोर-ज़ोर से चिलाऊँ - मुझे देखो। मैं आज़ाद देश का अध्यापक हूँ...। सरकारी कॉलिज का अध्यापक। मेरी असलियत यही है। बाकी सब पाखण्ड है। ये कोट, यह पैण्ट। ...ये टाई। मैंने इनको अपना पेट काट-काट कर जोड़ा है।

इनको खरीदने के लिए मुझे भूखा रहना पड़ा है। यदि मेरा वश चलता तो पेट-भर खाता और क्लास में पढ़ाने के लिए नंगा आता। लेकिन नहीं...। अध्यापक को सभ्य होना चाहिए। वह भूखा भले ही रह ले लेकिन उसे कपड़े जरूर ही पहनने चाहिए। चाहे उन्हें वह फुटपाथ से ही क्यों न खरीदे...।"(पृ. 92-93)

"भ्रमभंग" का चन्दन बौद्धिक श्रमिक होकर रह गया है "मेरे रात-दिन दोनों व्यस्त हो गये हैं। दिन भर काम की खोज में भटको। समीक्षा के लिए पुस्तकें। फ़िल्मी ब्राशुओं के अनुवाद। प्रकाशकों के लिए गाइडें। सेठियों के लिए भाषण। दिन भर काम इक्ट्ठा करो और रात को उसे पूरा करो।" (पृ. 16) पूंजीवादी जिस तरह श्रमिक का खून चूस लेते हैं उसे असमय ही मौत के कग़ार पर ला खड़ा कर देते हैं वैसी स्थिति "चन्दन" की हो जाती है -- "...कार्डियोग्राम नार्मल नहीं है।...छत्तीस साल की उम्र और हार्ट ट्रबल! एन्जाइना। ..."...कितने सारे निषेध। क्या बची हुई जिन्दगी निषेधों के बीच गुज़ारनी होगी। अभी तो आधा ही जी पाया हूँ। आधी ज़िन्दगी अभावों, अपेक्षाओं और अपमानों के बीच बीती और आगे की आधी निषेधों के बीच बीतेगी। चन्दन तुम्हारा यही होना था क्या ? तुम क्या इसीलिए जनमें थे कि अभिशप्त होकर जियो।" (पृ. 199) लेकिन बुद्धिजीवी इतना क्षुद्र है कि पहला मौक़ा मिलते ही वह अपने समधर्मी का शोषण करने से नहीं चूकता। "उखड़े हुए लोग" के नेता देशबन्धु अपने भाषणों को पुस्तकाकार रूप में छपवाने के लिए शरद बाबू से काम लेते हैं --- "ऐसा करो शरद बाबू, तीन चार दिन लगाकर इस अल्मारी में रखी फ़ाइलों में से मेरे भाषण इस दृष्टि से ही इकट्ठे कर डालो कि उनकी एक किताब छपवा दी जाये।" (पृ. 23) इतना ही नहीं वे अपनी आत्मकथा भी लिखवाना चाहते हैं -- "एक काम करो शरद बाबू, मैं तुम्हें अपने पिछले जीवन की विस्तृत कथा कभी सुनाऊँगा। तुम आवश्यक नोट्स ले लेना। फिर फर्स्ट पर्सन में ही उसे डेवलप कर देना। मुझे ज़रा भी टाइम होता तो मैं ज़रूर कर देता। जब भी

जहाँ भी दिक़्कत हो तो मुझसे सलाह ले लेना। किताब ऐसी चटख़ारदार शैली में आये कि लोग दंग रह जाये और समझे कि हाँ, आत्मकथाओं में कोई नयी किताब आई है।" (पृ. 320) इसी तरह "नगर पुत्र हँसता है" का परमेश्वरी (कौशलजीवी) गुणाकर का बौद्धिक शोषण करता है, उसे अपने कार्यालय में नौकरी देकर अपने लेख पुनः लिखवाकर छपवाता है और गुणाकर शोषित होने पर मजबूर है। उसे बुलाकर कहता है "हमारा ही कुछ काम करो। मैंने बताया था न कि मैं और अपने तिवारी जी काबुल एक सांस्कृतिक टूर पर गये थे। वहाँ हमने बहुत कुछ देखा। मैं तो ख़ैर जरा घुमक्कड़ टाइप का आदमी हूँ, इसलिए वहाँ के नोट्स क्रम से न ला सका, लेकिन तिवारी जी बहुत काम के पक्के हैं। रोज़ रात को सोने के पहले डायरी लिखते थे। अब यह सब चीज़ यहाँ देश के लोग भी जानें कि आखिर काबुल में हमने क्या देखा, क्या सुना, और हमारी यात्रा से भारत और अफ़ग़ानिस्तान कितना निकट आ गए हैं ? ...फ़ाइल से अपनी और तिवारी जी की फ़ोटो निकाल कर बोला "इन्हें भी लेख के साथ दे देना। कल इतवार है। मैंने तिवारी जी का डायरी नुमा लेख और अपना यात्रा लेख तैयार कर दिया है, लेकिन फिर भी तुम ज़रा सुधार देना, मेरा मतलब है-- आवश्यक काट-छाँट कर लेना। बस, इसी माह इसे किसी अच्छी पत्रिका में छपा दो।" (पृ. 192) पत्रकार गुणाकर शोषित होने को विवश है क्योंकि उसकी पत्रकारिता की नौकरी जा चुकी है और उसकी स्थिति निम्न वर्ग से कम नहीं है "कर्ण के कवच और कुंडल की तरह सदा शरीर पर चिपके रहने वाले अलंकार घड़ी, अंगूठी और गले की सोने की चेन न मालूम कब दो टाइम की रोटियों के प्रबन्ध में बिक गये। क़ीमती दो चार पुस्तकें भी सस्ते दामों में बिक गईं। कुछ और भी सामान बिक गया, और अब बेचने को कुछ रहा भी नहीं, इसलिए सोचना पड़ रहा था कि अगला आने वाला दिन कैसे कटेगा।" (पृ. 178) अपनी स्थिति पर सोचता है "मैं इस तरह परमेश्वरी के हाथों में खिलौना किस प्रकार बन गया हूँ। मेरी पिछली सारी मान्यताएँ कहाँ सो गईं। एक साथ कई प्रश्नों ने मुझे झकझोर दिया। लेकिन मन में इन सारे प्रश्नों में डूबते-उतरते हुए भी मैं परमेश्वरी से कुछ कह नहीं पाया। वह जैसा चाहता था वैसा घूम रहा था।" (पृ. 184) इस तरह शोषित होते हुए गुणाकर "निम्न वर्ग" की बस्ती में पहुँच

गया, जहाँ उसमें व निम्न वर्ग की स्थिति में कोई अन्तर नहीं रह गया "सहसा मुझे सीताराम का ध्यान आ गया। ....उसके आस-पास सस्ता-सा कमरा भी मिल सकता है। सीताराम जहाँ रहता है वह जगह तो बहुत छोटे लोगों से आबाद है। गन्दगी भी बहुत है, मगर मैं इस समय जिस हालत में हूँ उसमें तो वहीं पर रहकर दिन काटे जा सकते हैं। साधन जुट जायेंगे तो फिर अच्छी कॉलोनी में घर ले लेंगे।" §267§

"विपात्र" के कथानायक "मैं" के द्वारा कहे गए वाक्य "गुणाकर" की स्थिति पर सटीक बैठते हैं "हमें अपने वर्ग में रहने का मोह है, निचले वर्ग में जाने से डर लगता है। लेकिन क्रमशः हमारी स्थिति गिरते-गिरते उन जैसी ही होती जाती है।"[39-40] "परछाइयों के पीछे" का शिक्षित कौशलजीवी महीपाल अपनी पत्नी का ही आर्थिक रूप से शोषण करता है-यह बात सुमित्रा के इस कथन से स्पष्ट होती है "मेरी तनख्वाह में से जो हर महीने तुम आधों-आध नकोट लेते हो सो ? किसी महीने जरा-सी भी देर हो गई तो कितनी दफ़ा तुमने फ़ोन किया है, चिट्ठी लिखी है। इसी का तो नाता है न तुम्हारा मेरा ? जब रुपये की याद आती है चिट्ठी-फोन तभी याद आता है।" §पृ. 148-149§

मसीजीवी शोषित होते हैं प्रकाशकों द्वारा। उन्हें अपने शोषित होने का ज्ञान रहता है, उसका विरोध करना चाहते हैं पर शोषित होने के लिए विवश हैं अन्यथा भूखों मरना पडेगा। "नरक-दर-नरक के विनय गुप्ता, मुकुलेश और सुमन की यही स्थिति है "विनय गुप्ता, मुकुलेश और सुमन के साथ-साथ जोरों से चिल्लाता, "लेखक-एकता : जिन्दाबाद", "भ्रष्ट प्रकाशक हाय हाय।" "हिन्दी के लेखकों एक हो जाओ", "दुष्ट प्रकाशकों का नाश हो।" ...उषा को आश्चर्य न होता। उसे पता होता कि लेखक-एकता, एरिस्टोक्रेट की तिकोनी बोतल और बेगम अख्तर की गजलों में बड़ा चलाचली का रिश्ता है। उसे अहसास था कि यहाँ से जाकर विनय गुप्ता अपनी "हिन्दी

साहित्य की मीमांसा के तृतीय संस्करण की पांडुलिपि ठीक करने में लग जायेगा, मुकुलेश कल सौ की जगह अस्सी रुपये में ही कवर डिज़ाइन बना डालेगा और सुमन अपने कहानी-संग्रह का कापी राइट साढे तीन सौ रुपये में बेच देगा।" (पृ. 197) "अंधेरे बंद कमरे" के मधुसूदन की स्थिति निम्न वर्ग से कम नहीं "और बहुत जल्दी ही वह दिन भी आ गया जब मेरी जेब बिल्कुल खाली हो गयी। आखिर छः आने जेब में लिये हुए मैं आखिरी बार "इरावती" के सम्पादक से पूछने गया कि अब भी उसने कुछ निश्चय किया है या नहीं।" (पृ. 28) "गिरती दीवारें" का चेतन अपने सम्पादक के हाथों शोषित होता है और सम्पादक अपने ही वर्ग का शोषण करता है जिसका पता चेतन के द्वारा अनन्त को लिखे पत्र से चलता है "...यह भी कोई जीवन है ? मैं सोचता हूँ, क्या मैं इसीलिए घर से भागा था ? मैंने अनुवाद सीख लिया है और आठ घंटे बिना सिर उठाये अंग्रेज़ी तारों का अनुवाद करता हूँ, प्रूफ पढ़ता हूँ और फिर जुल्म यह है कि इतने काम के बावजूद सम्पादक साहब चाहते हैं कि मैं अब भी प्रति सप्ताह एक कहानी पत्र के साप्ताहिक अंक के लिए लिखा करूँ।" (पृ. 13) यहाँ से बचकर चेतन "कविराज" के हाथों शोषित होता है। वे उसे शिमला ले जाते हैं "आराम" के बहाने और प्रस्ताव रखते कि एक पुस्तक उनके लिए लिख कर दे।

तब चेतन, उनकी सहृदयता से प्रभावित हो पुस्तक लिखने के लिए राजी हो जाता है "तब कविराज जी ने, जैसे विवश होकर उसे बताया था कि उनका विचार बच्चों के जन्म-मरण और लालन-पालन के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखने का है। उन्होंने उसे अमेरीका की एक पत्रिका भी दिखायी थी और कहा था कि वह पंजाब-पब्लिक-लायब्रेरी में जा कर देख ले। यदि इस विषय पर कुछ पुस्तकें मिल जाय तो वे तत्काल लायब्रेरी के सदस्य बन जायेंगे। चेतन उनकी बात समझ गया था और उनकी सहृदयता का बदला देने के लिए उसने मन ही मन इस विषय पर उन्हें एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिख देने का निश्चय भी कर लिया था।

बातों-बातों में कविराज जी ने उसे समझा दिया था कि पुस्तक उनके नाम से छपेगी।" (पृ. 325-326) ...ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, उसे मालूम होता गया कि वह तो उसी प्रकार कविराज का नौकर है, जिस प्रकार जयदेव अथवा यादराम। कविराज दूसरे बीसियों शोषकों की तरह एक शोषक हैं, वे उसे शिमला केवल वह पुस्तक लिखवाने के विचार से लाये हैं और उसे इस बात का भी पता चल गया कि पहले भी एक दो कलाकारों का स्वास्थ्य वे इसी प्रकार सुधार चुके हैं और इस पुण्य का फल वे पुस्तकें हैं जो सहस्रों की संख्या में उनके नाम से बिक रही है। "(पृ. 342-43) ... उसने अनुभव किया -- वह, जयदेव, यादराम सब घोड़े ही तो हैं। कविराज की ख्याति की गाड़ी में जुते हुए हैं। यह अनुभूति जैसे एक तीर की तरह उसके हृदय को भेदती हुई चली गई। ये इतने क्लर्क, मजदूर, किसान - ये सब घोडे हैं, विभिन्न गाड़ियों में जुते हुए घोडे। अपने आराम और सुख की परवाह किये बिना, पसीने से तर, थकन से चूर, दिन-रात काम किये जाते हैं। इसलिए कि उनके प्रभु सफलता की गाड़ियों में बैठे अपने ध्येय तक पहुँच जाय। बदले में उनको मिलता क्या है ? रूखा-सूखा दाना और बस। उसे पचास रुपये मिल रहे हैं। शिमलें जैसे महँगे नगर में पचास रुपये। "घोडा" - एक तीव्र व्यंग्य तथा पीड़ा से वह मन-ही-मन हँसा — "तो वह कविराज की सफलता और ख्याति की गाड़ी में जुता हुआ केवल एक घोडा है, उसने सोचा, "उसे बड़ी चतुराई से उसमें जोता गया है। वह जो पुस्तक लिखेगा उस पर कविराज का नाम होगा। उनके बाद उनके पुत्र, पौत्र और चाहे तो पर-पौत्र तक उससे लाभ उठायेंगे और वह स्वयं क्या पायेगा ? पचास रुपये प्रतिमास के हिसाब से तीन महीनों के केवल डेढ़ सौ रुपये, जिनका अधिकांश वह शिमले में ही खर्च कर जाएगा।"(पृ. 342-345) चेतन जानता है कि कविराज उसका शोषण कर रहे और वह शोषित व पीड़ित हैं फिर भी कुछ नहीं कर पाता "उसने पाया कि उसके इर्द-गिर्द जो संसार है उसमें दो वर्ग हैं -- एक में अत्याचारी हैं, शोषक है; दूसरे में पीड़ित हैं, शोषित हैं। उसे खिन्न किये दे रहा था।"(पृ. 381-382) इस तरह एक ही बुद्धिजीवी वर्ग के लोग शोषक व शोषित दोनों हैं।

"एक नन्हीं कन्दील" में सम्पादक टेकराम शाही "देश" के मालिक देवव्रत से शोषित होते हैं। "पत्र" के लाभ से घर देवव्रत का बनता जबकि "श्रम" शाही करते हैं। चेतन उनके सम्बन्ध में सोचता है कि "उन्होंने "देश" के लिए जो कुछ किया है, उसे जानकर उनके रहने की जगह को देखते हुए उन पर दया हो आयी। किया तो सब कुछ उन्हीं ने हैं, पर महाशय वेदव्रत की बिल्डिंग बन रही है और पंडित शाही के लिए रहने का ठीक ठिकाना नहीं। कोई दिन ऐसा भी आ सकता है, जब महाशय वेदव्रत को उनकी जरूरत न रहे और वो उन्हें दूध की मक्खी की तरह निकाल कर अलग कर दें और शाही पंडित फिर किसी दूसरी जगह इतनी ही जद्दो-जेहद (संघर्ष) करने को मजबूर है। "(पृ.।१।) इसी तरह "शेखर : एक जीवनी"का शेखर भी प्रकाशक के हाथों शोषित होता है। इसके लिए वह विवश है क्योंकि उसकी स्थिति निम्न वर्ग से कम नहीं है "पर होटल का तो महीना पूरा हो चुका है, और वहाँ देर करने से रोटी नहीं मिलेगी ... उसे थोड़ी-सी चिन्ता हुई। फिर उसने सोचा, पुस्तक तो लगभग तैयार है, किसी प्रकाशक से उसका कुछ-न-कुछ न सही अधिक, तत्काल थोड़ा ही सही"[29] अतः "शेखर ने दूसरी कोटि के प्रकाशकों के यहाँ भी चक्कर लगा डाला, फिर उसने एक विक्रेता के यहाँ से प्रकाशकों की पूरी सूची ले ली और जितने बच रहे थे, उन सबको एक सिरे से देखना शुरू किया" ...."युगान्तर साहित्य मंदिर" के संचालक ने उसकी पुस्तक इस शर्त पर छापना स्वीकार किया कि छपाई और कागज के दाम शेखर के जिम्मे रहेंगे; पर उसे नगद कुछ नहीं देना पड़ेगा, प्रकाशक पुस्तक छापकर और बेचकर पहले लागत वसूल कर लेगा, उसके बाद जो बिक्री होगी, उसमें चौथा अंश शेखर का होगा।" (पृ.।३।)

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शोषण की प्रक्रिया में पड़ा हुआ बुद्धिजीवी शोषक और शोषित -- दोनों भूमिकायें निभा रहा है। वह शोषित होने की यंत्रणा और अपमान से परिचित है, लेकिन अवसर मिलते ही दूसरे का ऐसा ही शोषण करने से नहीं चूकता। बुद्धिजीवी के चरित्र का यही दोहरापन उसे निरंतर संत्रास की स्थिति में रखे रहता है।

4.4 दोहरी नैतिकता और दोहरे मानदण्ड

बुद्धिजीवी वर्ग का जन्म ही दोहरी नैतिकता, दोहरे मानदण्ड और दोहरे चरित्र के साथ ही हुआ। जैसा कि पिछले पृष्ठों में विवेचित किया जा चुका है कि आधुनिक औद्योगिक प्रशासन नीति के अन्तर्गत जिस "बाबू वर्ग" का निर्माण हुआ उसने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय अपना दोहरा चरित्र प्रकट किया। एक प्रगतिशील और आदर्शवादी और दूसरा स्वार्थपरक और अवसरवादी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ-साथ बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र के इन दोनों पक्षों का विचित्र ताल-मेल होने लगा और परिणामतः सामने आया एक ऐसा वर्ग-चरित्र जिसके बारे में मुक्तिबोध ने लिखा है कि "आज के साहित्यकार का आयुष्य क्रम क्या है ? विद्यार्जन, डिग्री और इसी बीच साहित्यिक प्रयास, विवाह, घर, सोफासेट, ऐरिस्टोक्रेटिक लिविंग, महानों से व्यक्तिगत सम्पर्क, श्रेष्ठ प्रकाशकों द्वारा अपनी पुस्तकों का प्रकाशन, सरकारी पुरस्कार अथवा ऐसी ही कोई उपलब्धि, और चालीसवें वर्ष के आस-पास अमेरीका या रूस जाने की तैयारी; किसी व्यक्ति या संस्था की सहायता से अपनी कृतियों का अंग्रेज़ी या रूसी में अनुवाद; किसी बड़े भारी सेठ के यहाँ या सरकार के यहाँ ऊँचे किस्म की नौकरी।"[1] इसलिए हमारे आलोच्य उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी प्रमुखतः दोहरी नैतिकता और दोहरे मानदण्डों से ग्रस्त नज़र आते हैं। एक वह आदर्शवादी और प्रगतिशील रूप जो वे स्वयं नहीं हैं लेकिन चाहते रहे हैं कि ऐसे हो और दूसरा वह यथार्थ रूप जो कि वे भीतर से है। चरित्र का यह अन्तर्विरोध उनके जीवन मूल्यों और जीवनाकांक्षाओं के बीच गहरी दरार डाल देता है।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली - चार - सम्पादक - नेमिचन्द्र जैन - पृ. सं. 174-175 संस्करण, 1980

"लेकिन दरवाजा" का नीलांबर हमेशा वर्ग संघर्ष और वर्ग चरित्र पर आंकडों में बात करता है और जब साहित्य अकादमी के पुरस्कार को पाने की दौड़ में शामिल हो जाता है तब इसके लिए भी एक सैद्धान्तिक आधार ढूँढ निकालता है। उसका कहना है कि "मैं इन्हें इन्हीं के खेल में मात करना चाहता हूँ।" यह एक ऐसा तर्क है जिसे वह अपनी हर ऐसी आकांक्षा को पूरी करने के लिए इस्तेमाल करता है। देवेन और नीलांबर के बीच चलने वाली बहस इस दोहरी नैतिकता का सटीक उदाहरण है "बड़े-बड़े लेखकों, कलाकारों और चिन्तकों को हर सांस के साथ उद्धृत करता हुआ नीलांबर अपने हर गलत मूल्य को सही सिद्धान्त का सहारा देता है और यह सिद्ध करता है कि बौद्धिकता अन्ततः एक दो धारी तलवार है जिसका उपयोग सही बात को सही सिद्ध करने में उतना नहीं होता जितना कि गलत बात को सही सिद्ध करने में।"(पृ. 215) "रेत की मछली" का नायक शोभन भी इस दोहरी नैतिकता व दोहरे मानदण्ड से ग्रस्त है।

इलाहाबाद में साहित्य सम्मेलन के भाषण में यह आदर्श प्रस्तुत करता है कि साहित्यकारों के लिए राज्याश्रय खतरनाक है लेकिन स्वयं सेठ का आश्रय ग्रहण करता है मित्रों के कहने पर बात को टाल देता है। बम्बई के बहुत बड़े सेठ के द्वारा सम्पादक प्रस्ताव उसके सामने रखा जाता है तब वह कितने पाखंड का परिचय देता है, देखिए कुन्तल के शब्दों में —[155] पृष्ठ पर शोभन समाचार से गद्‌गद् हो उठे थे। वे साधारण खिलाड़ी नहीं थे, इसलिए उन्होंने जाहिर यह किया था कि इस आमन्त्रण को स्वीकार करने में उन्हें असुविधा हो रही है और इलाहाबाद जाकर अपने मित्रों से सलाह-मशविरा करने के बाद ही वे अन्तिम रूप से कुछ निर्णय ले सकेंगे।

नाम के लिए विरक्ति जाहिर करने के बाद शोभन ने अपने मित्रों से चर्चा भी की थी। मित्रों को वे ये दिखाना चाहते थे कि उन्हें कितना बड़ा महत्व मिल रहा है और जब वर्मा जी उसे याद दिलाते हैं कि वह पिछले वर्ष के

साहित्य सम्मेलन में घोषणा कर चुका है कि साहित्यकार के लिए राज्याश्रय ख़तरनाक है और अब वह पत्रिका का सम्पादक बनकर उसके मालिक सेठ का आश्रय ग्रहण कर रहा है तब वह इस बात को वहीं गोल कर जाता है, और बाद में मीनल से बताता है कि उसको मिले इस सम्मान से ईर्ष्या कर रहे हैं। इतना ही नहीं अपनी प्रेयसी-पत्नी के संग भी उसकी दोहरी नैतिकता व दोहरा व्यक्तित्व खुलकर सामने आता है। नायिका कुन्तल उसके इस छद्म को नहीं समझ पाती और उसके ऊँचे आदर्शों और रचनाओं में व्यक्त मूल्यों से प्रभावित होकर अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध उससे प्रेम-विवाह कर लेती है और विवाह के बाद धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व की वास्तविकता से परिचित होकर रेत की मछली की तरह इस असह्य यातना भुगतने के क्रम में अन्ततः उससे अलग हो जाती है। शोभन का वायदा है कि "मैं आजीवन तुम्हारे साथ खड़ा रहूँगा।" लेकिन वायदा विवाह के आरम्भिक महीनों में ही टूट जाता है क्योंकि शोभन के एक ओर लड़की मीनल से सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, पहले तो वह कुन्तल से इस सम्बन्ध को छुपाने का प्रयत्न करता है पर जब कुन्तल अपनी आँखों से सब कुछ देख लेती है तो वह चाहता है कि कुन्तल उसके इस सम्बन्ध में सहयोग दे। इसके लिए वह एक आकर्षक शब्द जाल तैयार करता है कि "एकात्म हो जाने दो। कुन्तल, हम सब आओ एकात्म हो जायँ। मैं, मीनल, तुम। हम सबमें उस सुख को बहने दो।" (पृ.136) शारीरिक वासना और अवैध संबंध को ढ़कने के लिए ऐसा मोहक शब्द जाल तैयार करना किसी बुद्धिजीवी के ही वश की बात है और वह अपनी इस सामर्थ का भरपूर उपयोग करता है। यही स्थिति "उसके हिस्से की धूप" की नायिका लेखिका मनीषा में स्पष्ट देखी जा सकती है। वह अपने पति के होने के बावजूद पूर्व-पति से पुनः शारीरिक सम्बन्ध बनाने से हिचकती नहीं। विभिन्न तर्कों सहित अपने अनैतिक कार्य-गलत मूल्यों को सही मूल्य सिद्ध करने में। "हाँ, जितने, चलो एक बार फिर हम दोनों साथ हो जाएँ। मैं भी तुम्हें चाहती हूँ। तुम्हारी परिपक्वता को, तुम्हारी चुप्पी को, तुम्हारे उदार

व्यक्तित्व को और तुम्हारे इस भीषण जरूरतमंद सहवास को।"[61]....इससे पहले कि वह स्वयं हाथ बढ़ाकर अपने बीच के छोटे-से फासले को मिटा दे, जितेन उसे अपनी बाँहों में ले ले। यही हुआ। वह जितेन की बाँहों पहुँच गई। बिना प्रस्तावना के उसने अपने होंठ उसके होंठ पर रख दिये। ...मनीषा अच्छी तरह समझ रही थी कि जितेन का चुम्बन सीधे और स्पष्ट तरीके से अपनी जरूरत कह रहा है और उसकी जरूरत पूछ रहा है। मनीषा न चाहती हो तो हट जाये, जितेन मनुहार नहीं करेगा; मनीषा चाहती है तो उत्तर दे, उसी तरह स्पष्ट भाषा में, ...वह दोनों एक-दूसरे के सामने दो सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्तियों की तरह खड़े हैं, जो अपने-अपने औचित्य का निर्णय स्वयं कर सकते हैं। न कोई बंधन है, न कर्तव्य, न लोभ। बिना झिझक उसने प्रत्युत्तर दे डाला।" (तर्क देते हुए) सच वासना को कर्तव्य बना देना, शरीर को बंधक रख देना, इससे बड़ी विडम्बना इन्सान के साथ और क्या हो सकती है ? (पृ. 43-47) लेकिन होटल से जाते समय वह नहीं चाहती है कि लोग उसे जितेन के साथ देखे।

"रास्ते में छोड़ता जाऊँगा।"

"नहीं", उसने दृढ़ स्वर में कहा, "मैं खुद जाऊँगी।"

"नीचे तक छोड़ आऊँ ?

"नहीं", मनीषा ने उसी दृढ़ स्वर में दुहराया, "बेहतर है कि हमें होटल में साथ कोई न देखे। मैं पहले जाना चाहती हूँ।" (पृ. 64) "गिरती दीवारें" में चेतन अपनी इस दोहरी नैतिकता को पहचानता है। चेतन अपने विवाह के उपरान्त भी अपनी पत्नी की बहन अर्थात् साली से प्रेम करता है "उसकी आँखों के सामने से अचानक एक पर्दा उठ गया था। अपना वास्तविक नग्न रूप उसके सामने आ गया। वह नीला को चाहता है, इस डेढ़ वर्ष के वैवाहिक जीवन के बावजूद चाहता है। उसकी उदास मुस्कान, उसकी उन्यन दृष्टि, उसके पीले मुख, उसके शरीर के एक-एक अंग

को उसी शिद्दत से चाहता है, जिस शिद्दत से उसने उसे उस दिन चाहा था जब वह अपनी भावी पत्नी को देखने बस्ती गंजा आया था और उसने नीला की चंचल मूर्ति देखी थी। उसकी चाहना और उसकी शिद्दत में ज़रा भी कमी नहीं आयी थी। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह यह सब दीवारें, जो यथार्थ में उसकी चाहना को घेरे थे, कल्पना में गिर गयी थी और उसके प्रेम की लौ, जिसे फानूस की किल्लोरी दीवार में धुँधला कर रखा था, उससे टूट जाने पर स्पष्ट ही चमक उठी थी।" §पृ. 593-594§ ...नीला की विदाई के समय नहीं देखने का निश्चय करता है लेकिन उसे यह भी स्वीकार न था। नीला से चाहे उसका साक्षात्कार न हो, लेकिन वह उसकी अन्तिम झलक अवश्य पा लेना चाहता था। चंदा को तसल्ली देते हुए बोला "नहीं, नहीं कोई ऐसी बात नहीं, तुम चलो मैं आता हूँ।" §पृ. 595§ "आखिर उसके इस उखड़ेपन का क्या कारण है ? नीला की शादी ही ना। क्या नीला की शादी/इतनी हिम्मत नहीं कि चन्दा को छोड़, उसे अपना लेता। वह चन्दा से विश्वासघात भी नहीं करना चाहता और नीला का प्यार भी पाना चाहता है।" §शहर में घूमता आईना-पृ. 104§ ....और वर लेना तो दूर रहा, वह नीला के प्रेम का बलिदान तक न दे सका। उस वक्त, जब उसके शरीर का अणु-अणु उसे चाहता था, वह अपने मस्तिष्क का अंकुश उस पर लगाये रहा। उसकी उस स्वाभाविक-सी लड़खड़ाहट का उसने उसे कितना बड़ा दण्ड दिया...भीरू....कायर...घुग़द।"§पृ. 105§ "शहर में घूमता आइना" का चेतन "कविराज" से शोषित होने की बात स्वीकार करता है पर "हुनर साहब" को दो-दो कहानियाँ स्वयं लिखकर देना चाहता है, यह कार्य उसे शोषण नहीं लगता क्योंकि "हुनर" साहब से उसे "कागज" मिलने का आश्वासन मिला है। इस तरह चेतन में निहित उसके दोहरे मानदण्ड या दोहरी नैतिकता से परिचित होते हैं "चेतन उनका संकेत समझ गया था। उसने उनसे कहा कि वह उन्हें एक नहीं, दो कहानियाँ

/ न होती ? क्या वह उसके नाम की माला जपती रहती ? उसमें

लिख देगा। जब वे उसके लिए इतना कर रहे हैं तो क्या वह इतना भी नहीं कर सकता।" §पृ. 31।§ चेतन की माँ सत्यवान है सत्कर्मी है और पिता गुनाहगार है पर इसे वह स्वीकार कर भगवान से क्षमा मांगते हैं §गुनाहों की§। पर चेतन अपने बारे में सोचता है दोनों के साथ अपनी तुलना करते हुए कि "वह न उतना नीतिवान हो सकता था, न उतना अनैतिक उसका व्यक्तित्व बुरी तरह से खंडित हो कर दो सीमाओं के मध्य टामकटोये मार रहा था। तब उसके लिए कोई राह नहीं क्या? .....लाख सोचने पर भी कोई रास्ता न पाकर वह घूमता हुआ खिड़की में जा खड़ा हुआ।"§पृ. 61-62§§बाँधो न नाव इस ठांव - भाग-।§ "चेतन" वास्तव में "सोसाइटी" को बंद करना चाहता है पर कविराज तथा पंडित रत्न के सामने उसे अपनी असफलता स्वीकार करनी पड़ेगी - और यह उसे गवारा नहीं था इसीलिए न चाहते हुए उसे चलाना पड़ रहा था। इससे उसके दोहरे मानदण्डों का पता चलता है।" एक बगूला-सा उसके मन में उठता कि एक ही झटके से वह क्यों न इस कुचक्र से निकल जाय और रोजी-रोटी और लॉ-कॉलिज का दाखिला जुटाने का कोई दूसरा उपाय सोचे, लेकिन फिर उसका अहं, बरसात की बड़ी-बड़ी बूंदों की तरह, अपने तर्कों से, उसके मन में उठने वाले इस बगूले को बैठा देता - वह इस अभियान से किनारा कर लेगा तो कविराज को क्या जवाब देगा, पंडित रत्न को कैसे मुँह दिखायेगा। मूर्ख और असफल कहलाना उसके अहं को स्वीकार नहीं था।"§पृ. 332§ "क्यों फँसे" का पत्रकार पुनैया भी दोहरी नैतिकता और मानदण्डों से ग्रस्त है। वह स्वयं अनैतिक सम्बन्ध रखता है, उनकी वकालत करता है पर पत्नी जब यह छूट चाहती है तो इन्कार कर देता है उसे त्याग देता है। अनैतिक सम्बन्धों की वकालत करते हुए कहता है कि "अब वैयक्तिक, राष्ट्रीय और मानवीय हित की दृष्टि से कामेच्छा पूर्ति को निष्फल और निरापद बना देना नैतिक मान लिया गया। विज्ञान की सहायता से यह सम्भव भी हो गया तो वह इच्छा पूर्ति बार-बार एक ही व्यक्ति से करने के बंधन की क्या जरूरत ? यह बंधन उस इच्छा पूर्ति को अधिक सरस नहीं बना सकता। दो आत्म निर्भर व्यक्ति केवल इस काम के लिए जीवन भर

एक साथ बंध जावे, इसमें क्या तुक ? यह केवल रूढि और संस्कार का बंधन है। हम अनेक पुराने संस्कारों को निरर्थक समझ चुके हैं। यह भी वैसा ही संस्कार है।" §पृ. 81-82§ आगे देखिए किस तरह वह नारी के सतीत्व को महत्व देता है -- "नारी का सर्वोपरी गुण रहा, मालिक के अतिरिक्त दूसरे के साथ रति का सन्देह न होने देना। पत्नी के प्रेम की अपेक्षा उसके सतीत्व का महत्व अधिक था। सतीत्व अनुशासन है, प्रेम मन की उमंग। §पृ. 82§ उसके अन्यत्र सम्बन्ध है पर पत्नी के अन्यत्र सम्बन्ध होने से छोड़ देना उसकी दोहरी नैतिकता दोहरे मानदण्ड का परिचायक है "डेढ़ साल बाद किसी दूसरी की ओर ध्यान जाने लगा। वह गर्भवती हो गयी थी। ...नजरें इधर-उधर भटकने लगी। उसके प्रति आकर्षण और प्यार जरूर था परन्तु मन अन्यत्र भी भागता था। अन्यत्र की भी तुष्टि की इच्छा और सम्भावना मन भटक गया। उसे पता चला तो बावेला करने लगी। ...डर कर या चोरी से इच्छा पूर्ति करने की ग्लानि जरूर अनुभव होती पर मजबूरी थी। तीन बरस बाद वह स्वयं भटक गयी अपने किसी पुराने मित्र के साथ। मुझे पता लगा तो बौखला उठा कि उसका खून कर दूँ और अपना भी। ...झगड़े में मैंने कह दिया -- "तुम उसे नहीं छोड़ सकती तो मुझे छोड़ दो।" ...तुम मेरा इतना सा संतोष नहीं देख सकते। यदि एक को छोड़ने की मजबूरी है तो तुम्हारी निर्दयता के कारण तुम्हें ही छोड़ दूँगी।" ...उसका यह निश्चय मुझे इतना मर्मान्तिक अपमान लगा कि खुद से डर गया - पागलपन में कुछ कर न बैठूं। उसी आकांक्षा से बम्बई छोड़कर मद्रास चला गया।" §पृ. 76§ "शह और मात" की लेखिका सुजाता के दोहरे मानदण्ड और दोहरी नैतिकता का परिचय निम्न उद्धरणों से मिलता है। वह अपने नारी होने की अपेक्षा कृति को महत्व देने व उसकी निष्पक्ष आलोचना करवाना चाहती है पर कृति की जब आलोचना होती है तो स्वयं को अपमानित महसूस करती है "लेकिन जब कोई लड़की होने की तरफ ध्यान नहीं देता और रचनाओं के बल पर उन्हें उपेक्षा या आलोचना देता है तो मैं दुहरे अपमान से क्यों तड़प उठती हूँ ?

यानी खुद चाहती हूँ कि रचना के बल पर जाँचो मगर यह मत भूलों कि मैं लड़की हूँ।" (पृ. 48) इसके अतिरिक्त वह लेखक "उदय" को लेकर परेशान है, एक तरफ उसका साथ उसे पसंद है तो दूसरी तरफ उसे घरवालों के देखे जाने का डर भी है "और सच बात है कि घर के पास ही उनके साथ देखा जाना पता नहीं क्यों बहुत अच्छा नहीं लग रहा था। कोई परिचित ही इधर आ निकलें।" (पृ. 52) "लेकिन दरवाजा" के नीलांबर की दोहरी नैतिकता वर्ग को लेकर देखी जा सकती है। वह उच्च वर्ग को हेय दृष्टि से देखता है और उसी में मिलने का प्रयत्न करता है "पर नीलांबर का व्यवहार भी कोई सामान्य नहीं था, वह ऐसे बात कर रहा था जैसे बाकी लोग (सुमन के उच्चवर्गीय परिवार के लोग) कीडे-मकोड़े हों।"(पृ. 243) इस तरह उच्च वर्ग को हेय दृष्टि से देखने वाला स्वयं उसमें मिलने को आतुर है, वह स्वयं कहता है "मैं पिछले आठ-दस वर्षों से जिस समाज में घुसने का प्रयत्न करता रहा हूँ, वहाँ लोग मेरी शकल और मेरी स्मार्टनेस की तारीफ़ करते हैं।" (पृ. 249) उसकी यह दोहरी नैतिकता कहाँ ले जाती है देखिए जब वह देवेन से कहता है कि "मुझे देख रहे हो। मैंने अपनी सृजनात्मकता अपने लेखन, अपनी स्वतन्त्रता का सौदा एक गुडिया, फ्रिज और मकान से कर लिया है। मैं अक्सर डॉक्टर फ़ॉस्टस की तरह अपनी बंधक आत्मा को छुड़ाने के लिए छटपटाता रहता हूँ, पर कहीं रास्ता नज़र नहीं आता। मैं साउंड-प्रूफ एयर कंडीशंड कमरे में बंद-सा हूँ-सर्दी-गर्मी से परे, बिना आकाश के बिना हवा के, अपने ही सिगरेटों के धुएँ से घुटता।" (पृ. 258) "शेष यात्रा" का डॉ. प्रणव, चैंद्रिका से विवाह करने के लिए अनु से तलाक लेता है इसलिए उस पर अनेक झूठे आरोप लगाता है जब तलाक मिल जाता है तो प्रसन्न नहीं होता और रात दिन अनु के साथ किये गए अन्याय के अहसास के साथ जीता है "प्रणव ने अनु के द्वारा किये गए - मानसिक अत्याचारों का ब्यौरा देते हुए कहा : "मेरी बीबी अनु को पागलपन के दौरे पड़ते हैं, उसमें यह अपना सारा आपा और सुध-बुध खो बैठती है। मुझ पर शारीरिक हमले करती हैं, नोचती-खसोटती है, अभद्र गालियाँ

देकर; मुँह पर थूककर मुझे जलील करती है — इसने सारा घर तहस-नहस कर डाला है।" ... ऐसे वातावरण में मेरा रहना नामुमकिन हो गया है, मुझे तरह-तरह के ड्रग्ज़ लेने पर बाध्य होना पड़ रहा है ...."§पृ. 88§ "अब प्रणव स्वतन्त्र था, अकेला, उन्मुक्त बन्धनहीन। उसने अपने मन में वह उत्साह नहीं पाया जिसकी उसने इस क्षण के लिए कल्पना की थी।"[88] अनु से भेंट होने पर कहता है — "मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है, मैं जानता हूँ। मैं उस अहसास के साथ दिन-रात जीता हूँ। मुझसे ज्यादा वह कौन जानेगा, पर मैं विलेन नहीं हूँ। ....तुम समझती हो, मुझे पीड़ा नहीं होती, मुझें दुःख नहीं होता ? मुझे - खोया - खोया नहीं लगता ? मुझे इस सम्बन्ध को निभा न सकने की ग्लानि, शर्म नहीं है ?" §पृ. 83§ बाद में चन्द्रिका को भी छोड़ देता है और सोचता है "और सब कुछ मिलाकर सच्चाई तो यह है — कि किसी को किसी की जरूरत नहीं होती। अन्ततः हमें अपने साथ ही रहना होता है, अपने स्व से जूझना होता है। हम सब अपने को अकेला पाते हैं। शादी, ब्याह, गिरस्ती, रिश्ते जब तक चलते हैं तभी तक के रहते हैं। किसमें कितनी ताकत है कि साथ-साथ दूसरे प्राणी की जिम्मेदारी ढ़ोता रहे; जिसमें होगी, हो मुझमें नहीं हैं।" §पृ. 89§ इस प्रकार डॉ. प्रणव ने अपने दोहरे मानदण्डों से अपने जीवन को ध्वस्त कर लिया है।

"काली आँधी" की संसद सदस्या मालती की दोहरी नैतिकता का बोध चुनाव के समय होता है। अपने भाषणों में कहती है कि समाज से पहले परिवार है पति है उन्हें महत्व देना चाहिए पर स्वयं अपने पति व परिवार की अपेक्षा राजनीति पर ध्यान देती है यहाँ तक कि उन्हें छोड़ भी देती है। अपनी छवि पवित्र बनाने के लिए महिला सेवा दल के गठन की मीटिंग में कहती है कि — "आप बहनें कहती हैं कि आपको वक्त नहीं मिलता। मैं खुद कभी नहीं कहती कि आप अपने घर-परिवार और पति की खुशियों की कीमत पर राजनीति का काम करें। यह जरूरी है कि परिवार और पति की पूरी परवाह की जाए ... समाज की खुशी का असली आधार यही है ...अगर मैं अपना उदाहरण पेश करूँ तो आप क्या कहिएगा।

कौन कह सकता है कि मेरा परिवार और पति सुखी नहीं है। और मैं समाज के कामों के लिए पूरा वक्त निकालती हूँ।" §पृ.13§ जबकि मालती के परिवार की वास्तविक स्थिति यह है "जगदीश बाबू §पति§ कहते हैं कि "मैं तो जाऊँगा ही, लिली को भी तुम्हारी जिन्दगी से कहीं बहुत दूर लेकर चला जाऊँगा ..." ....इस बार मैं करके दिखा दूँगा ...तुम समझती हो, मुझमें कुछ भी करने की शक्ति नहीं रह गई है।" §पृ.11-12§ और वे चले जाते हैं। गुरूसरन जी मालती से जग्गी बाबू उसकी बेटी से मिलने के लिए कहते हैं तब वह कहती है कि मेरे पास इतना वक्त नहीं है कि इस तरह की बातों में अब पड़ सकूँ ...मैं यहाँ आई हूँ चुनावों के लिए ...मेरी जिन्दगी की जरूरत यह नहीं है ...।"§पृ.54§ मालती की दोहरी नैतिकता जातिगत आधार पर चुनाव लड़ते समय और भी स्पष्ट हो जाती है। वह नेताओं से कहती है कि "देखिए, हमें विरोधी दलों के हथकण्डे नहीं अपनाने हैं। चुनाव एक पवित्र कार्यक्रम है। हम जनता के पास असली कार्यक्रम लेकर जाएँगे और जनता की समझ पर ही निर्भर रहेंगे। पैंतरेबाजी और उठा-पटक का सवाल नहीं है। हम जातियों के आधार पर भी चुनाव नहीं लड़ेंगे क्योंकि हमारी नीति किसी खास जाति के लिए नहीं है, पूरी जनता के लिए है।"§पृ.18-19§ लेकिन वह जाति के आधार पर ही चुनाव लड़ती है। वह गुरूसरन को बुलाकर उन्हें आदेश देती है कि --- "देखिए, इस चुनाव - क्षेत्र में बनियों की अक्सरियत है। खास तौर से शहरी इलाकों में। गाँवों के जो इलाके हमारे क्षेत्र में हैं, उनके गरीब किसानों को भी यही बनिये वक्त-जरूरत रूपया वगैरह कर्ज़ देते हैं — यानी उन इलाकों में भी इनकी बाहें फैली हुई हैं। इसलिए जरूरी है कि बनियों के बीच से भी कोई कैंडीडेट इस चुनाव में खड़ा हो .... बनियों में लाला दीनानाथ का बहुत असर है। आप उन्हें तैयार कीजिए कि वे चुनाव मैंदान में आएँ ... पर्चे परसों तक दाखिल हो सकते हैं ... देखिए, हम जातिवाद के सहारे चुनाव नहीं लड़ेंगे यह बात

साफ है। पर सच्चाई को भी देखिए। चुनाव मैदान में इतफाक से बनियों का कोई अपना कैंडीडेट नहीं है। लाला दीनानाथ के खड़े होते ही सारे बनिये उनके इर्द-गिर्द जमा हो जाएँगे ...यह अर्तिया होगा, क्योंकि लोगों के मन में अपनी जाति के लिए लगाव होना लाज़िमी है। लाला दीनानाथ के खड़े होते ही सब बनिये एक-जुट हो जाएँगे और उनका समर्थन करेंगे ... जब सारे बनिये लाला दीनानाथ के झण्डे के नीचे जमा हो जाएँगे, उस वक्त लाला दीनानाथ चुनाव मैदान से मेरे फेवर में विड्रा करेंगे। समझे आप। एक भी बनिया कहीं टूटकर नहीं जा सकता ...हम जातिवाद के आधार पर चुनाव कहाँ लड़ रहे हैं ? मैं उनकी जाति की नहीं हूँ। हूँ ... जनता के बीच काम करने वाले की कोई जाति नहीं होती... ...समझे आप ? लाला दीनानाथ अगर अपने जाति भाइयों को अपनी मुट्ठी में ले लेते हैं और वक्त आने पर हम लाला दीनानाथ को जीत लेते हैं तो इसमें हम कहाँ जातिवादी हो जाते हैं ? बताइये । हम पर कौन इल्जाम लगा सकता है इस बात का ? और हम कोई गलत बात कर भी नहीं रहे हैं ...।"(पृ. 20-22) "भगोडा" के मशहूर युनियन नेता-लेखक "मैं" भी अपने वर्ग व उच्च वर्ग को लेकर दोहरी नैतिकता व दोहरे मानदण्ड से ग्रस्त है। "मैं" स्वयं घास काटने वाला ग्रामीण है पर शहर आकर अपने को बड़े वर्ग का समझता है और उच्च वर्ग में मिलने के प्रयत्न में दोनों ही वर्गों से कट जाता है। "हम लोग अब अपने आप को काफ़ी बड़ा महसूस करने लगे थे और अब हम लोगों को इस बात की चिंता हो आई थी कि अब तक कुनबे के जिस लोगों को हमने काट रखा था वे आतंकित होकर हमें देखें।" ....हम लोग पहली बार एक रिश्तेदार के यहाँ शादी के मौके पर गए। ...वह एक खूबसूरत और छोटे कद की लड़की थी जिसका रंग बेहद साफ़ था, साफ ही क्यों चमकीला और उजला था। ... चूंकि मैं शहरी हो चुका था इसलिए ऐसी लड़की से दूरी बनाये रखने का मध्यवर्गीय अभ्यास भी मुझे हो गया था। ...उस लड़की का ख्याल था कि शहरों में रहने वाला संभ्रात और उच्चवर्गीय मैं देहात नाम की चीज से बिल्कुल

अपरिचित था। मैंने जाहिर भी यही किया क्योंकि ऐसा जाहिर करना लोगों की नजर में मुझे कुछ विशिष्ट बनाता था।"[62-63] लोगों की नजरों में तो विशिष्ट व बड़ा हो गया, बड़ों की जमात में घुसने के प्रयत्न में उसकी परिणति क्या होती है उसी के शब्दों में देखिए "आज मैं एक बात जरूर कह सकता हूँ पिछले लंबे अरसे में मैं बड़ों की जमात में शामिल होने की कोशिश करता रहा था। उधर शामिल हो पाने का विश्वास तो मुझे कभी हुआ नहीं, हाँ यह जरूर पता लग गया था कि मैं छोटे आदमी से भी कट चुका हूँ।" (पृ.129) इतना ही नहीं लोगों को न्याय दिलाने के ऊँचे-ऊँचे वायदे करने वाला "मैं" अन्त में उनका साथ छोड़ देता है "...उस दिन मुझे ऐसा लगता रहा जैसे मैं न सिर्फ बड़ा आदमी भी हूँ बल्कि गौरी की हिफाजत का भार भी मेरे कंधों पर आ पड़ा है।"[63] (पर वह ऐसा नहीं कर सका) "जोगेश्वर जी, भूल जाइए। मुझे भी भूल जाइए। मैं महासंघ से इस्तीफ़ा दे रहा हूँ ...मैं शुरू से ही आप लोगों से कह रहा था। दरअसल मेरे लिए आप लोगों का काम ईमानदारी से निभाना मुश्किल है। बल्कि आप मुझसे, मेरे जैसे आदमी से और क्या आशा कर सकते हैं ? सफेद पोश ने हमेशा धोखा ही दिया है। मैं भी आप लोगों को बीच में ही छोड़ रहा हूँ।" (पृ.133) "राग दरबारी" के वैध जी जो शिवपाल गंज के प्रमुख नेता है, उनकी दोहरी नैतिकता का परिचय तब मिलता है जब वे प्रिंसिपल के सामने अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में कहते हैं और घर पर अपने पुत्र बद्री को अन्तर्जातीय विवाह करने से मना करते हैं "मैं इतना पुरातनवादी नहीं हूँ। गांधी जी अन्तर्जातीय विवाहों के पक्ष में थे। मैं भी हूँ। बद्री और बेला का विवाह सब प्रकार से आदर्श माना जायेगा। पर पता नहीं कि गयादीन की क्या प्रतिक्रिया है। देखेंगे।" (पृ. 29।) लेकिन घर जाकर बद्री से कहते हैं कि " ...मुझे ज्ञात नहीं था कि तुम इतने नीच हो।" ... "तुम मूर्ख भी हो। मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था।" ....तुमने जो किया

है, वह अच्छी बात है ? तुम्हें कुछ इसके परिणाम का भी पता है ? इससे मेरी आत्मा को कितना कष्ट हुआ जानते हो ?" ...हम ब्राह्मण हैं, वह वैश्य।"§पृ. 293-294§ "राग-दरबारी" के प्रिंसिपल की दोहरी नैतिकता का परिचय तब मिलता है जब वह रामानन्द से कहते हैं कि यूनिवर्सिटी के लेक्चरार की तरह वे चापलूसी नहीं करते हैं। लेकिन वैद्य जी की चापलूसी की बात अन्ततः स्वीकार करते हैं "अभी प्रिंसिपली में यह मुसीबत नहीं है और जहाँ वैद्य जी मैनेजर हो, वहाँ तो समझ लो कि प्रिंसिपल पूरा बबर शेर है। हमें किसी की खुशामद से मतलब नहीं। वैद्य जी का पल्ला पकड़े हैं और सबसे जूतों से बातें करते हैं। ...और सच पूछो तो मुझे यूनिवर्सिटी में लेक्चरार न होने का भी कोई गम नहीं है। वहाँ तो और भी नरक है। पूरा कुम्भीपाक। दिन-रात चापलूसी। कोई सरकारी बोर्ड दस रूपली की ग्राण्ट देता है और फिर कान पकड़ कर जैसी चाहे वैसी थीसिस लिखा लेता है। जिसे देखो, कोई-न-कोई रिसर्च-प्रोजेक्ट हथियाये है। कहते हैं कि रिसर्च कर रहे हैं; पर रिसर्च भी क्या, जिसका खाते हैं उसी का गाते हैं और कहलाते क्या हैं। देखो, देखो कौन-सा शब्द है -- हाँ-हाँ याद आया - कहलाते हैं, बुद्धिजीवी। तो हालत यह है कि हैं तो बुद्धिजीवी, पर विलायत जाने का एक चक्कर लगाने के लिए यह साबित करना पड़ जाए कि हम अपने बाप की औलाद नहीं हैं, तो साबित कर देंगे। चौराहे पर दस जूते मार लो, पर एक बार अमेरीका भेज दो-- ये हैं बुद्धिजीवी।" ...हमारा तो बस यही कि वैद्य जी की खुशामद करा लो, पर हर एक के आगे सिर झुकाने को तैयार नहीं।" §पृ. 222§ प्रिंसिपल के लिए मुक्तिबोध का यह कथन बहुत उपयुक्त बैठता है कि "वास्तविकता यह है कि अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से पूंछ हिलाते हैं। ...मतलब यह कि स्थिति-भेद और स्वभाव-भेद के अनुसार पूंछ हिलाने की अलग-अलग शैलियाँ हैं। §विपात्र-पृ. 37§ "भ्रम भंग" का चन्दन अपनी दोहरी नैतिकता व दोहरे चरित्र को पहचानता है। उसी के शब्दों में "...सच तुम लोगों का पेट कितना बड़ा हो गया। मैंने अपना

पेट काट-काट कर तुम्हें खिलाया है। लेकिन ये कब तक चलता रहेगा। ...आज कॉलिज जल्दी जाना है। पे डे है। पे लो। मनीआर्डर ...। ... आज घर वालों को मेरी बड़ी याद आ रही होगी। मुसकराओं। तुम्हारा बेटा उल्लू बन रहा है। अपने उल्लूपन पर मुसकराओ। ... नहीं । ऐसा नहीं सोंचा करते चन्दन। वे तुम्हारे माता-पिता है। उन्होंने तुम्हें पाला पोसा है। पढ़ाया है अपनी सामर्थ्य भर। फिर ... फिर क्या है ? यही कि इतना करने पर भी वे सन्तुष्ट नहीं हैं। वे क्यों अपना ही देखते हैं ? क्यों मेरे लिए नहीं सोचते ? ...क्यों ? आखिर क्यों ? [84-85] (परीक्षा भवन में लड़की के देखने पर)

"वह तुम्हें देख रही है। पेन दाँतों के बीच दबा है। कुछ सोच रही है। उसकी सहायता कर दो। नहीं ...। वह तुम्हें देखे जा रही है। तुम गंभीर बन जाओ...। मध्यवर्गीय नैतिकता। मन में उसे भोगो। बाहर नैतिकता दिखलाओ...। यह दोहरा चरित्र। मनीऑर्डर भेजते रहो और गाली देते रहो। अपने को कोसते रहो।" (पृ. 87) "अन्तराल" की श्यामा में निहित पति-देव के मरने के बाद कुमार से बने सम्बन्ध पर दोहरी नैतिकता व उसके दोहरे मानदण्ड का परिचय निम्न उद्धरण से होता है। वह कुमार से कहती है "मैंने तुम्हें बताया था मैंने उन दिनों तुम्हें पत्र लिखा था अपने यहाँ आने के लिए। तब मेरे मन में कोई रूकावट नहीं थी। उस दिन तुम आए होते, तो संभव था कुछ भी हो जाता। मैंने अपने को बचाने का कुछ भी प्रयत्न न किया होता। वैसे यह बात भी गलत है शायद। कहना चाहिए कि मैंने तुम्हें बुलाया ही इसीलिए था कि मैं तुम्हारे साथ इस स्थिति को मन में स्वीकार कर चुकी थी। जो संस्कार मन को रोकता था, वह तब टूट चुका था। इस बार भी वहाँ से चली थी, तो शायद यही सबसे बड़ा प्रलोभन मन में था कि तुम यहाँ हो। सब छोड़-छाड़कर यहाँ आ रहने की सोचना ...लगता है इसके मूल में यही प्रलोभन था। ... मैं तुम्हारे और अपने सम्बन्ध को बिना नाम

दिये उसमें से सब कुछ पा लेना चाहती थी। उस दिन फोन पर तुमसे मिलने की बात तय की थी, तब भी काफी हद तक यही सोचती थी। आज भी मिलने आयी थी, तो निश्चय नहीं कर सकी थी कि तुम मुझे रोक लेना चाहोगे, तो मैं लौट जाने का आग्रह बनाए रख सकूँगी या नहीं। मन में एक दुविधा थी, पर वह और ही कारण से थी।" (पृ. 213) श्यामा भी 'भ्रम भंग' के चन्दन की तरह दोहरी मध्यवर्गीय नैतिकता से ग्रस्त है। "आपका बंटी" की प्रिंसिपल शकुन भी दोहरी नैतिकता से ग्रस्त है। "सात साल से मैं अकेली ही तो बंटी को पाल रही हूँ। उसका हित-अहित मैं दूसरों से ज्यादा जानती हूँ।"[39] कहने वाली शकुन अब बंटी को अपने और डॉ. जोशी के बीच बाधा समझती है "नहीं वह इस साथ के बीच में अब कोई बाधा बर्दाश्त नहीं करेगी। बंटी की भी नहीं।"[118] ...बंटी उसके और अजय के बीच सेतु नहीं बन सका तो वह उसे अपने और डॉक्टर के बीच में बाधा भी नहीं बनने देगी।"[120] और अन्त में अजय के पास भेजने को तैयार हो जाती है "बंटी यदि सहज ढंग से अपने को उसके और डॉक्टर के बीच में से समेट नहीं लेता तो वह उसे अजय के पास भेज देगी।"[121] अजय बंटी को ले जाने आता है तो कहती है "मुझे कोई एतराज नहीं होगा। सच पूछो तो मैं तो खुद अब यही चाहने लगी थी कि इसे तुम्हारे पास ही भेज दूँ। बहुत रख लिया। अब कम से कम मैं अपनी जिन्दगी जिऊँ" (पृ. 202) "न आने वाला कल" का मनोज का अपनी पत्नी शोभा के साथ सुखी दाम्पत्य जीवन न होने पर उसे छोड़ नहीं पाता क्योंकि इससे स्कूल में उसकी छबि खराब हो जाएगी, वह स्वयं सोचता है कि "अपनी ही इच्छा और जिम्मेदारी से हम लोगों ने अपने लिए एक परिस्थिति खड़ी कर ली थी, जिससे उबरने का उपाय दोनों को ही नहीं आता था। इसके बाद रह सकना लगभग असम्भव था, पर सम्बन्ध विच्छेद की बात दोनों अपने-अपने कारणों से जबान पर नहीं ला पाते थे। शोभा के लिए प्रश्न था विरोधी परिस्थितियों में लिए गए अपने निर्णय का मान रखने का, मेरे लिए पहले की बनी अपनी गलत तस्वीर को सही साबित न होने देने का।" (पृ. 22) "रेखा" के प्रोफ़ेसर शंकर की दोहरी नैतिकता का पता तब चलता है जब वे रेखा से पहले गाइड बनने से इन्कार

करते हैं फिर उसकी सुन्दरता से प्रभावित होकर उसके गाइड हो जाते हैं। उनकी इस बातचीत से पता चलता है "वह सिवा डी. लिट्. के और किसी रिसर्च के गाइड नहीं होते थे। विश्व के विभिन्न विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी हिन्दू-दर्शन पर डी. लिट्. के लिए उन्हें अपना गाइड बनाने को उत्सुक रहते थे, लेकिन एक समय में वह एक से अधिक विद्यार्थी किसी हालत में न लेते थे।" प्रोफ़ेसर शंकर ने रेखा को इस बार गौर से देखा। प्रथम बार रेखा को डॉक्टर शंकर की दृष्टि की पैनी चुभन का अनुभव हुआ। एक पुलक के रूप में और उसने सुना, "मिस भारद्वाज। तुम तो जानती ही हो कि मेरे पास समय का नितान्त अभाव है। मुझसे तुम्हें किसी प्रकार की सहायता न मिल सकेगी।"...."अच्छी बात है मिस भारद्वाज, मैं अपना नियम तोड़कर तुम्हें गाइड करूँगा। मैं अन्ततोगत्वा एक शिक्षक हूँ, मेरी समस्त ख्याति शिक्षक की ख्याति है, मेरी समस्त मान्यताएँ भी शिक्षक की होनी चाहिए - मैं एकाएक यह अनुभव करने लगा हूँ। तुम्हारे जैसे सुलझे हुए कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभाशाली विद्यार्थी को पाकर हरेक शिक्षक को हार्दिक प्रसन्नता होनी चाहिए।" §पृ. ।।-।3§ उनकी दोहरी नैतिकता इस उद्धरण से भी प्रकट होती है — वे देवकी से कहते हैं "वह मेरी शिष्या है; मर्यादा और सीमा का उल्लंघन मैंने कभी नहीं किया है।"[24] पर रेखा के उत्तीर्ण होने पर इस मर्यादा व सीमाओं का उल्लंघन हो जाता है "मेरी बधाई रेखा । मैं जानता था कि तुम्हें फर्स्ट क्लास फर्स्ट मिलेगा....प्रभाशंकर को ऐसा अनुभव हुआ कि रेखा उनके निकट आ गयी है। उनके शरीर से रेखा का शरीर स्पर्श कर रहा है और उनका हाथ रेखा के सिर से हटकर उसके कन्धे पर आ गया है। रेखा का मुख उनके वक्ष के बहुत निकट आ गया है। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि रेखा के शरीर में एक प्रकार का कम्पन्न उत्पन्न हो गया है। रेखा का मुख झुका हुआ था। प्रभाशंकर ने रेखा का सिर ऊपर उठाया, रेखा की आँखों में आनन्द के आँसू छलक रहे थे। फिर प्रभाशंकर का मुख झुका, और अचानक प्रभाशंकर के अधर रेखा के अधरों से मिल गये।" §पृ. 50§ प्रोफ़ेसर शंकर के मिसेज चावला के साथ अनैतिक संबंध रहते हैं पर रेखा के अन्यत्र अनैतिक सम्बन्धों को स्वीकार नहीं कर पाते "रत्ना

ने प्रभाशंकर का हाथ पकड़ कर कहा, "तुम मुझे सोफे पर लिटा दो, और थोड़ी देर मेरे पास बैठो। उफ कितनी सर्द हवा आ रही है। दरवाजा अन्दर से बन्द कर लो प्रोफ़ेसर, इस कमरे में लाइट की क्या जरूरत है।" प्रभाशंकर को लगा कि रात में एक अजीब तरह की जलन है, और उनके अन्दर एक प्रबल मन्थन है। शरीर का अपना एक अलग स्थान है, आत्मा से पृथक और इस शरीर का अपना निजी धर्म है, और मनुष्य वह धर्म निभाने को विवश है। उस समय आत्मा का अस्तित्व धुंधला पड़ गया था, ठीक उसी तरह जिस तरह कमरे के अन्दर वाला प्रकाश जाता रहा था। दूर, बहुत दूर से विवेक की क्षीण आवाज उनके पास वाले वासना के कोलाहल में डूब गयी थी।"[134] और जब रेखा व निरंजन के सम्बन्धों को जान जाते हैं तो "निरंजन की ओर से घूमकर उन्होंने रेखा के मुँह पर एक एक भरपूर तमाचा मारा, हरामजादी कहीं की, निकल यहाँ से और अपने यार के साथ मुँह काला कर जाकर। "...प्रभाशंकर खड़े क्रोध से कांप रहे थे और रेखा को भद्दी-भद्दी गालियाँ दे रहे थे। रेखा जमीन पर पड़ी थी। और फिर निरंजन ने देखा कि प्रभाशंकर ने बढ़कर रेखा को एक जोर की ठोकर मारी।" (पृ. 144) इसी तरह "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की सुषमा, नील के साथ तो सम्बन्ध बनाये रखती है पर अपनी अन्य सह-अध्यापिकाओं व छात्रों के देखे जाने से डरती है "सुषमा को लग रहा था कि कहीं कोई परिचित न मिल जाए। न जाने क्यों, इस समय नील के साथ आने पर बड़ी झिझक (सेल्फ कांशस) महसूस कर रही थी।"(पृ. 98)

"अलग-अलग वैतरणी" का विपिन गाँव को लेकर ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें करता है। अपने मित्र व उसके पिता को नौकरी की अपेक्षा गाँव में दवाखाना खोलने की सलाह देता है "मगर नौकरी में कुछ नहीं है महाराज जी। अव्वल तो नये आदमी को जल्दी अच्छी नौकरी मिलती ही नहीं। फिर उसमें भी बस तरह की झंझटे हैं। आमदनी भी क्या ? गिनी-चुनी रूपल्ली हर महीने। देवनाथ का तो बड़ा सम्मानित पेशा है। जनता की सेवा। कुछ ऐसा क्यों नहीं करें कि अपना भी

लाभ हो और जितनी बन सके, उतनी जनता की सेवा भी हो।" जब देवनाथ प्राइवेट प्रैक्टिस करने की बात कहता है तब पुनः कहता है "मैं भी सोचता था। एक अच्छी डिस्पेंसरी खोल लो। जम जाओ भगवान् का नाम लेकर। चल जाने पर है। तुम्हारा बर्ताव-व्यवहार अच्छा है ही। रोगी आयेंगे। धीरे-धीरे प्रचार भी हो जायेगा। घर बैठे खासी आमदनी हो जायेगी। क्यों महाराज जी ? ... ..रही फीस की बात, तो उसमें थोड़ा गाँव घर का लिहाज तो करना पड़ता है। आस-पास के गाँवों में भी कहीं कोई डॉक्टर नहीं है। सब जगह जरूरत रहेगी। मजे से चल जायेगा।"[118] साल भर बाद ही विपिन की वास्तविकता उभर कर आती है, वह खुद देवनाथ द्वारा कस्बे में दवाखाना खोलने पर उससे मिलने जाता है और देवनाथ के पिताजी के विचारों का मुरीद बन जाता है "होना ही पड़ता है भाई मुरीद ऐसे लोगों का जिन्होंने दुनिया देखी है। नीच-ऊँच समझते हैं। उनके तजुर्बे से लाभ उठाना कोई गुनाह तो है नहीं।"[464] जब देवनाथ यह पूछता है कि "साल भर तो हो गया गाँव में रहते। अभी भी मन में ग्राम सुधार का उत्साह बचा है या कुछ अपने बारे में भी सोचना-वोचना है।" तब वह कहता है कि "मारो साले गाँव को गोली।" ...साल भर तक मैंने इस गाँव में रहकर यह जान लिया है कि यहाँ किसी भले आदमी का रहना मुश्किल है। यह एक जीता-जागता नरक है जिसमें वही आता है जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं। चारों ओर कीचड़, बदबूदार नाबदान, गू-मूत, बीमारियाँ, कुलबुलाते कीड़े, मच्छर, जहरीली मक्खियाँ—इसके बीच भूखमरी, डरावनी हड्डियों के ढ़ाँचे, किंचरीली आँखों और बीमारी से फूले पेट वाले छोकरे, घरों में बन्द गन्दगी में आपाद मस्तक डूबी औरतें, जो एक दूसरे को खुले आम चौराहे पर नंगियाने में ही सारा सुख और खुशी पाती हैं, धुंधलाते मन के अपाहिज जैसे नवयुवक, जो अंधेरी बंद गलियों में बदफैली करने का मौका ढूँढ़ते फिरते हैं, हारे-थके प्रौढ़ जो न गृहस्थी के जुये को उतार पाते हैं, न उसमें उत्साह से जुत

पाते हैं। मौत का इन्तजार करते बुढ्ढे अपने ही बेटे-बेटियों से उपेक्षित बिलबिलाते रहते हैं -- यही है न हमारी जन्म भूमि करैता भइया, मैं तो भर पाया। साल भर तक इस गाँव को देखकर जान लिया कि यदि कुछ दिन और यहाँ रह गए तो हम भी तन-मन से इस महाकाय धूरे का एक हिस्सा बन जायेंगे।"[469] और अन्त में गाजीपुर में इतिहास का प्राध्यापक बनकर जाते समय मिसिर जी से कहता है "यहाँ रहकर कूडा बनने से तो अच्छा है कहीं चला ही जाऊँ। मैं तो बड़ी उम्मीदें लेकर आया था। जन्म भूमि के प्रति अपने मन में कम मोह भी नहीं है। पर ऐसा गन्दा और वाहियात हो गया है यह गांव, यह मैं नहीं जानता था। पहले मुझे विश्वास नहीं होता था, पर साल भर यहाँ रहकर मैंने यह जान लिया कि इस गाँव पर सचमुच ही कीनाराम का शाप है। इसे बरबाद होने से कोई नहीं रोक सकता। ...करैता जैसा बदनाम, दरिद्र गिरा हुआ, बीमार गाँव शायद ही इस देश में कहीं हो। यहाँ कोई भला आदमी रह ही नहीं सकता।" ...मैं गाली नहीं दे रहा था। मैं खुद बहुत दुखी हूँ कि मेरा गाँव ऐसा हो गया। जो जा रहे हैं जाय। उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। पर जो रह रहे हैं, उन्हें तो सोचना चाहिए कि आखिर इस जगह को अच्छी कैसे बनाया जा सकता है।" §पृ.484-85§ विपिन स्वयं एक वर्ष गाँव में रहा, उसने गाँव को सुधारने का प्रयास क्यों नहीं किया ? केवल आदर्श की बातें करता रहा जबकि उसे रचनात्मक कार्य करना चाहिए था। इस तरह उसके कथनी और करनी में अन्तर है जिससे उसकी दोहरी नैतिकता को स्पष्ट देखा जा सकता है।

दोहरी नैतिकता और दोहरे मानदण्ड बुद्धिजीवियों के लिए ऐसे अपरिहार्य तत्व बन गये हैं कि यदि कोई लेखक अपने आपको विशिष्ट या असाधारण न समझते हुए पूरी सादगी के साथ सहज जीवन बिताना चाहता है तो उसके प्रशंसक उसे ऐसा करने से रोक देते हैं। इसका बहुत अच्छा उदाहरण है "एक इंच मुस्कान"

जिसमें "अमर" को उसकी प्रशंसिका "अमला" यह कहकर रंजना से विवाह करने से रोक देती है कि "कलाकार के लिए जिम्मेदारियाँ घातक है — वह मुक्त प्राणी है।" अमला की यह सीख इतनी विध्वंसक सिद्ध होती है कि इस त्रिकोण के तीनों कोण अमर, रंजना और अमला अलग-अलग एक असह्य यातना में जीने के लिए विवश हो जाते हैं। इसके लिए उत्तरदायी है यह अवधारणा कि "कलाकार को घर-परिवार की जिम्मेदारी नहीं लेनी चाहिए और वह इन सब से मुक्त एक असामान्य प्राणी है।" अमर अन्त तक इसी गलतफहमी का शिकार रहता है और उसका व्यक्तित्व निरन्तर दो भागों में विभक्त होता चलता है एक भाग जो उसे जीवन की सहज मानवीय स्थितियों की ओर खींचता है और दूसरा भाग जो उसे असाधरणता के अहंकार में बंदी रखता है। इसके लेखकों में से स्वयं राजेन्द्र यादव का कहना है कि "यह सचमुच आज के संक्रातिकालीन बुद्धिजीवी की ट्रेजेडी और व्यक्तित्व का स्खलन है तो क्यों न उसकी सम्पूर्णता में चित्रित हो ?" (पृ. 284)

निष्कर्ष

इस प्रकार इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण-व्यावसायिक और भौतिकीकरण के परिप्रेक्ष्य में बहुत सटीक ढंग से हुआ है। व्यावसायीकरण के दबावों के तले कुचली जाती बुद्धिजीवी वर्ग की आकांक्षाएँ, उसकी विवशताएँ और उसकी दुविधापूर्ण स्थिति का सूक्ष्म अंकन इन उपन्यासों में हुआ है। इस पक्ष की विशेषता यह है कि इन उपन्यासकारों ने शोषित होने के लिए मजबूर बुद्धिजीवी वर्ग की महत्वाकांक्षाओं और सफलता के स्पर्धा में उसकी अंधी दौड़ का बेबाक चित्रण किया है।
बुद्धिजीवी शोषित होता है, अपने शोषित होने का उसे पूरा अहसास है, उन कारणों

को भी वह पहचानता है जो उसे शोषण के गर्त में ढकेल रहे हैं, इसके बावजूद वह इस शिकंजे से निकलना नहीं चाहता बल्कि मौका मिलते ही अपने से नीचे और कमजोर बुद्धिजीवी का शोषण करता है। इस प्रकार इन उपन्यासकारों ने स्पष्ट बताया है कि बुद्धिजीवी वर्ग की दारुण यातना का कारण है उसकी अपनी समझौतावादी, अवसरवादी और महत्वाकांक्षा व विवशता के आगे लड़ न पाने की दुर्बल नीति ।

o
o o
o

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

5. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण : संवेदनशीलता का असाहचर्य

5.1 संवेदनशीलता का असाहचर्य और भावनात्मक शोषण

5.2 आत्मविश्लेषण

5.3 आत्मनिर्वासन

पंचम अध्याय

5. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण : संवेदनशीलता का असाहचर्य

आधुनिकीकरण के दौर में तकनॉलोजी ऐतिहासिक-सामाजिक रूपों वाले श्रम विभाजन तथा उत्पादन सम्बन्धों को अत्यन्त गहराई से प्रभावित करती है। आधुनिक तकनॉलोजी के परिणामस्वरूप श्रम (लेबर) तथा कार्य (वर्क) का श्रम की कृति (प्रॉडक्ट) तथा कार्य की प्रक्रिया (प्रॉसिस) के साथ कुछ ऐसी संगति बैठी कि मनुष्य ने अपने ही श्रम की कृति या उत्पाद्य (प्रॉडक्ट ऑफ लेबर) और कार्य की प्रक्रिया (प्रॉसिस ऑफ वर्क) पर अपना नियन्त्रण खो दिया। अब उसका नियन्त्रण न तो कृति (उत्पाद्य) पर रहा और न प्रक्रिया पर। अतः अब श्रम और कार्य में तो जुटा रहा लेकिन श्रम के उद्देश्य तथा कार्य के उल्लास से वंचित हो गया। इस प्रक्रिया को ऐलीयेनेशन या आत्म-परायापन की संज्ञा देते हुए कार्ल मार्क्स ने इसके विभिन्न सोपानों को समझाया है। ऐलीयेनेशन से प्रतिपन्न अवमानवीयकरण (डी. ह्यूमनैजेशन) का पहला पक्ष यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में कामगर जो पैदा करता है वह उसकी अपनी वैयक्तिक रचना नहीं है। इस रचना के लिए वह स्वयं प्रयोजन या लक्ष्यों को निर्धारित नहीं करता। वह तो एक साधन या पूर्जा मात्र है। इसका दूसरा पक्ष है जहाँ रचना के अलावा प्रक्रिया भी पराई हो जाती है अर्थात् कामगर का कार्य और व्यवहार उसके द्वारा निर्धारित न होकर उत्पादन प्रणाली में उसकी सामाजिक स्थिति

के द्वारा निर्धारित होते हैं। इसका तीसरा पथ तब सामने आता है जब श्रम आवश्यकताओं की तुष्टि न होकर उन आवश्यकताओं की तुष्टि का साधन मात्र हो जाता है जो बाहरी है। इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था में स्वभावत: मानवीय एवं सृजनात्मक श्रम केवल जैविक आवश्यकताओं की तृप्ति का साधन बन जाता है।[1]

यह विवेचन आधुनिक भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की मानसिकता और व्यवहार को समझने के लिए पर्याप्त आधार प्रदान करता है। पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि भारत में स्थापित अर्ध-सामन्ती और अर्ध-पूंजीवादी व्यवस्था ने शिक्षित वर्ग की मानसिकता को किस प्रकार प्रभावित किया। भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से परिचालित ये बुद्धिजीवी चरित्र एक ओर तो सामन्ती मूल्यों, रूढ़ियों, परम्परागत दायित्वों और बन्धनों से जकड़े हुए हैं तो दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था की लाभमूलक प्रतिस्पर्धात्मक नीति उनका तेज़ी से अमानवीयकरण करती जा रही है। इन बुद्धिजीवियों का श्रम (बौद्धिक) उसी प्रकार पण्य वस्तु या (कॉमोडिटी) है जिस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में कोई भी वस्तु होती है किन्तु बुद्धिजीवी इसे समझकर भी इससे मुक्त होना नहीं चाहते। फलत: झूठा अहंकार, प्रदर्शन वृत्ति, मूल्यरक्षा का संकल्प, तथाकथित प्रगतिशीलता और बौद्धिकता का दम्भ इनकी संवेदनशीलता में दरार पैदा कर देता है। इसी प्रक्रिया को "संवेदनशीलता का असाहचर्य" कहा गया है। फलत: ये बुद्धिजीवी बुरी तरह शोषित होते हैं। भावना के स्तर पर, श्रम के स्तर पर, बुद्धि के स्तर पर, कहीं आदर्श के नाम पर तो कहीं यथार्थ का बहाना लेकर इन्हें शोषित किया जाता है। परिवार के द्वारा, अंतरंग और आत्मीय सम्बन्धों के बहाने, व्यवस्था और पूंजीवादी प्रतिष्ठानों के द्वारा प्रतिस्पर्धा और महत्वाकांक्षा के नाम पर शोषित होने के लिए आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी पात्र अभिशप्त दिखाई देते हैं। रोचक बात यह है कि जहाँ अपने शोषण

की प्रक्रिया को पहचान कर कुछ पात्र चरम आत्मनिर्वासन और अवसाद में डूब जाते हैं वहाँ उन्हीं में से कुछ अवसर मिलते ही दूसरे का ऐसा शोषण करने से नहीं चूकते। कुल मिलाकर इन बुद्धिजीवी चरित्रों का जो अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष आलोच्य उपन्यासों में दिखाई देता है उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया जा सकता है --

1. संवेदनशीलता का असाहचर्य और भावनात्मक शोषण
2. आत्मविश्लेषण
3. आत्मनिर्वासन

5.1 संवेदनशीलता का असाहचर्य और भावनात्मक शोषण

"भ्रम भंग" का चन्दन अति संवेदनशील है, अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति कोमल भावनाएँ रखता है। पिता के सेवा-निवृत्त होने पर अपने उत्तरदायित्व को समझकर बम्बई में नौकरी मिलने पर अपनी माँ से कहता है कि "देख माँ, अब अच्छी नौकरी मिल गई है। मन की नौकरी। तुझे महारानी बना दूँगा।"[45] {आगे सोचता है कि} ...बस, सिर्फ मैं हूँ...जिस पर अब इस पूरे परिवार को पलना है ...सोचा करता था - भाई-बहिनों का होना कितना सुख देने वाला होता है। आज सोच रहा हूँ, यह कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। फिर ये भाई-बहिन कहाँ है। मेरे बच्चे हैं ये। ...कुन्दन मुझसे बारह साल छोटा है। चम्पा पन्द्रह साल। नन्दू अठारह साल...। ...मैं महसूस कर रहा हूँ -- पिताजी पैंसठ के हो चले हैं। उन्होंने अपना कर्तव्य कर दिया। अब मुझे अपना फर्ज निभाना है। और मुझे लगता है, मैं उसके लिए तैयार हूँ। ...पिताजी के लिए

एक कुरता-पाजामा। माँ के लिए साड़ी-ब्लाउज़। नन्दू-कुन्दन के लिए एक-एक निकर। और फ्राक का कपडा, चटक फूलों वाली छींट। मैं संकल्प करता हूँ मन ही मन, इस घर को खुशियों से भर दूँगा।"(पृ. 45-48) और अपने संकल्प को किस तरह पूरा करता है देखिए जितेन्द्र को लिखे पत्र के माध्यम से "अब तो एक सन्तोष-सा होता है कि मैंने अपना फर्ज लगभग निभा दिया है। अपने को काटकर ...अपनी आकांक्षाओं को मसोसकर। ...इन पाँच वर्षों में मैंने यहाँ बड़े बुरे-बुरे दिन देखे हैं जितेन्द्र। कभी आधा पेट खाया है तो कभी उतना भी नहीं। शौक कोई पलने नहीं दिया। कभी मन मचला तो भूखे भाई-बहन आँखों के सामने आकर खड़े हो गये और मैं संभल गया।" (पृ. 66) लेकिन इतना कुछ करने के बाद भी उसके परिवार के किसी भी सदस्य को उसकी भावनाओं की कद्र नहीं हैं, वे तो बस उससे अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं। जब भी उन्हें किसी चीज की जरूरत पडती वे तुरन्त पत्र लिखकर फरमाइश कर देते हैं। उसके माता-पिता का भी सम्बन्ध केवल उसके द्वारा भेजे गए मनीआर्डरों तक ही सीमित हो जाता है। धीरे-धीरे चन्दन भी जानने लगता है कि उसका भावनात्मक स्तर पर शोषण हो रहा है "लेकिन पिताजी आप क्यों नहीं मानते, मुझे भी किसी का सहारा चाहिए। मैं भी थक चला हूँ। भरी जवानी में थक चला हूँ। ये होटेल...। यहाँ का सूखा खाना। आधा पेट। एक-एक रोटी के लिए दो-दो बार संकल्प-विकल्प। तुम सोचो। खूब सोचो... मैं ऐश कर रहा हूँ। तुम यही सोच सकते हो। तुम और कुछ नहीं सोच सकते। मैं यहाँ अस्पताल में पड़ा हूँ। मुझे यहाँ भी चैन नहीं है। यहाँ भी मुझे तुम लोगों की जान को रोना है ...। ...जी करता है, इस वार्ड के बीच में खड़ा होकर चिल्लाऊँ। कहूँ ... मेरा कोई नहीं है। न माँ, न बाप। न भाई, न बहिन। मैं अकेला हूँ। मेरा कोई भी नहीं है। एक लावारिस इनसान...। इस समाज का लावारिस इनसान ...। इसीलिए तुम सब मुझ पर अन्याय कर रहे हो। तुम सबको अपने दुख दिखते हैं। मेरा दुख कोई नहीं देख पाता। कोई देखना नहीं चाहता। तुम

मुझे अस्पताल में भी चैन नहीं लेने देते। यहाँ भी मेरे पीछे पड़े हो। अभी मुरदागाडी आयेगी। एक लावारिस लाश उस पर रख दी जायेगी। तब क्या तुम सब लोग आत्महत्या कर लोगे ? मुझसे प्यार है कहाँ तुम्हें। तुम्हें प्यार है मेरे मनी आर्डरों से। मेरे शोषण से। मेरा शोषण करके तुम लोग खुश होते हो। जरा-सा कुछ होता है, मुझे लिख देते हो। मैं किसे लिखूँ...। मैं किससे कहूँ...। पाँच साल हो गये मुझे यहाँ। तुमने कभी कुछ अच्छा लिखा ? बस यही कि यह चाहिए, वह चाहिए। या यह हो गया, वह हो गया। ...मैंने अपना पेट काट-काट कर तुम्हें खिलाया है। लेकिन यह कब तक चलता रहेगा। ...कुछ मेरे लिए भी तो सोचो। ...मेरे लिए भी पिताजी ....। मुझे तुमने पैदा किया है। मुझे भी दुनिया में जीने दो। ...इस तरह मैं कितने दिन जिन्दा रह पाऊँगा। प्लीज़... प्लीज़। प्लीज़...। मैं ज़िन्दा रहना चाहता हूँ। किसी मेघा के लिए । किसी चिमन्ना के लिए। अपने लिए। अपने सुन्दर बच्चों के लिए। ...प्लीज़, मुझ पर दया करो पिताजी । मुझे साँस लेने दो।...कहीं ऐसा न हो, आप पर मेरी हत्या का आरोप लग जाये। इसीलिए ...इसीलिए प्लीज़! प्लीज़ पिताजी।[77] अति तो तब होती है जब चन्दन अपने पिता बनने का समाचार अपने माता-पिता को सुनाने

जाता है तब भी वे पैसों की रटन्त लगाये रहते हैं तब चन्दन सोचता है "इन्हें कैसे बताऊँ कि चार सौ मिलते हैं और उनमें से दो सौ भेज देता हूँ। कितना मुश्किल पड़ता है, लेकिन फिर भी भेजता हूँ। इसे कोई नहीं देखता। मेरी मजबूरी को कोई नहीं देखता...मैं आया था इन्हें सूचना देने-अपने पहले बच्चे के जन्म की, इस खुशी में की कि आप अब बाबा और दादी बन गये। यहाँ इन्होंने मुझे कठघरे में खड़ा कर दिया है। इन्हें दुनिया की किसी और बात से कोई मतलब ही नहीं जैसे। इन्हें बस पैसा चाहिए। लेकिन वह तो मैं अपनी तरफ से ही सामर्थ्य से कहीं ज्यादा भेज रहा हूँ। मगर इसका ध्यान है किसे ? इन्हें तो इस बच्ची के होने से

भय होने लगा है कि कहीं इनके मनीआॅर्डर छोटे न होने लगे। कहीं मैं अब शुभी और आभा की चिन्ता न करने लगूँ...। कहीं...कहीं मैं इनकी उपेक्षा न करने लगूँ...। आप लोगों के भय और शंकाएँ मैं समझता हूँ पिताजी। काश, आप अपने ही रक्त ही इस बूँद को समझते कि मैं कमीना नहीं हूँ। होता तो अब तक ही इतना-इतना क्यों करता आता। मैं आपका बेटा हूँ। बेटा बनने का पूरा कर्ज मैं चुकाऊँगा...। हाँ, यह अब कर्ज ही तो हुआ ...? जहाँ सारा सम्बन्ध, सारा लाड और ममता पैसे पर आकर तुल जायें, वहाँ सोचना भी अस्वाभाविक होगा। आप स्वयं सोचिए पिताजी...।[157-158] इस तरह उसकी भावनाओं का कोई अर्थ परिवार वालों के लिए नहीं रह जाता क्योंकि उनकी भावनाएँ अलग स्तर की हैं और चन्दन की अलग। यही कारण है कि चंदन की सारी संवेदनाएँ असंगत हो जाती हैं। यही है संवेदनशीलता का असाहचर्य और भावनात्मक शोषण एक बुद्धिजीवी का, यदि घरवालों के प्रति विद्रोह मन में भी उत्पन्न हो तो उनसे अलग नहीं हुआ जा सकता चन्दन की भी यही स्थिति है। "अन्तरात्मा में कहीं जरूर बगावत उलझ रही है। इन दिखाऊ नाते-रिश्तों से। मन करता है - यहाँ से चल दूँ। अभी ...इसी वक्त। अभी तो तुम इनके प्रश्नों के कठघरे में खड़े हो। फिर नैतिक कर्तव्यों के सीखचों के भीतर किये जाओगे। कर्तव्य-जिनकी अपेक्षा हर माता-पिता अपनी सन्तान से करते हैं। मानों संतान को दी गयी ममता, उसे लिखाना-पढ़ाना-सब एक इन्वेस्टमेंट हो जिसे आगे चलकर सूद-दर-सूद चुकाना पड़ता हो। ...मन में घृणा जुड़ी है। निरपेक्ष होते नहीं बनता। चाह-चाह कर भी नहीं हुआ जाता। बचपन का स्नेह। बचपन की सम्पृक्तता। बड़ा होने की जिम्मेदारी। पिता के अभाव को पूरा करने की नैतिकता...। पूरे परिवार को ऊँचा उठाने का संकल्प।...कुन्दन फिर घर से

चला जाता है। चौथी बार।" §पृ. 158-186§ इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बुद्धिजीवी वर्ग केवल स्वार्थी या पाखण्डी या अवसरवादी ही नहीं, उसकी मेधा, कौशल, भावना और अर्जन क्षमता उसे अपने आत्मीयजनों के द्वारा शोषित होने के लिए विवश करते हैं। परिवार जहाँ मनुष्य के विकास का पहला सोपान है और ऐसा आश्रय स्थल है जहाँ मनुष्यता आँख खोलना सीखती है, वहीं परिवार मनुष्य के भावनात्मक शोषण का सबसे नाजुक स्थल है, यह उसके विकास का सबसे बड़ा अवरोध है। इस बात का पता हमें चलता है स्वतन्त्र्योत्तर उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी वर्ग की असहाय स्थिति के द्वारा। ऊपर उद्धृत पात्र यह जानते हुए भी कि उनका शोषण हो रहा है इसे रोक नहीं पाते क्योंकि परिवार का कोमल, रेशमी रक्त-सम्बन्धी बन्धन तोड़ना उनके लिए दुष्कर है। इसी ऊहा-पोह में यह चरित्र छटपटाते रहते। परिवार के प्रति कर्तव्य न निभाये तो उनका अन्तःकरण उन्हें माफ नहीं करता और परिवार से जुड़ने का मतलब है अपने को निरन्तर शोषण के लिए प्रस्तुत करते जाना। इसी तरह "अन्तराल" की श्यामा अपने दिवंगत पति देव का वचन पूरा करते हुए सास व नन्द की परवरिश करती है स्वयं की भावनाओं को त्याग कर लेकिन उसकी सास-व ननद को केवल श्यामा के पैसे से मतलब है न की उसकी भावनाओं से। वह कुमार से कहती है "देव अब नहीं है, इसलिए उसे लेकर कुछ भी कहना-सोचना बेकार है। यह भी जानती हूँ कि उसके बाद, उसकी वजह से जिन लोगों की जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर लिये हूँ, उन्हें मेरे सुख-दुख से कोई मतलब नहीं है। मतलब है तो सिर्फ उन पैसों से जो हर महीने मैं उन्हें भेजती हूँ। पैसे वक्त से पहुँच जायें तो महीने के बाकी उनतीस दिन शायद उन्हें मेरी याद भी नहीं आती। ...जिस दिन वे लोग चली गई, मैं अकेले में खूब रोई। लगा जैसे उस दिन दूसरी बार देव की मृत्यु हुई हो। मन में विद्रोह भी उठा कि मैं क्यों उन लोगों के लिए यह सब कर रही हूँ, क्यों उन्हीं की तरह मैं

भी सिर्फ अपने लिए नहीं जी सकती ? फिर यह सोच कर अपने को समझा लिया कि मैं जो भी कर रही हूँ, उन लोगों के लिए नहीं, अपने लिए कर रही हूँ। देव ने डेढ़ साल में सिर्फ एक बार, एक ही चीज मुझसे चाही थी। वह भी मरते समय कि उसके बाद इन दोनों का ध्यान रखूँ, खास तौर से सीमा का जब तक कि उसकी शादी न हो जाए।" (पृ. 73-74) "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की सुषमा भी "चन्दन" (भ्रम भंग) की तरह बहुत भावुक बुद्धिजीवी है। अपने परिवार के लिए खुद की भावनाओं को त्याग देती है यहाँ तक कि जिस नील से प्रेम करती है उसे तक छोड़ देती है। अपने मां-पिता और भाई बहनों की ख़ातिर अपना घर भी नहीं बसाती। जब सुषमा को उसकी मौसी उसे स्वयं की जिन्दगीके बारे में सोचने के लिए कहती है तब उनसे सुषमा कहती है कि "पर इन सबको भी तो मदद की जरूरत है मौसी। पिताजी को पेंशन मिलती ही कितनी है ? उसमें तो दो वक्त दाल-रोटी भी न चले। मैं भी अगर न करूँ तो किसके आगे हाथ फैलाएँगे ? लड़कों को पढ़ाना है ही, सड़क पर तो आवारा घूमने नहीं दिया जाएगा...मैं जो करती हूँ; कर्तव्य समझकर नहीं मौसी, उनके प्यार में करती हूँ। मेरा तो मन होता है कि मेरे पास अगर और कुछ होता तो और भी करती। इन लोगों के लिए कुछ करके मन में बड़ा संतोष सा होता है। अपने लिए तो सभी करते हैं, छोटे भाई-बहनों को कुछ कर सकूँ, उस योग्य भी तो पिताजी ने ही बनाया।"[11] हालांकि नील उसे समझाते हुए कहता है कि "मुझे लगता है सुषमा, कि तुम्हारा परिवार तुम्हारा अनइयू एडवाण्टेज लेता है। तुम्हारे भाई-बहन, तुम्हारे माता-पिता की जिम्मेदारी है तुम्हारी नहीं।"[52] सुषमा वस्तुस्थिति जानते हुए भी अपने प्रेम का त्याग कर देती है अपनी कोमल भावनाओं का परिवार के नाम पर गला गोंठ देती है "टैक्सी वापस कर दो मीनाक्षी, मैं नहीं जाऊँगी।"[131] नील के साथ जाने का फैसला करती थी पर अपना इरादा बदल देती है हालांकि नील उसके लिए बहुत

महत्वपूर्ण हो गया था ..." कोई न समझेगा नील, कि तुम मेरे लिए क्या बन गए हो,"[58] अन्त में स्वयं ही भावनात्मक स्तर पर शोषित होते हुए नील से चले जाने के लिए कहती है "नौ साल से मैं इस कॉलिज में हूँ नील, पर यहाँ लोग किसी को जीने नहीं देते। इसीलिए मैं तुमसे कह रही थी कि मेरी ज़िन्दगी खत्म हो चुकी है। मैं केवल साधन हूँ। मेरी भावना का कोई स्थान नहीं। विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ देना मेरे लिए संभव नहीं। मैंने अपने को ऐसी ज़िन्दगी के लिए ढ़ाल लिया है। तुम चले जाओगे तो मैं फिर अपने को उन्हीं प्राचीरों में बंद कर लूँगी।"(पृ. 6) "परछाइयों के पीछे" की सुमित्रा भी भावनात्मक स्तर पर शोषित होती है। भाई-भावज के स्वार्थ व अपनी मजबूरी को जानते हुए भी उनके लिए बहुत कुछ करती है क्योंकि उस घर को वह अपना ही घर समझती है, यही भावना उसे शोषित होने के लिए मजबूर करती है "वह खुद जानती थी, कि भाई-भावज उसे सिर्फ अपने स्वार्थ से ही शरण दिए हुए हैं, भाभी स्थायी रूप से बीमार है भाई और दोनों बच्चों की देखभाल उनके बस की बात नहीं, वह रहती है तो घर का पूरा काम संभालती है ...वह अपनी मजबूरी को भी जानती है, उनके स्वार्थ को भी, -- फिर भी अपना तन-मन-धन पेलकर भी वह स्वयं वहीं रहती आई है। रुपया उसके पास उतना नहीं था, फिर भी बच्चों के लिए अम्बाला रुपया भेजने के बाद बचे रुपयों में से अपने रहने-खाने के बाद वह कितना कुछ इसी घर में खर्च करती रही है। शेष के लिए उसने अपने तन को खपाया है -- एकदम निःस्वार्थ भाव से सेवा-लगन और प्रेम के साथ इस घर को उसने कभी अलग समझा ही नहीं।"(पृ. 215) सुमित्रा का पति भी उसका शोषण करता है और वह शोषित होने के लिए मजबूर है क्योंकि वह अपने बच्चों के साथ भावनात्मक स्तर पर जुड़ी है उसकी ममता उसे शोषित करती है अपने बच्चों को देख सकने की भावना के कारण ही हर माह अपने पति को आधा वेतन देती है जिसका पता इस उद्धरण से होता है "मेरी तनख्वाह में से जो हर महीने तुम आधो-आध नकोट लेते हो सो ? किसी महीने

जरा-सी भी देर हो गई तो कितनी दफा तुमने फोन किया है, चिट्ठी लिखी है। इसीका तो नाता है न तुम्हारा-मेरा ?"(पृ.148-149) "नगर पुत्र हंसता है" की शिक्षा विभाग की कर्मचारिणी "माधवी' अपनी भावनाओं का दमन कर परिवार के प्रत्येक सदस्य के फरमाइशों की पूर्ति करती है पर वे कभी उसकी भावनाओं-इच्छाओं को पूछने नहीं आए। अपने घर जाते समय माधवी सोचती है "आखिर को तो मैं अपने घर ही जा रही हूँ। यह देखिए भाई, बहिन सभी के लिए कुछ न कुछ ले जा रही हूँ। यहाँ तक की माँ-बाप के लिए भी कपड़े ले लिए हैं। मगर फिर भी सब कुछ कितना अधूरा है। किसी को यकीन ही नहीं आता कि दिल्ली में एक मामूली नौकरी करने पर सिर्फ इतनी ही चीजें ले जाई जा सकती है, और वह भी अपनी इच्छाओं को मार कर, अपनी जरूरतों को कम करके। किसी को यह नहीं समझाया जा सकता कि इस बड़े शहर में रहने वाला भी कितना असहाय हो जाता है। कितनी दयनीय स्थिति में जीता है। लोगों का कहना है यहाँ पैसा हवा में उड़ता है। यहाँ सम्पन्नता मारी-मारी फिरती है। इसलिए हर समय फरमाइश लगी रहती है, यह चीज़ लाना है, वह चीज लाना। कहाँ से लाना यह कोई नहीं बताता।"(पृ. 76) शोषण केवल आर्थिक और भावनात्मक नहीं, पति-पत्नी के अंतरंग सम्बन्ध में शरीर और शारीरिक तृप्ति का भी होता है। "शेषयात्रा" का डॉ. प्रणव अपनी पत्नी की कोमल भावनाओं तथा शरीर का शोषण करता है। चन्द्रिका से विवाह करने का निश्चय करने के बाद अनु द्वारा विरोध करने पर उसके प्रति रोष इस तरह प्रकट करता है — "अनु ने अपने को प्रणव की कसी पकड़ में घिर जाने दिया। प्रणव के होंठ क्रूर थे। वह एक हिंसक आक्रोश में अनु को झकझोर रहा था, प्यार में नहीं। अनु ने उसे दूर ठेलना चाहा। वह प्रणव, जो देर तक उसे सहलाता, दुलारता रहता था, इस वक्त कहाँ सो गया था। रह गया था एक पुरुष मात्र, जिसका अव्यक्त रोष, और ऐंठती हुई ताकत वह महसूस कर रही थी, पर जिसका कारण जानने में वह असमर्थ थी। वह देर तक कुचली-टूटी चुकी हुई पड़ी रही।"(पृ. 42)

5.2 आत्मविश्लेषण

आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी विभिन्न संदर्भों में अपने ही वर्ग की स्वार्थपरता, अवसरवादिता, महत्वाकांक्षा, दोहरी नैतिकता, व्यक्तिवादिता, परम्पराबद्धता और परम्परामुक्तता या प्रगतिशीलता तथा आदर्श-प्रियता व संघर्षशीलता आदि गुणों व अवगुणों को अपने विचारों से प्रकट करते रहे हैं। अपने ही वर्ग के बारे में कहकर एक तरह से वे अपना आत्मविश्लेषण कर रहे हैं। "विपात्र" का कथानायक "मैं" जो कि अध्यापक है और अपने साथी शिक्षकों के सम्बन्ध में आत्मविश्लेषण करते हुए कहता है कि "वैसे हम सब नौजवान थे, कई उपाधियों से विभूषित थे, अपने विषय के आचार्य माने जाते। एक तरह से हम भोले थे, सरल हृदय भी। हम किसी के दुःख से पिघल भी सकते थे, सहायता भी करते थे। लेकिन हममें सामाजिक चेतना नहीं थी क्योंकि असल में हम सब लोग हरामखोर थे। और मजा यह कि वैसे व्यक्तिशः हम बुरे भी नहीं थे। भले मानस थे, अच्छे आदमी कहलाते थे। अच्छा आदमी वह होता है, जिसकी बुराई ढ़की रह जाती है — चाहे आप ही आप, चाहे किये-कराये से। हम ऐसे ही भले मानस थे।"[28] --- वैसे हर आदमी भला है !! बुरा कौन है !! -- कोई नहीं। और जो बुरे हैं वे इसलिए हैं कि उन्हें मालूम है कि खोटा सिक्का चलता है। वे बुरे नहीं। चतुर हैं वे, सिर्फ चतुर। ये सब। पढ़े-लिखे हैं, कोई एम.ए. तो कोई डॉक्टर !! लेकिन ये किस मर्ज की दवा है !! ....उनकी सबसे बड़ी इच्छा क्या है !! वे सबकी दृष्टि में ऊँचे और अच्छे बने रहें और उनके प्रभाव का विस्तार हो। इसीलिए ये सब लोग बड़े आदमियों के चक्कर में हैं ; दूर-दूर लोगों से पत्र-व्यवहार करते हैं, उनके काम आते हैं। अगर ये देश का अध्ययन भी करते हैं तो इसीलिए कि इस बहाने ही कुछ पैसा और प्रभाव हाथ आ जाये।

ये लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं; लेकिन अपनी बात निभा नहीं सकते। हम-सरीखे छोटे आदमी के प्रति-जनसाधारण के प्रति उनकी दृष्टि ओछी और छिछली है। ये विचारों में रहते हैं; लेकिन वे हवा के रूख को देखकर ही विचार और भाव रखेंगे। हवा के रूख को देखकर ही ये बात बनायेंगे, बात बदल देंगे।..."ये इस फिक्र में हैं कि शार्कस्किन का पैण्ट और ख़द्दर की धोती कहीं खराब तो नहीं हो गयी है। शिक्षित-संस्कृत लोग एक विशेष जीवन प्रणाली के उपासक हैं। वह विशेष जीवन-प्रणाली ही उनके लिए सब कुछ है। वे अपनी इस उच्चतर जीवन-प्रणाली की रक्षा के लिए ही संघर्ष करते हैं। वहीं उनका आदर्श है। इसीलिए एक डी.एस.सी. (डॉक्टर ऑफ सायन्स) हमारे यहाँ एस.डी.ओ. (सब-डिवीज़नल ऑफिसर) है। कई फ़र्स्ट क्लास एम.ए. आजकल कलेक्टर हैं, आई.ए.एस. हैं। यह नहीं कि उन्हें विज्ञान के प्रति एकनिष्ठ अभिरुचि थी। इसीलिए वे डी.एस.सी. या फ़र्स्ट क्लास एम.ए. हुए हैं, या उन्हें देश के कार्य संचालन के प्रति विशेष अनुराग है, इसीलिए वे आई.ए.एस. हुए हैं। न, न, न। इसलिए बिल्कुल नहीं। वे डी.एस-सी. या आई.ए.एस. इसलिए हुए हैं कि उन्हें पैसा और प्रभाव मिले, पद और प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ख़ूबसूरत जिन्दगी जीने को मिले !! मैं यह नहीं कहता कि उनमें ऐसे लोग नहीं जिनमें भलमनसाहत है। उनमें बहुत-सी अशान्त आत्माएँ भी हैं। लेकिन कुल मिलाकर क्या है !! कुछ नहीं। उनसे हमारे जो दरमियानी फ़ासले बने हुए हैं वे बने रहेंगे। हम उनके बीच अकेले हैं, अकेले रहेंगे।...

हाँ, यह सही है कि ऐसे पढ़े-लिखे लोग भी हैं जिन्हें देश की दशा को देखकर अपना कहीं ठिकाना लगता-सा मालूम नहीं होता। वे निराश इसलिए हैं कि वे किंकर्तव्यमूढ़ हैं। वे क्लर्क हैं छोटे अफसर; ...कालेज के लेक्चरर हैं। वे अपनी जीवन-प्रणाली की रक्षा के लिए चाहे जो करते हैं, कोई रिश्वत खाता है तो कोई कुंजिया लिखता है, तो कोई पैसे लेकर फ़ेल को पास करता है !! उनके लेखे,

बेवकूफ़ वह है जिसकी कुछ नहीं चलती, जो अपने पेट को काटकर, बाल-बच्चों को तरसा-तरसाकर जीवन-यापन करता है। ऐसे ये लोग हैं ।। ये शिक्षित हैं, संस्कृत हैं !! अपनी बर्बरता को ढ़ाँकने के लिए रवीन्द्र की जयन्तियाँ मनाते हैं, अपने पशुत्व को छिपाने के लिए सुन्दर भावों मे जंगली आत्मा को ढ़ँकते हैं, पैसा और नाम दोनों कमाते हैं। हवा के रूख को देखकर बात करते हैं, सभा को देखकर टोपी बदलते हैं। और अमेरीका जाते हैं, लेकिन अपने ही शहर की गन्दी बस्तियों के घरों में झाँक कर नहीं देखते !!

"उनमें से बहुतेरे बुद्धिमान हैं, बहुतेरे ज्ञान-सम्पन्न भी हैं, कलाकार है और पंडित भी। लेकिन बड़ी-बड़ी किताबें लिखते हुए बंजर है, इसलिए कि उनकी आत्मा ऐसे जनेनन्द्रिय के समान है जिसकी तिजारत होती है। आजकल का सेठ साफ-साफ कहता है कि पैसों से मैं इन्हें खरीद दूँगा। वह जानता है कि इनसे जो चाहे करवाया जा सकता है। उधर ये खुद खरीदे जाने का इन्तज़ार कर रहे हैं। कोई आये और उनकी बोली लगाये।" §पृ. 69-7।§ यही बात आज से करीब अर्ध शती पूर्व ही प्रेमचन्द ने "महाजनी सभ्यता" लेख में लिखा था कि "साहित्य, संगीत और कला-सभी धन की देहलीज पर माथा टेकने वालों में हैं।"[2] इसी उपन्यास के दर्शन शास्त्र के अध्यापक मिश्रा जी अंग्रेज़ी अध्यापक जगत को, स्वयं को तथा अपने वर्ग को नपुंसक मानते हैं। जगत से कहते हैं कि —"हमारे - तुम्हारे बीच कोई झगडा नहीं है, जगत। तुम्हारा-हमारा प्राकृतिक सह-अस्तित्व है क्योंकि हम दोनों... एबीलार्डस हैं।"

एबीलार्ड । मेरे §कथानायक मैं§ में एक बिजली कौंध उठी। एक अर्थ मुझ पर वज्र - सा गिर पड़ा।

एबीलार्ड । शिखण्डी सन्त जिसने अपनी जनेनन्द्रिय को चाकू से काट दिया था। सन्त बने रहने के लिए ! §पृ. 52-53§ यही बात दूसरे शब्दों में धूमिल यों कहते हैं कि -- "मैंने जिस-जिस की पूंछ उठाई उसको मादा पाया।" अपने वर्ग को

नपुंसक तो "दीक्षांत" के डिसूजा भी मानते हैं। जब शर्मा जी द्वारा "बरूआ" को नकल करते हुए पकड़ा जाता है तो डिसूजा उनसे अकेले में आकर कहता है कि — "मान गया पार्टनर, गट्स हैं तेरे पास, बाकी तो सारी-की-सारी यह जाति नामर्द है, नपुंसक ..." §पृ. 66§ "गली आगे मुड़ती है" की जयन्ती यह प्रश्न करती है कि "क्या यह नहीं कि आज का साहित्यकार या अध्यापक इतना सुविधाजीवी और कायर हो गया है कि वह युवा की समस्याओं से अपने को जोड़ने में भय का अनुभव करता है ?" §पृ. 214-215§ "भ्रम भंग" के प्राध्यापक चन्दन का साहित्यकारों के सम्बन्ध में विचार है कि "साहित्यकार का व्यक्तित्व ही उसके कृतित्व में अंकित होता है। अपने कृतित्व में वह शाब्दिक लच्छेदारी से अपनी चारित्रिक हीनता को भी श्रद्धा और आदर्श की वस्तु बना जाता है। यह नितान्त गलत है। साहित्यकार के व्यक्तित्व को उसके कृतित्व से, या कृतित्व को उसके व्यक्तित्व से, अलग करके नहीं देखा जा सकता। नहीं देखा जाना चाहिए।" §पृ. 32§ "नदी के द्वीप" का भुवन साहित्यकार व पत्रकार में अन्तर करते हुए सोचता है कि "साहित्यकार जो क्षणिक है, उसमें से सनातन की छाप को, या जो सनातन है, उसकी तात्क्षणिक प्रासंगिकता को खोजता और उससे उलझता है, पर पत्रकार की क्षणिक की क्षणिक प्रासंगिकता ही सनातन है, और जहाँ वह उस प्रासंगिकता को तत्काल नहीं पहचानता, वहाँ उसका आरोप करता चलता है..." §पृ. 20§ "राग दरबारी" के प्रिंसिपल, यूनिवर्सिटी के बुद्धिजीवियों एवं उनकी स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि — "वहाँ तो और भी नरक है। पूरा-कुम्भीपाक। दिन-रात चापलूसी। कोई सरकारी बोर्ड दस रूपली की ग्राण्ट देता है और फिर कान पकड़कर जैसी चाहे वैसी थीसिस लिखा लेता है। जिसे देखो, कोई-न-कोई रिसर्च-प्रोजेक्ट हथियाये हैं। कहते हैं कि रिसर्च कर रहे हैं; पर रिसर्च भी क्या, जिसका खाते हैं उसी का गाते हैं। और कहलाते क्या है। देखो, देखो कौन-सा शब्द है—

हाँ-हाँ, याद आया-कहलाते हैं, बुद्धिजीवी। तो हालत यह है कि हैं तो बुद्धिजीवी, पर विलायत का चक्कर लगाने के लिए यह साबित करना पड़ जाय कि हम अपने बाप की औलाद नहीं हैं, तो साबित कर देंगे। चौराहे पर दस जूते मार लो, पर एक बार अमेरीका भेज दो - ये हैं बुद्धिजीवी।" (पृ. 222)

"उखड़े हुए लोग" का शरद अपने वर्ग के सम्बन्ध में आत्मविश्लेषण करते हुए सोचता है कि "सचमुच वास्तविकता तो यह है कि हम सब टूटे हुए व्यक्तित्व के लोग हैं। हमारे स्वाभाविक -गठन और व्यक्तित्व को कुछ इस तरह मरोड़ दिया गया है, जैसे गीली मिट्टी से बनी सुन्दर मूर्ति को कोई अत्यन्त निर्दयता से मरोड़ डाले। इस तरह की कुछ हमारी सूरतें हो गई हैं। हम देखते कहीं हैं, चलते कहीं हैं, और वास्तविकता कुछ और हैं। और हम इतने मुडे-तुडे हैं कि अपनी सारी शक्तियों को कहीं एक जगह केन्द्रित भी नहीं कर पाते, इसलिए भटकते - लडते हैं, और कष्ट पाते हैं। एक-दूसरे को दोषी ठहराते हैं। (पृ. 228) प्रश्न है टूटे व्यक्तित्व के लिए कौन जिम्मेदार है ? किसने गीली मिट्टी से बनी सुन्दर मूर्ति को अत्यन्त निर्दयता से मरोड दिया है ? उत्तर होगा - हमारी यह व्यवस्था जिसका अर्धसांमती और अर्धपूंजीवादी विकास हुआ फलतः इस बुद्धिजीवी वर्ग में दोहरी मानसिकता के कारण उसका व्यक्तित्व टूटता चला गया। "नगर पुत्र हंसता है" का पत्रकार बुद्धिजीवी गुणाकर दूसरे बुद्धिजीवियों के बारे में सोचते हैं कि वे केवल "सोच" सकते हैं "मैं अपने कमरे में कतई नहीं रहना चाहता था, क्योंकि कमरे में बैठकर दूसरे निठल्ले बुद्धिजीवियों की तरह सिर्फ एक ही काम कर पाता और वह काम था सिर्फ सोचना, सोचना और सोचना।" (पृ. 18) और एक पत्रकार की स्थिति क्या है देखिए उसी के शब्दों में। अपने मित्र से कहता है कि-- "बेकार आदमी का आज के समाज में कोई स्थान नहीं है। और एक बुद्धिजीवी इस बात को खूब समझता है, इसलिए "फ्री लांसिग" शब्द ईजाद किया गया है।

"फ्री लांसिग" का मतलब समझते हैं न आप। सारे दिन इधर-उधर घूम-घूमकर लोगों को बेवकूफ बनाकर दो टाइम की रोटियों का जुगाड करना।"(पृ. 164) "क्यों-फंसे" का मसीजीवी "पुनैया" अपने पत्रकार मित्र "भास्कर" से अपने वर्ग के बारे में बातें करते हुए, आत्मविश्लेषण करते हुए कहता है कि बुद्धिजीवी किसी वेश्या से कम नहीं है "यह अभी तुम्हारे विज्ञापन का फोन क्या था ? हमारा आधा पृष्ठ विज्ञापन के लिए चाहिए। यह स्साला अखबार के जिस्म का किराया नहीं है ?" वह मेज पर पड़े दिन के पत्र के पन्ने पलट-पलट कर विज्ञापन दिखाने लगा, "यह तुम्हारा अखबार अपने सीने-कूल्हे किराये पर नहीं दे रहा ? हम-तुम स्साले इसके दल्ले नहीं तो क्या हैं ? इसे लोगों की नजरों में आकर्षक, प्रभावशाली बनाओ ताकि इसके कूल्हे-सीने का किराया बढ़े।" ..."तथ्यों के संकेत और ध्वनि से बदलना, मैले को सफेद, सफेद को मैला बना देना। डाइरेक्टरों के इशारे पर आज इस राजनीतिक पार्टी को उछाल, कल उसको। यह सब स्वान्तः संतोष और लोक-कल्याण के लिए कर रहे हो ? बेदटे, अपने लिखे पर खुद हँसते हो। स्साले हम-तुम रंडी नहीं हैं। हम-तुम अपने दिमाग और हाथ का किराया हजार-डेढ़ हज़ार मासिक ले लें, राजदूतावासों से ह्विस्की के पूरे केस के केस गटक जायें तो - सम्मानित, ईमानदार बुद्धिजीवी। औरत घण्टे दो घण्टे के लिए अपनी कमर का किराया ले ले तो रंडी। घृणा की पात्र। स्साले, रंडी हम तुम और यह राजनीतिक नेता हैं जो शक्ति, पद या पैसे के लिए अपना विवेक - कानशेंस बेचते हैं। असली बेईमानी है हज़ारों-लाखों को भटकाने के लिए अपना विश्वास-विवेक बेचना। वे किसे धोखा देती हैं ? उनका क्या है, नहा-धोकर साफ हो गयीं। वे चाम को काठ और काठ को चाम नहीं बनाती। हम-तुम और राजनीतिक नेता अपनी कानशेंस, आत्मा की बेईमानी को धो सकते हैं ?"(पृ. 73) भास्कर भी अपने वर्ग की पेशेवरी वृत्ति पर विचार करते हुए स्वयं के वर्ग को दिमाग व विचारों की

वेश्यावृत्ति करने वाले मान लेता है -- "रंडी छोकरी कहते हो, हम-तुम क्या है ? ... दिमाग और विचारों की वेश्यावृत्ति करने वाले!....कौन नहीं बेचता दूसरों की आवश्यकता पूर्ति या संतोष दे सकने की अपनी क्षमता को। बड़े-से-बड़े डॉक्टर सांस लेते रह सकने के अवसर के लिए सहायता के मूल्य में दूसरों को किस तरह निचोड़ते हैं। हाइकोर्ट, सुप्रीमकोर्ट के वकील फीस दे सकने वाले के किसी भी दावे को न्याय प्रमाणित करने के लिए अपना विभाग और न्याय बुद्धि बेचने को आतुर। जनता की भूख का उपाय करने के नाम पर भत्ता कमाने और गुलछर्रे उड़ाने वाले अफसर । पद और शक्ति के नशे और रस के लिए देशसेवा, जनसेवा और राजनीति को व्यवसाय बना लेने वाले नेता क्या करते हैं ? यह सब देश-जनता की सेवा राजनीति और सम्मानित व्यवसाय हैं। अपनी शरीर संगति से तुष्टि का मूल्य चाहे तो घृणित रंडी और वेश्या।"(पृ. ।।५) इस तरह साहित्यकारी, पत्रकारिता, शिक्षण तथा कौशलजीवियों के प्रत्येक कार्य पेशेवर हो गए। उनके प्रत्येक कार्य का उद्देश्य "पैसा" कमाना हो गया तभी तो"लेकिन दरवाजा" का देवेन कहता है कि "जिन लोगों को रोटी कमानी है उसके लिए हर काम पेशा ही तो है, फिर चाहे वह राजनीति हो, साहित्यकारी हो या वेश्या वृत्ति।"(पृ. 78) ऐसे ही लोगों के लिए धूमिल ने लिखा था - "जिंदा रहने के लिए / सही तर्क नहीं है / तो रामनामी बेचकर या रंडियों की दलाली करके / जीने में कोई फर्क नहीं हैं।" "शाह और मात" का साहित्यकार उदय अपना आत्मविश्लेषण इस तरह कर रहा है-- "क्योंकि हम लोग कभी भी राजकुमार नहीं होते - हम लोग तो जासूस होते हैं, ऐयार होते हैं। कभी हम राजकुमार के वेश में होते हैं, कभी भिखारी के। कभी डाकू होते हैं और कभी गुण्डे ... कभी साधु का स्वाँग भरते हैं तो कभी चरित्रहीन का। हम एक तीव्र और दुर्निवार जिज्ञासा होते हैं, बस !...कलाकार सब कुछ हो सकता है - खुद वो "आदमी" हो ही नहीं सकता। हाँ, वह "आदमी" का

दूत होता हो तो हो। वह "आदमी" के रूप का वर्णन कर सकता है, उसकी यश-गाथा गा सकता है, उसका संदेश ला - ले जा सकता है। इसमें कुछ अजब भी नहीं है। अपने मालिक के प्रति वफ़ादारी दिखाने के लिए हर दूत या एजेन्ट कुछ ज्यादा ही करता है ... और "आदमी" का दूत यह कलाकार या लेखक भी हो सकता है मरते वक्त अपने मालिक "आदमी" के प्रति वफादार भी रह आए, उसी के लिए तो वह कभी शीशे की दीवारें फाँदता है और कभी बहुरुपियों जैसे स्वाँग भरता है, किलों की प्राचीरों पर चढ़ता है। लेकिन शायद खुद "आदमी" कभी बन ही नहीं पाता। उसे शायद फुरसत ही नहीं मिलती। .... मैं खुद कुछ भी नहीं, किसी के हाथों का हथियार-भर हूँ, किसी का एजेण्ट हूँ, जो भी कुछ करता हूँ वह सब अपने लिए नहीं "किसी" के लिए करता हूँ। और मज़ाक यह है कि जिस "आदमी" के नाम पर या जिसके लिए यह सब करता हूँ वह रहता कहाँ है, कैसा है ... और है भी या नहीं ? यह भी मुझे नहीं मालूम ..."कितनी सालती है यह व्यथा कि मेरा हँसना-रोना, मेरा दुःख-सुख, मेरी अनुभूतियाँ और भावनाएँ मेरी "अपनी" नहीं है - जिसे मैं आनन्द और अवसाद कहता हूँ, वह तो मुझे किसी को सौंप देना है; ज्यों का त्यों ... यह सारी बातें किसी पात्र के मुँह से कहलवा देनी हैं, किसी और के दिल की भावनाएँ बनाकर इन्हें टुकडों-टुकडों में बाँट देना है। अपने पास तो मैं इसे सिर्फ अमानत की तरह रख रहा हूँ। अपने बेटे की मौत के समय का मेरे भीतर का "बाप" रोता है और यह क्रूर "दूत" उस समय भी बैठा-बैठा नोट करता रहता है कि बेटे के मरते समय बाप को कैसा लगता है। कभी-कभी तो "दूत" उसे मजबूर कर देता है कि यही जानने के लिए वह बेटे को मार कर देखे ...।" (पृ. 226-228) इससे हमें एक साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया का पता चलता है। "प्रश्न और मरीचिका" के पत्रकार उदयराज की नजरों में मसिजीवी की स्थिति है "पत्रकार शिकारी नहीं है क्योंकि वह तो पत्र-मालिक

या उसके सम्पादक का गुलाम-भर है। अधिक से अधिक आप उसे शिकारी कुत्ता कह सकते हैं।" §पृ. 3।§ जबकि "दूसरा भूतनाथ" का डॉ. श्याम मेहरोत्रा, "जनधर्म" के संचालक-सम्पादक प्रवीण पाण्डेय उर्फ ज्वालामुख से कहता है कि -- "प्रवीण साहब। पत्रकार सबसे अधिक बेइमान कौम है प्यारे। पत्रकार का कोई धरम नहीं। वह ईमानदार होता तो देश में अब तक क्रांति हो जाती। "जनधर्म" नाम रख लेने से, जनता के प्रति पत्रकार-धर्म का निर्वाह नहीं हो जाता। तुम हमारे दोस्त हो, मैं पोल नहीं खोलना चाहता ... हाँ, डॉक्टर तो बुरे हैं और तुम ?" §पृ. 38§ हमारे बुद्धिजीवी ऐसे हैं कि कुछ को सम्मान चाहिए क्योंकि उनके पास धन की कमी नहीं है और कुछ ऐसे हैं जिनके पास सम्मान है लेकिन धन नहीं है अतः वे उस ओर भाग रहे हैं जिनकी, उनके पास कमी है। यही स्थिति इलाहाबाद के बुद्धिजीवियों की है जिसका वर्णन "नरक-दर-नरक" में किया गया है — "वरिष्ठ लेखकों का यहाँ तीर्थ-स्थानीय महत्व था। वे सभी साहित्यकार साहित्य के संघर्ष क्षेत्र से निकल पाठ्य-पुस्तकों के गढ़ में पहुँचा दिये गये थे। लेकिन ये प्रसन्न नहीं थे। प्रसन्न वे भी नहीं थे साहित्य एक ऐसा क्षेत्र था जहाँ चातक अभी अपनी स्वाति-बूंद पहचान नहीं पाया था। जिसके पास सम्मान था वह धन चाहता था, जिसके पास धन था वह सम्मान चाहता था।" §पृ. 157§ "एक नन्ही कन्दील" में चेतन अपने वर्ग के बारे में सोचता है कि "मुझे उर्दू रोज़नामों और हफ़्तेवारों के अकसर ऐडीटरों, ट्रांसलेटरों और अख़बार के "अपने शायरों" पर तरस आता है। ये लोग कितने भूखे हैं ? भूखे और नदीदे। ये समाज को सुधारने, उसमें और उसके नज़ाम में इन्कलाब लाने के सपने ही लोगों को देते हैं, बड़े जोशीले मजमून लिखते हैं, "लेकिन खुद उनकी समझ, सोच और अमल का दायरा इतना तंग और महदूद §सीमित§ है कि मुझे कभी-कभी लगता है -- मैं कहाँ आ फंसा।" §पृ. 159§ अपनी पत्नी को चेतन अपना आत्मविश्लेषण करते हुए कहता है कि "हम सभी लेखक और कवि एक-जैसे

हैं। घोर अहंवादी और इसके बावजूद अन्तर में कहीं निहायत बच्चे। अपनी रद्दी रचनाएँ भी हमें अच्छी लगती है और दूसरों की उत्कृष्ट भी रद्दी। अपनी रचनाएँ सुनाने और उनकी दाद पाने का मोह हमसे न जाने कैसी-कैसी बचकानी हरकतें करा देता है। .... हम सारे लेखक और कवि जो दूसरों के मनोविज्ञान को जानने और उकेरने का दम भरते हैं, दूसरों की मूर्खताओं का मजाक उड़ाते हैं, और उन पर ठहाके लगाते हैं, खुद कैसी हिमाकतें करते हैं, यह तुम नहीं जान सकती।" §पृ. 498-500§

निष्कर्षतः हम "गोबर गणेश" के अध्यापक विनायक के शब्दों में बुद्धिजीवी वर्ग के बारे में यह कह सकते हैं कि "बुद्धिजीवी होने का मतलब ही पाखण्डी होना है।"§पृ. 12§

5.3 आत्म निर्वासन

सबसे घातक और दारूण स्थिति है आत्मनिर्वासन की। इसे आत्मपरायापन कहते हुए डॉ. रमेश कुन्तल मेघ स्पष्ट करते हैं कि यह लोगों के आपसी सम्बन्धों में विश्वासपात्रता को विलुप्त कर देता है, व्यक्ति को संवेदन-शून्य तथा निष्क्रिय बना देता है। उत्पादन, कीमत, मंडी प्रतियोगिता के ये घटक मनुष्यों पर भाग्य तथा देवों की तरह शासन करते हैं। फलतः दो लोगों के बीच के सम्बन्धों का स्थान दो चीजों के बीच के सम्बन्ध ले लेते हैं।* आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी पात्र चरम अकेलेपन और अजनबीपन के कारण कई है जैसे -- महानगरीय

---

1. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण -- रमेश कुन्तल मेघ, 1969, पृ. सं. 200

परिवेश, जीवनक्रम की एकरसता, मूल्यहीन व्यावसायीकृत शिक्षा व्यवस्था, अनचाहे सम्बन्धों को ढोये चलने की विवशता, मनचाहे सम्बन्धों की असफल परिणति आदि। ये सारे कारण इन पात्रों में व्यर्थताबोध, मूल्यहीनता, अतिसंवेदनशीलता या संवेदनशून्यता, अमानवीयकृत होते जाने का बोध और यान्त्रिकता के खिलाफ संघर्ष के रूप में दिखाई देते हैं उदाहरण के लिए "भ्रम भंग" का चन्दन अपने आपको अकेला महसूस करता है "ओह ! मेरी यह अकेली जिन्दगी। ...एक अजीब उदासी से भर गया हूँ। यह महानगर ! इस छोर से उस छोर तक फैला हुआ महासागर। मन को सहलाती-सी यह उठती हवा। ...फिर भी शरीर जल रहा है ...अपने लोगों से कितनी दूर हूँ मैं। ...निरुद्देश्य इस रेती पर भटकता हुआ।" (पृ. 56) चलू लॉज ? लेकिन वहाँ जाकर भी क्या होगा। ऐस्बेस्टस की छतें। तपन। पंखा। पंखे से कुछ नहीं होता। एक सैरिडन। एक नहीं दो ...। अब जाकर आँख मूंद कर सो जाओ। खाने को मन नहीं है। भूख नहीं है। अकेला उदास मन। कुछ और उदास हो गया। कितनी अर्थहीन है जिन्दगी। कॉलिज, लेक्चर। लॉज। राइस प्लेट। गाठियापापड़ी। ...बस। आदमी कितना साधारण है यहाँ। ...तुम अकेले हो। पंखा फुल पर छोड़ दो। तपिश । आँखें बन्द कर लो। रो लो। लेकिन रोना नहीं आ रहा है। दर्द बढ़ता जा रहा है।

दर्द । दर्द कहाँ नहीं है। सिर में दर्द है। मन दर्द से भरा हुआ है। भारत लॉज में पाँच साल बीत गये। ...पाँच साल और बीत जायेंगे। फिर और भी पाँच साल...। और एक दिन यह जिन्दगी ही बीत जायेगी। ...जीवन जीना कितना दर्दनाक है। लेकिन मरना कितना शान्त होता है। आदमी मरने के लिए पैदा नहीं होता। आदमी मरकर भी जिन्दा रहता है। एक आदमी ही होता है जो मरकर भी जिन्दा रहता है। मैं क्यों इतना उदास हो जाता हूँ। क्यों इतना

खालीपन भर जाता है मुझमें। क्यों इतना थक गया हूँ। छब्बीस साल का जवान और इतनी थकी हारी बातें। शर्म की बात है। ...कॉलिज में जाओ। डेढ़-डेढ़ सौ की क्लासें। चीखो...। चीखो। ...चीखते जाओ, जब तक कमर के बीच पसीना बहना न महसूस करने लगो। .... फिर आवाज धीमी कर लो। थक गये हो ...। लेकिन बोलते जाओ। अभी पाँच मिनिट और है। ...घण्टी। ...फिर बाहर निकल जाओ। आज का काम पूरा हो गया। ...अब अपने लिए ये खुली सड़के हैं। ...अकेली। कोई साथी नहीं है।" §पृ. 72, 75§ लेकिन छुट्टियों में भी उसके मन को चैन नहीं है -- "छुट्टियाँ यहाँ भी शुरू हो गयी हैं। कॉलिज हॉस्टेल का कमरा मिल गया है रहने को। हॉस्टेल खाली है। कहाँ जाऊँ ? किससे मिलूँ ? पिछले एक हफ्ते से अपने कमरे में कैद हूँ...। ...यहाँ अकेलापन काटने को आता है चन्दन । हफ्ता भर हो गया, तुम किसी से बोले नहीं। तुम्हें बोलने को मिला नहीं। तुम्हें लगता है यहाँ तुम्हारा दम घुटे आ रहा है। यह नौकरी कहाँ है। यह तो निर्वासन है।" §पृ. 94§ चन्दन का मन अपने परिवार के लिए कलपता है। वह सोचता है — "निर्वासित न होता तो आज देहरादून में होता। अपने भाई-बहन के बीच। माता-पिता के बीच। सच मन बिल्कुल अकेला-सा हो गया है। उमड़-उमड़ आता है। मन करता है फूट-फूटकर रोऊँ...। ...ओह । यह अकेलापन नहीं कटता...। माँ, तुम कहाँ हो ? ...यहाँ कितना खालीपन है, चन्दन ...? तुम इस खालीपन को सह नहीं सकते। तुम भीड़ की दुनिया से आये हो। यहाँ भीड़ नहीं है। यहाँ खामोशी है।" वह अपने आपको हिम्मत देता है "तुम कलपो मत। सब सहना होगा।" §पृ. 94, 96§ महानगरों का भयावह अकेलापन और विद्यादान का यांत्रिक-व्यावसायिक परिवेश इसी उपन्यास में हिन्दी के दूसरे प्रोफ़ेसर रमेश पालीवाल को भी त्रस्त किये हुए है। वे चन्दन से कहते हैं -- "यह नौकरी मिल गई। लेकिन

बम्बई में मन नहीं लगता। कॉलेज के बाद बम्बई सेन्ट्रल से निकलता हूँ तो देहरादून एक्सप्रेस को देखकर आँखों में आँसू आ जाते हैं। न यहाँ रहने का संतोष न पढ़ाने का। डि मेलो, डिसूजा और लकडावाला को कॅम्पलसरी हिन्दी पढ़ाओ। ठीक से नाम तक नहीं लिये जाते। डेढ़ सौ, पौने दो सौ की क्लासें। देहरादून में हम हीरो थे यहाँ बौने बन गये हैं। बहुत-सी बातें। अतीत के अभावों का सुख। नयी सुविधाओं के दुःख। नयी शिकायतें। अपने से। अपने आज के माहौल से। अपनी इस नयी जिन्दगी से।" ...."चन्दन-पन्द्रह दिन हो गये हैं, क्लास लेते हुए। लेकिन पढ़ाने का सुख क्या होता है, नहीं जान पाया हूँ।" §पृ. 27, 5।§ इसी प्रकार "विपात्र" का कथानायक "मैं" कहता है कि "जी हाँ, मैंने कुछ नहीं कमाया, सिर्फ अकेलापन कमाया। मैं क्या करता।"§पृ. 73§ इसी तरह "मैं लोगों में उठता-बैठता। उनसे फ़िज़ूल टकराने की कोशिश न करता और सारे समाज में रहकर भी अत्यन्त तीव्र निस्संगता और अजनबी महसूस करता।"§पृ. ।5§ लेकिन क्या इस अकेलेपन का इलाज सामूहिक जीवन-व्यवस्था में है ? शायद नहीं। "विपात्र" ही के कथानायक का अनुभव है "एक बात साफ है कि हमें उस महफिल में मजा नहीं आता था, जिसमें विविध प्रकार के भोजनीय पदार्थों से लेकर कैंसर और ल्यूकीमिया तक तथा भूतों से लेकर कम्यूनिस्टों तक की चर्चाएँ होती। ये महफिलें जो शाम के पाँच बजे से लेकर रात के बारह-एक बजे तक चलती रहती उस अभाव का परिणाम थीं जिसे अकेलापन कहते हैं। हम जो यहाँ बीस थे, वे चाहे परिवार में ही क्यों न रहे, अपने को अकेला किसी शाखा से कटा हुआ और अधूरा महसूस करते थे और अपने अकेलेपन की वेदना से भागने के लिए, वक्त काटने की एक तरकीब के तौर पर सामूहिक भोजन, सामूहिक पार्टी, गपबाजी, महफ्लिबाजी का आसरा लिया करते। लोग भले ही उसका मजा लिया करें, मैं ऐसे बेढंगें, बेजोड़ और बेमेल सोसाइटी में रहकर

बड़ी ही घुटन महसूस करता। वही हाल जगत का भी था। फर्क यह था कि मुझे इस तरह अकेलेपन से भागने और वक्त काटने की इच्छा नहीं रहती थी, न जगत् को ही रहती थी। इसलिए, हम लोग "अनसोशल" कहलाते। क्लब की जिन्दगी अगर सामाजिकता का लक्षण है तो मैं ऐसी सामाजिकता से बाज आया।"(पृ. 15-16) ऐसी बात नहीं है कि परिवार या अंतरंग सम्बन्ध इस अकेलेपन को काट सकते हों— "लेकिन जब मैं घर पहुँचा तब बात उलटी हो उठी। दरमियानी फासले फिर फैल गये। मनुष्यों के बीच रहते हुए भी मैं अकेला हो उठा।" (पृ. 93)"पचपन खम्बे लाल दीवारें" की प्राध्यापिका सुषमा भी जीवन में अकेलेपन से त्रस्त हैं "सुषमा हडबडाकर उठ बैठी। उसका हृदय वेग से धड़क रहा था - सुषमा ने घुटनों को बाहों में बाँधकर अपना सिर गड़ा लिया और वैसे ही बैठी रही .... सुषमा अकुलाकर उठ खड़ी हुई और उसने खिड़की की छड़ों पर अपना माथा टिका दिया.... होस्टल की सारी बत्तियाँ बुझ चुकी थी। सुषमा आँखें फैला-फैलाकर उस अन्धकार में कुछ देखने लगी। उसकी ऊँगलियाँ आगे बढ़ी और किसी को बिना छुए लौट आयी। उसे पहली बार अपने अकेलेपन का इतना अहसास हुआ। उसे लगा कि सब-कुछ उसे अकेले ही झेलना है। (पृ. 112) "जीवन में न जाने कहाँ कुछ ऐसी बात बिगड़ गई थी, जो अब लाख बनाने पर भी न बनेगी। इतने लोगों से घिरे रहने पर भी वह अकेली ही रहेगी।" (पृ. 127) इसीलिए वह मीनाक्षी से कहती है कि "मेरी निष्कृति की कोई संभावना नहीं मीनाक्षी । पैंतालीस साल की आयु में मैं भी एक कुत्ता या बिल्ली पाल लूँगी - उसे सीने से लगा कर रखूँगी।"(पृ. 109) "अन्तराल" की श्यामा "आत्मनिर्वासन की स्थिति तक पहुँच गयी है। "लगता है स्कूल की नौकरी के सिवा अब कोई चारा नहीं है। पर पहले स्कूल के काम में ही थोड़ा-बहुत मन लग जाता था, अब वह भी नहीं लगता। बच्चों की तरह घंटिया गिनती रहती हूँ। यह तीसरी घंटी बजी, यह चौथी, यह पाँचवी। सब घंटिया बज चुकती हैं, तो शंका घिर आती है कि इसके बाद दिन भर क्या करूँगी। इतवार

का दिन काटना एकदम असम्भव हो जाता है। हर चीज से, हर काम से विरक्ति होती है। अपने से पूछती हूँ मैं, जी किस लिए रही हूँ। पर मरने की बात सोचने से मन में विद्रोह जागता है। अपना-आप एक ऐसे यन्त्र की तरह लगता है जो उपयोग न होने से व्यर्थ पड़ा सड़ रहा है। पर उपाय यह तो नहीं कि इसे तोड़-फोड़ दिया जाय।" §पृ. 125-126§ इसी उपन्यास के कुमार की स्थिति "उस शहर के वातावरण में ही कुछ था जिससे चार साल वहाँ काट चुकने के बाद उसका मन लगातार वहाँ से उचाट होता जा रहा था। अपने अन्दर से वह बहुत दिन पहले ही उस शहर को छोड़ चुका था।" §पृ. 33§ ...."वह जल्दी-जल्दी सड़क को नाप रहा था। पर साथ ही यह भी चाह रहा था कि सड़क जल्दी से समाप्त न हो। सड़क एकदम बेगानी थी, कुछ हद तक डरावनी थी। पर लौटकर जिस घर में जाना था, उसके साथ भी अपना कुछ सम्बन्ध उसे महसूस नहीं हो रहा था। घर में होने से सड़क पर होना ही बल्कि ज्यादा अच्छा था ... दूर से अपनी बस्ती की बत्तियाँ नजर आने लगीं, तो घर पहुँचने में थोड़ा और वक्त लेने के लिए वह सड़क के छोटे से पुल पर रूक गया।" §पृ. 88§ "नदी के दीप" का भुवन अपने कार्य से पूरी तरह ऊबा ही नहीं बल्कि निराश भी हो चुका है। वह गौरा को पत्र में लिखता है कि "नहीं, मेरा मन यहाँ से उचट चला - चला नहीं, एमदम असह्य रूप से उचाट हो गया ...यहाँ का न होने में देश की भावना बिल्कुल नहीं है, सारी परिस्थिति से असंतोष है। मैं जैसे किसी सुदूर पोत भंग का एक टूटा, बहकर आया विपन्न तख्ता हूँ - प्लावसम-लहरों से थपेड़े खाता, लुढ़कता -पुढ़कता कहीं लगा हूँ और जानता हूँ कि नहीं, वह ठिकाना नहीं है और पोत तो अब हुई नहीं जिसका मैं अंश हूँ - था। अपने को ऐसे बहते देखा जा सकता है एक प्रकार की तटस्थता से और निरन्तर देखते रहने से एक मोहावस्था भी हो जाती है, पर सहसा वह टूट है तो ... अगर इसे तुम उद्भ्रान्ति समझो, तो ठीक है, उद्भ्रान्त तो

मैं हूँ ... और मैं "होम-सिक" हूँ - मान लेता हूँ कि होम - सिक हूँ - यद्यपि यह मेरे लिए एक शब्द ही है, मैं तो निगृह ही हूँ और यह केवल ऊब का दूसरा नाम है। .... मैं दोपहर से ही आराम-कुर्सी पर बैठा हूँ। अब रात हो गई है; इन छः सात घंटों में मैंने कुछ नहीं किया है सिवा तुम्हारी बात सोचने के; एकटक तुम्हें देखते रहने का पश्चिम धीरे-धीरे रंजित हुआ, फिर लाल, फिर और लाल, फिर उस लाली में उदासी आने लगी ... कोई भविष्य नहीं है, कोई अतीत नहीं है, अतीत से अपने को उच्छिन्न कर लिया है इसलिए और भी कोई भविष्य नहीं है, "§पृ. 274-275§ भुवन ... "वह चार-छः वर्ष वैज्ञानिक खोज और देशाटन में लगाकर पहले से भी कुछ अधिक अन्तर्मुखी और तटस्थ होकर एक कस्बे के कॉलिज में लेक्चरर हो गया है, जो कि यों ही दुनिया के प्रवाह से बहुत दूर रहता है। यह जीवन की धमनी को पकड़े रहने का भ्रम बड़ा ही लुभावना और अहं को पुष्ट करने वाला है ..."§पृ. 16§ "आपका बंटी" की प्रिंसिपल "शकुन को लगता था कि समय जैसे ठहर कर जम गया है। और जमे हुए समय की यह चट्टान न कहीं से पिघलती थी, न टूटती थी। बस टूटती रही है तो शकुन धीरे-धीरे, तिल-तिल यों तो पिछले दो तीन सालों से ही ठहराव का यह एहसास बराबर ही होता रहा है, पर इधर एक साल से तो यह एहसास तीखा होते-होते जैसे असह्य-सा हो गया था।" §पृ. 34§ "रूकोगी नहीं राधिका" की राधिका को लगता है कि "मेरा परिवार, मेरा परिवेश, मेरे जीवन की अर्थहीनता, और मैं स्वयं जो होती जा रही हूँ, एक-भावनाहीन पुतली-सी...।[96] ...उसे लगा कि वह इस भीड़ शोर-शराबे, चहल-पहल से एकदम कटी हुई है, वह अपने परिवेश का भाग नहीं रही, वह यहाँ रहते हुए भी निर्वासिता है, उसका जीवन निरुद्देश्य यात्रा है - एक लम्बी अन्धकार पूर्ण सुरंग में।" §पृ. 99§ "नगर पुत्र हंसता है" का गुणाकर सोचता है कि "पर अकेलापन भी कभी-कभी खाने को दौड़ता है। कमरे में

रहो तो अकेलापन, लाइब्रेरी में बैठा तो अकेलापन, और सड़कों, बसों, बाजारों, फुटपाथों सभी जगह अकेलापन छाया रहता है। किससे बात की जाये समझ में नहीं आता, और एक आदर्श भारतवासी होने के नाते 24 घण्टों में से कम से कम 18 घण्टें किसी से बात करने को मन उतावला रहना स्वाभाविक है।" इसीलिए गुणाकर कॉफी हाउस जाता है। "पूरे कॉफी हाउस का चक्कर लगाने के बाद भी कोई जानी-पहचानी सूरत नज़र नहीं आई जिसके साथ बैठकर कुछ समय काटा जा सके। एक ऊब मन पर छा गई। मैं कॉफी हाउस के बाहर आ गया धीरे-धीरे फुटपाथ पर चलते हुए रिवोली के सामने आकर खड़ा हो गया। ... मैं इधर-उधर नज़र दौड़ा रहा था शायद कोई परिचित दिखाई दे जाये।" (पृ. 162-163) अन्ततः अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए देखिए गुणाकर क्या करता है -- "मैंने जेब से पर्स निकालकर रुपये गिने, और फिर कनॉट प्लेस से एक बढ़िया शराब का अद्धा खरीद लिया। यही चीज एक ऐसी है जो मेरे अकेले कमरे के अकेलेपन को दूर कर देती है।" (पृ. 54) क्या ऐसा सम्भव है ? शायद नहीं -- "लेकिन इन सब से कुछ क्षणों के लिए जुड़ा जा सकता है। बाकी सारा समय अपना होते हुए भी अपना न होकर अकेले होने का अहसास कराता है।" (पृ. 49) "शेषयात्रा" के डॉ. प्रणव अपने कार्य से ऊब जाते हैं और अकेला हो जाता है। वह अनु से कहता है कि "मुझे इधर काफी दिन से डॉक्टरी बिल्कुल रूटीन लगने लगी है, वही अस्पताल, वही सर्जरी। ठीक है, पैसा है, पर अपने को कितने पैसे की जरूरत है। मेरा मन जैसे कुछ और करने को छटपटाता रहता है। उस डाक्युमेंटरी के बनने के दौरान मुझे लगा कि मैं यह भी आजमाना चाहता हूँ, मैं प्रयोग करना चाहता हूँ। मैं पहले डाक्युमेंटरी बनाऊँगा। अगर सफलता मिली तो वाह-वाह, नहीं तो डॉक्टरी लाइसेंस तो कहीं गया नहीं है।" (पृ. 43) अन्ततः अनु व चन्द्रिका को छोड़ने के बाद सोचता है "और सब कुछ मिलाकर सच्चाई तो यह है, ... कि किसी को किसी की जरूरत नहीं होती।

अन्ततः हमें अपने साथ ही रहना होता है, अपने स्व से ही जूझना होता है। हम सब अपने को अकेला पाते हैं। शादी, ब्याह, गिरस्ती, रिश्ते-जब तक चलते हैं तभी तक के रहते हैं। किसमें इतनी ताकत है कि साथ-साथ दूसरे प्राणी की जिम्मेदारी ढ़ोता रहे; जिसमें होगी, हो मुझमें नहीं है।" (पृ. 89) इसीलिए "उसे अकेले रहना अच्छा लगता था, यह जानते हुए भी कि साथ काम करने वाली नर्सें और दूसरी स्त्रियाँ उसे तरह-तरह से रिझाने की कोशिश में रहती हैं, खाने और पार्टियों में बुलाकर मीठी-मीठी नज़रों से देखकर, हल्के-फुल्के मजाक करके, पर वह किसी भी सम्बन्ध के लिए, चाहे कितना भी अस्थाई क्यों न हो अपने को एकदम अनुत्सुक पा रहा था। ....अपने आचरण पर जरा भी खेद नहीं था, किसी और के अपनी ओर आकर्षित होने से खुश होने के दिन गए, वह सब बहुत मिला भी, और उसने कॉफी मुक्त रूप से बाँटा भी; पर अब उसे अपना तापस अकेलापन इतना मन भाता था कि उसे किसी भी मूल्य पर त्यागने को तैयार नहीं था।" (पृ. 96) "लेकिन दरवाजा" का देवेन अपने अकेले हो जाने की बात नीलांबर से कहता है "इस शहर में इतना अरसा अकेले रहते; मेरे अन्दर जो असुरक्षा और अकेलापन पैदा हो गया है, तुम शायद उसे नहीं समझ सकते।" (पृ. 322) तब नीलांबर कहता है "ज्यादा अकेला पन ठीक नहीं होता --- आधुनिक सभ्यता की यह सबसे बड़ी कमजोरी है कि पहले यह आदमी को आदमी से काटकर असंवाद की स्थिति पर ला पटकती है, फिर उसके सारे मानवीय गुणों को सोख लेती है, जैसे रेत पानी पी जाता है।" (पृ. 325-326) "गिरती दीवारें" के चेतन को शिमला में रहते अकेलापन सालता है"उसे लगता जैसे एकाकीपन अपने इस्पाती घेरे को उसके गिर्द क्षण-प्रतिक्षण कसता जा रहा है और किसी दिन यह क्षण-क्षण परिमित होता हुआ उसका दम घोंट देगा। ...माना शिमले में माल है और माल पर संध्याएँ रंगीन, मादक, मदिर होती है; सुन्दर स्वरों का कल-हास सुनने को, सुन्दर आकृतियों की बनावट निरखने को मिलती है; किन्तु माल पर एक-दो बार जाकर

ही चेतन को उसके परायेपन का आभास मिल गया था। ...वह इस अजनबीपन से एकदम भाग जाना चाहता था। न भाग सकता तो उन्मन और उदास अपने कमरे में बैठा रहता था। और कुछ बस न चलता तो चुपके - चुपके रो दिया करता था।" §पृ॰402-403§ यही स्थिति "शेखर : एक जीवनी" §भाग-। उत्थान§ के शेखर की है वह मद्रास जैसे शहर में रहते स्वयं को अकेला पाता है "वह बहुत अकेला है। इतने बड़े मद्रास शहर में, इतने भीड़-भड़क्के में वह पहली बार बिल्कुल अकेला धंस आया है।" §पृ॰।97§ अपनी व्यर्थता से परेशान हो सोचता है कि "क्या है मेरे इस जीवन की सिद्धि ? क्या है इसकी सम्पूर्ति ? सब झूठ - शून्य - शून्य, शून्य। बल्कि शून्य से भी कम, एक ऋण, जिसे मैं पूँजी समझे बैठा हूँ। ...मैं क्या हूँ ? मेरा मतलब क्या है ? जिसके अन्त के लिए इतनी शक्ति व्यय की जा रही है, इतना आयोजन हो रहा है, उस जीवन की सत्यता क्या थी ? वायु में उड़ती धूल पर खिंची रेखा, और बस ?

नहीं हो सकता। मेरे इतने सब स्वप्न, उतने नगण्य नहीं हो सकते, भले ही मेरा जीवन नगण्य रहा हो। मैं कुछ नहीं, मेरा कार्य कुछ नहीं, मेरा स्थायित्व कुछ नहीं, पर मेरी यह विद्रोह चेष्टा कहाँ जाएगी। मैं जो इतने अनवरत यत्न से संसार की या संसार में जहाँ तक मेरी पहुँच हो सकती है, उसकी - प्रत्येक वस्तु में घोर परिवर्तन, एक मौलिक क्रांति का आदर्श लेकर आया हूँ, वह क्या एक फाँसी के फंदे में ही घुटकर मर जाएगा ? मैं न रहूँ, मेरा कोई चिन्ह भी न रहे, पर क्या यह शक्ति भी नष्ट हो जायेगी - क्या इसकी दीप्ति का कंपन भी खो जायेगा ?" §पृ॰36§ "शह और मात" की सुजाता स्वयं को अकेला मान कह उठती है कि — "कैसी असहाय हूँ मैं। --- अकेली और अनाथ । कोई भी तो नहीं है जो मेरी बात समझता हो, जिससे ईमानदारी से सलाह ली जा सके; या एकदम खुलकर उन्मुक्त और

निर्व्याज हृदय से बातचीत की जा सके। पहले चौदह-पन्द्रह वर्ष की उम्र में जैसा अकेला और अनाथपन महसूस किया करती थी, ठीक वैसी ही अनुभूति इस समय हो रही थी।" §पृ. 172§ "गली आगे मुड़ती है" के प्राध्यापक सुबोध भट्टाचार्य भरे-पुरे परिवार के होने के बावजूद स्वयं को अकेला पाते हैं "उसको लगता है वह अपनों से अलग एक अजीब किस्म का निर्वासन भोग रहा है। यहाँ सब कुछ है। मामी हैं, मामा हैं, जयन्ती है, यतीन है, सब उसे मानते हैं; पर कुछ ऐसा भी है - एक अफाट अन्तराल, एक अलगाव जो उसे गाँगुली परिवार से अलग रखता है। उसके कौन हैं ? सभी हैं, पर कोई नहीं। वह एक मशीन है, काम करना पैसा लाना और अपने मासिक खर्च की रकम रखकर शेष मामी माँ के हाथों दे देना, यही उसका काम है। शेष सब कुछ मशीन का विधान है।" §पृ. 34§ "न आने वाला कल" का मनोज अपने अकेलेपन व ऊब से त्रस्त है — "अब मैं था और वह खालीपन जिसके साथ रोज़ रात को बारह बजे तक संघर्ष करना होता था। ...हफ्ते के बीच का कोई दिन होता, तो दो घण्टे के लिए माल पर निकल जाता। घर से लोअर माल और लोअर माल से माल की चढ़ाई चढ़ने में ही एक निरर्थक - सी सार्थकता का अनुभव कर लेता। --- सोने से पहले पाँच - छः घण्टे ऐसे थे कि उनकी हदबन्दी किसी के सर्मन से नहीं होती थी। वह सिर्फ खाली समय था - खाली समय - जिसे बिना किसी विराम चिन्ह के एक-एक मिनट करके आगे बढ़ना था। उस बीच काम सिर्फ एक ही था - बिना भूख के खाना खाना - जिसे समय के उस पूरे फैलाव में अपनी मर्ज़ी से इधर या उधर को सरकाया जा सकता था। .... सात दस । अब ? सात पच्चीस । अब ? सात सैंतालिस । अब ? सात अट्ठावन । अब ? जैसे कि नींद लाने के लिए एक गिनती की जा रही हो। भेड़ों की गिनती की तरह। अब ? अब ? अब ?" §पृ. 10-11§ ... ...कोहरे में ढ़की अपने घर की छत दिखाई देने लगी, तो फिर एक बार पाँव फिर रूक गए। छत पर कोहरे के गोले इस प्रकार बैठे थे कि घर एक मकबरा-सा नजर आ

रहा था। मुझे लगा कि पगडण्डी से उतर कर मुझे अब मकबरे के अन्दर अपने ताबूत में जा लेटना है। मन में उन दिनों का अहसास ताजा हो आया था जब अभी शादी नहीं की थी। तब भी वह घर मुझे एक बंद तहखाने की तरह लगा करता था जहाँ उतर कर जाते मन में एक दहशत भर जाती थी। घर के बाहर उस पगडण्डी के पास रूककर मन को अन्दर जाकर बंद हो रहने से ज्यादा राहत महसूस होती थी। तब लगता था कि यह शायद अकेलेपन की वजह से है। घर के अन्दर जो कुछ था, उससे अकेले मन में कोई रिश्ता ही नहीं बैठता था। वह सब जैसे अपनी जगह पर था, मुझसे अलग और बेजोड़। पर वह सब था ही, इसलिए उसे और उसके अंदर अपने को बरदाश्त करना होता था।"(पृ. 24-25) मनोज अकेलेपन से ही नहीं अपने कार्य से भी ऊबा हुआ है "स्कूल के जूनियर हिन्दी मास्टर के रूप में जिन्दगी मेरी अपनी जिन्दगी नहीं थी। मुझे इसे लेकर कुछ करना था। शोभा के पति के रूप में भी मेरी अपनी जिन्दगी नहीं थी। उसे लेकर भी कुछ करना था। लेकिन क्या ? स्कूल से त्याग पत्र दे देने से शोभा के साथ अपने सम्बन्ध की स्थिति हल नहीं हो सकती थी। शोभा को अपने से काट लेने से स्कूल की यन्त्रणा से नहीं बचा जा सकता था। तो क्या आवश्यक यह नहीं था कि दोनों कदम साथ-साथ उठाए जाए ? लेकिन क्या यह सम्भव था ? और क्या सचमुच इससे कुछ हासिल हो सकता था ? पास में इतने साधन नहीं थे कि बिना नौकरी के चार महीने भी जिया जा सके। कभी रहे ही नहीं थे। आगे कभी रहेंगे, इसकी भी संभावना नहीं थी। तो एक नौकरी छोड़कर दूसरी की तलाश इसका अर्थ क्या यही नहीं था कि इस दूसरे की जिन्दगी न जीकर उस दूसरे की जी जाए ? कुछ दिन बेकार रहने के बाद उस दूसरे की जिन्दगी को ढ़ोते जाना क्या बुरा था ? यही बात शोभा के साथ अपनी जिन्दगी को लेकर भी थी।" (पृ. 26-27) इसी उपन्यास की बॉनी हाल की भी यही स्थिति है "मैं कई बार खुद नहीं समझ पाती कि मैं

दरअसल चाहती क्या हूँ। किसी एक आदमी के साथ घर बसा कर रहने की बात से मुझे शुरू से ही चिढ़ रही है। इन सालों में जो कुछ देखा है, उससे वह चिढ़ और बढ़ गई है। पर कई बार यह भी लगता है कि मेरा मन जो इतना भटकता है उसका वास्तविक कारण मेरा अकेलापन ही है। नहीं तो क्यों मैं एक तरफ दूसरों में इतनी दिलचस्पी लेती और दूसरी तरफ उनका उपहास उड़ाती हूँ ? क्या मेरी वास्तविकता यही नहीं है कि मैं अपनी छटपटाहट को कुरेदने में ढूंढ़ती हूँ। "(पृ. 137) मनोज को अपने दाम्पत्य जीवन में अजनबीपन-सा महसूस होता है। "साथ रहने के कुछ महीनों में हमें एक-दूसरे की इतनी आदत तो हो ही गयी थी कि हमने एक दूसरे के मामले में दखल देना छोड़ दिया था। मुझे मन में जितना गुस्सा आता था, बाहर मैं उतने ही कोमल ढंग से बात करता था। वह भी ऐसा ही करती थी। एक-दूसरे की बढ़ती पहचान हमारे अन्दर एक औपचारिकता में ढ़लती गई थी। यह जान लेने के बाद कि न तो हम अपनी-अपनी हदें तोड़ सकते हैं और न ही एक-दूसरे हदबंदी को पार कर सकते हैं, हमने एक युद्ध-विराम में जीना शुरू कर दिया था। उस युद्ध-विराम की दोनों की अपनी-अपनी शर्तें थीं-- अपने-अपने तक सीमित। दोनों को एक दूसरे से कुछ आशा नहीं थी, इसलिए हदबन्दी टूटने की नौबत बहुत कम आती थी। ...वह मुंडेर मेरे लिए घर से बाहर एक घर की तरह थी। जिन दिनों शोभा घर पर थी, उन दिनों भी कितनी बार रात को वहाँ जा बैठा करता था। ...शोभा मेरे लौटने से पहले सो चुकी होती थी। मैं कपड़े बदलकर चुपचाप अपने बिस्तर में दाखिल हो जाता था। वह अगर इससे जाग जाती तो कोशिश करती थी कि मुझे उसके जागने का पता न चले। नींद आने तक हम दो अजनबियों की तरह दम साधे पड़े रहते थे। शायद दोनों को यह आशा रहती थी कि कभी किसी दिन कुछ ऐसा होगा। जिससे वह गतिरोध टूट जाएगा और उस आशा तथा तनाव की स्थिति में ही दोनों सो जाते थे। वह बायें बिस्तर

पर बायीं करवट, मैं दायें बिस्तर पर दायीं करवट। कभी गलत करवट में एक का हाथ दूसरे से छू जाता, तो एक शब्द से उसकी गलतफहमी दूर कर दी जाती, "सारी।" हर पखवारे में तेरह दिन यही सिलसिला चलता था। जिस रात नहीं चल पाता था, उस रात दोनों के मन में एक अतिरिक्त घुटन और उदासी घिर आती थी। जैसे एक लम्बे अनचाहे सफर में किसी अनचाही जगह से अनचाहा खाना खा लेने के बाद। अगली सुबह दोनों की आँखें पहले से ज्यादा कसी होती थीं, जैसे कि रात को जो कुछ हुआ, वह अपनी वजह से नहीं, दूसरे की वजह से था। फिर भी शब्दों में यह बात दोनों एक दूसरे से नहीं कहते थे।"§पृ. 15-16 तथा 21-22§

निष्कर्ष

आपसी संबंधों या संबंधहीनता, अकेलेपन या भीड़, महानगरीय परिवेश या अपने कार्य की निष्फल यांत्रिक परिणति से उपजा यह आत्म-निर्वासन आलोच्य उपन्यासों में कई तरह से बहुत अधिक मात्रा में चित्रित हुआ है। इस व्यर्थताबोध के आन्तरिक कारणों का विवेचन करने वाले पात्र कम हैं इसकी असहनीयता का विवरण देने वाले अधिक। फिर भी — "शेखर : एक जीवनी" में शेखर के मुख से इस व्यर्थताबोध का निर्मम विश्लेषण और इसे एक तार्किक सोद्देश्य परिणति देने का प्रस्ताव मिलता है — "...वह जिसमें संयम नहीं है, जिसने पानी का बहने और बहाने का धर्म तो अपना लिया है, पर सींचने का काम नहीं सीखा... तब वह दौड़कर किसी एकान्त कमरे में छिप जाता और अपने को कोसा करता कि इतना लम्बा जीवन उसने व्यर्थ बिता दिया है; अपनी पूँछ का पीछा करने वाले कुत्ते की तरह अपने आस-पास ही चक्कर काट कर रह गया है, दूसरों का दुःख, दूसरों की वेदना जानी नहीं, जाननी चाही नहीं, जानने की सम्भावना नहीं छोड़ी..." §पृ. 31§

संदर्भ - संकेत

1. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण - रमेश कुन्तल मेघ, पृ. 193, 199, 200 संस्करण - 1969

2. मंगलसूत्र व अन्य रचनाएँ -- महाजनी सभ्यता - लेख-प्रेमचंद, पृ. 164 संस्करण - 1991, प्रकाशन - भारती भाषा प्रकाशन

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

षष्ठ अध्याय

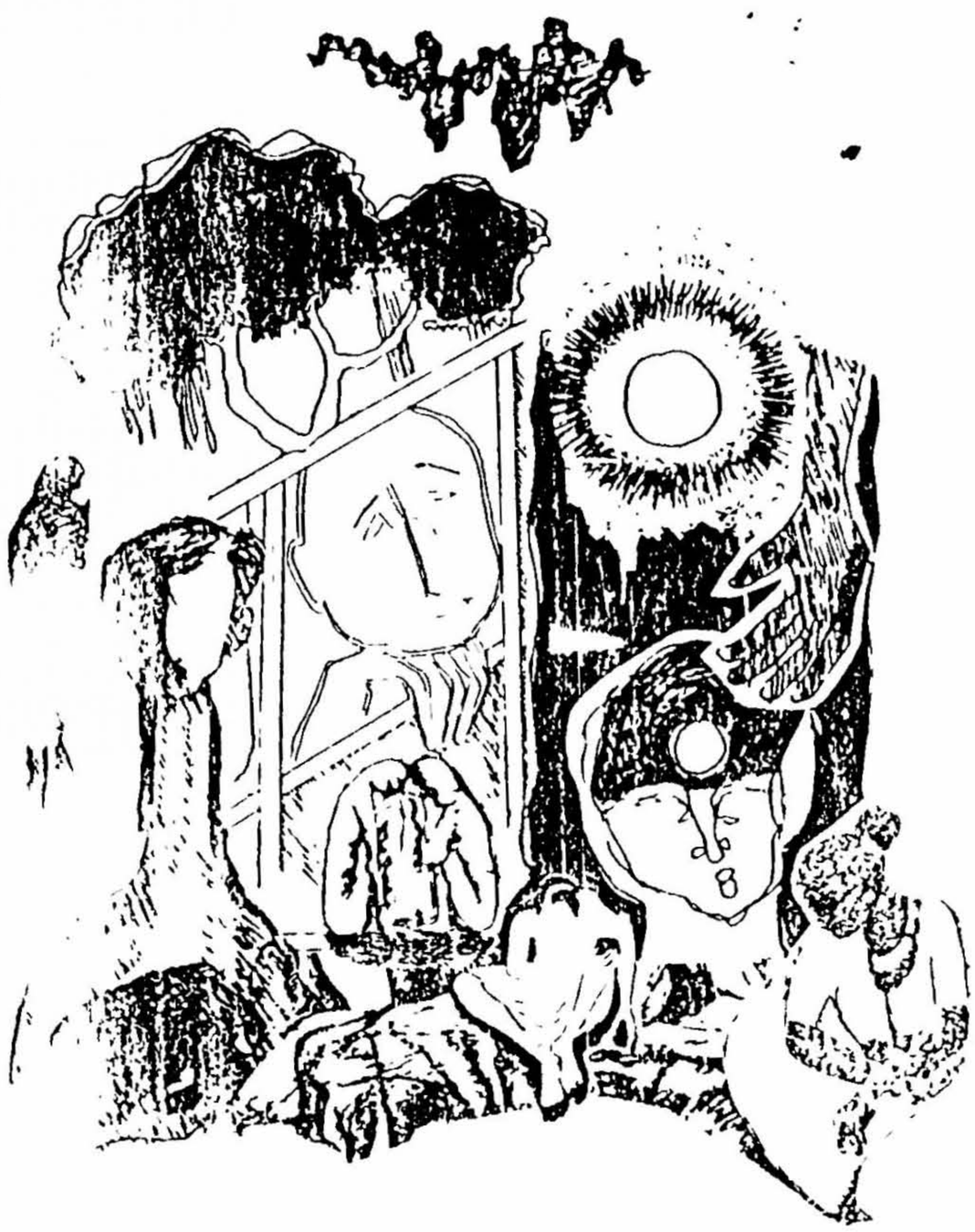

षष्ठ अध्याय

6. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी वर्ग की प्रगतिशील भूमिका

6.1 परम्परा और यथास्थिति से विरोध

6.2 महत्तर मूल्य और संघर्ष

6.2.1 पारिवारिक स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना व संघर्ष

6.2.2 सामाजिक व व्यावसायिक स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना व संघर्ष

6.2.3 आत्मगौरव की भावना

6.2.4 स्वाभिमान की भावना

*****

षष्ठ अध्याय

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी वर्ग की प्रगतिशील भूमिका

6.1 परम्परा और यथास्थिति से विरोध

आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में प्रगतिशील विचार रखते हैं। वे अपना विवाह परम्परागत ढंग से अर्थात् माता-पिता द्वारा तय की गयी लड़की से न कर अपनी मर्ज़ी से प्रेम-विवाह करना चाहते हैं। विवाहित जीवन के अतिरिक्त विवाहित होने के बावजूद बुद्धिजीवी अन्यत्र विवाहेतर सम्बन्ध बनाये रखते हैं। इसका एक कारण है उनकी उच्छृंखलता और दूसरा कारण है उनके वैवाहिक जीवन की असफ़लता या पत्नी के साथ अनबन अथवा वैचारिक स्तर पर मतभेद। "भ्रमभंग" का चन्दन वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में प्रगतिशील विचार रखता है। वह मेघा भटनागर से प्रेम करता है और उसी से विवाह करना चाहता है, इसीलिए उसके पिताजी द्वारा पसंद की गई लड़की से विवाह करने से इन्कार करते हुए पत्र में लिखता है "मुझे यह लिखने के लिए क्षमा करेंगे पिताजी कि मैं विवाह के मामले में अपना सौदा नहीं होने दूँगा। विवाह मुझे करना है। ज़िन्दगी मुझे निभानी है। ऊँच-नीच मुझे देखना है।

अपनी पत्नी को छाँटने का अधिकार आप मेरे पास ही रहने देंगे। मेघा को मैं पिछले पाँच-छह वर्षों से जानता हूँ। आपको याद होगा बात उसके पिता की ओर से ही शुरू हुई थी। मैंने इन वर्षों में कोशिश की है कि वह मेरी रुचि के अनुसार ढले। मैं उसे बहुत प्यार करता हूँ पिताजी। वह मेरे हिसाब से मेरे लायक़ है। ...मैंने मेघा को लेकर कितने ही छोटे-छोटे सपने तक सजाये हैं पिताजी। मुझे विश्वास है आप मेरे सपनों के बीच नहीं आयेंगे।" (पृ. 67) "नदी के द्वीप" की गौरा भी परम्परागत विवाह की विरोधी है। इसका पता हमें भुवन को लिखे पत्र से चलता है जिसमें उसने लिखा है "माँ की अनशन की धमकी स्वयं एक महत्वपूर्ण तथ्य है; पिता तो दुःखी पर चुप हैं, किन्तु माँ का कहना है कि उन दोनों के जीवन का दारोमदार इसी पर है। गौरा इसे अन्याय समझती है, पर क्या माता-पिता की इच्छा पर अपने को उत्सर्ग कर देना भी एक रास्ता नहीं है ? सारी परम्परा तो इसी का समर्थन करती है कि यही रास्ता है : और ऐसे आत्म-बलिदान में सुख भी होता है, यही कल्याण की भावना से किया जाए; खीझ कर, आत्म-दहन की भावना से नहीं। यही सब वह सोचती है, और किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाती, पर भुवन की यह बात वह ख़ूब समझती है कि अन्ततोगत्वा निर्णय उसके माता-पिता का नहीं, उसी का है।" (पृ. 75) "रूकोगी नहीं राधिका" की राधिका को परम्परागत विवाह पसन्द नहीं है बल्कि अपनी पसन्द व जान-पहचान वाले व्यक्ति से विवाह करना चाहती है -- "तब विवाह ? पर अब स्वीकारेगा भी कौन ? न वही किसी अनजान पुरुष से सप्तपदी की रस्म पूरी करवाकर पत्नी बनना पसन्द करेगी।" (पृ. 34) "टूटते बंधन" के डिप्टी कलक्टर बुद्धिरंजन बाबू विवाह के मामले में प्रगतिशील विचार रखते हैं। वे

प्रेम-विवाह ही नहीं करते बल्कि एक परित्यक्ता को अपना कर इस रूढ़ि-ग्रस्त समाज में एक प्रगतिशील क़दम उठाकर आदर्श उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं "विवाह तो मैं उस लड़की के साथ करूँगा, जो रूप सौन्दर्य में ही नहीं, विचारधारा में भी मेरे मन के अनुकूल होगी। भले ही वह किसी अन्य जाति की हो। विधवा हो, तो भी कोई हर्ज़ नहीं।" (पृ. 66) और एक दिन परित्यक्ता मुरली के सम्मुख विवाह प्रस्ताव रखते हैं "तुम चाहोगी तो मैं तुम्हारे साथ सिविल मैरिज भी कर लूँगा, लेकिन हमारा वास्तविक मिलन तभी होगा, जब तुम यशवन्त को सदा के लिए भूल जाओगी।"(पृ. 103) एक दिन वे उसे हमेशा के लिए अपना लेते हैं और अपने घर से सामान ला लेने के लिए कहते हैं। "उखड़े हुए लोग" का नायक वकील शरद, जया से प्रेम-विवाह करता है तथा परम्परागत विवाह-प्रथा की मान्यताओं को नकारते हुए जया से विवाह करते समय कहता है "हम लोग सम्मिलित जीवन बिताने का आज निश्चय कर रहे हैं। प्रकृति को अनिवार्य मानकर दो इकाइयों के सामूहिक जीवन की सामाजिक-स्वीकृति का नाम विवाह है। परिवर्तित सामाजिक रूपों में व्यक्तियों-स्त्री-पुरुषों के बीच की यह अण्डर-स्टैण्डिंग भी बदलनी चाहिए। विवाह के सम्बन्ध में मैं हर टीम-टाम के विरुद्ध हूँ। सामन्तों की तरह फौज़-पंटा लेकर लड़की वालों के घर पर चढ़ दौड़ने और चौथ वसूलने के ऐतिहासिक दौर से हम लोग गुज़र आये हैं। उसकी नकल की भी ज़रूरत नहीं रह गई है। यह सब जब होता था तब होता था। आग जलाकर एक मृत और साधारणतः दुर्बोध भाषा में, कुछ जाहिलों को बीच में डालकर अर्थहीन वाक्यों को दुहरा-भर लेना, हद दर्ज़े की जहालत और अंध-विश्वास है। ...विवाह सामाजिक धरातल पर एक व्यक्तिगत मसला है -- लेकिन आज का सामाजिक रूढ़ि-जर्जर

मिटता हुआ रूप व्यक्ति के अनुकूल ही नहीं उसके विकास में सबसे बड़ा बाधक है। किन्हीं भी कारणों से जब तक समाज का यह रूप नहीं बदलता, तब तक व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता है कि इस मसले को भविष्य के समाज की दृष्टि से, आज शुद्ध व्यक्तिगत स्तर पर ही हल करे। आज विवाह एक समझौता है, और इसके सिवा कुछ हो भी नहीं सकता। जब आपस में यह गुंजाइश नहीं रहेगी कि इसे चलाया जा सके या इस पर स्थिर रहा जा सके तो यह समझौता टूट जायेगा। आज से हम लोग एक दूसरे के प्रति ईमानदार रहने का प्रयत्न करेंगे। मानवीय भावनाएँ और सम्भावनाएँ मनुष्य के हर क़दम की मापदण्ड होती है - इस वक्त भी वे हमारे सामने हैं, तब भी होंगी।" (पृ. 28) प्रेम-विवाह के बाद शरद सोचता है "उन लोगों ने आग की धुंधलाती लपटों के चारों ओर बैल की तरह चक्कर काटकर साथ रहने का निश्चय नहीं किया -- किसी एजेण्ट को बीच में नहीं लिया। -- आख़िर स्त्री-पुरुष के बीच एक निश्छल-आत्यन्तिक - समर्पण में इस सब खानापूरी और ढोंग के लिए जगह कहाँ है ? वे ज़िंदगी भर घसीटते रहें या कल ही लड़-भिड़ कर अलग हो जायँ— लेकिन जीवन के इस लोकोत्तर आनन्द का दुनिया के किसी भी आडम्बर से क्या मतलब है ...? सब कितने झूठे हैं -- कितने दिखावटी फ़ालतू लोगों का दिमाग़ ...।" (पृ. 175-176) जया भी शरद की तरह प्रेम-विवाह करने के पक्ष में है। वह न केवल शरद से विवाह करती है बल्कि उसके साथ जीवन-संग्राम में कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलने वाली आधुनिका बुद्धिजीवी है। शरद के साथ विवाह से पूर्व वह स्वप्न (वस्तुतः उसके मस्तिष्क में लगातार घूमते रहने वाले विचार हैं जो स्वप्न बनकर आए हैं) में अपनी मित्र से कहती है "आज की लड़की को भयंकर चित्र दिखाकर नहीं डरा सकती। पुरुष के साथ

बोझ बनकर वह नया जीवन बनाने नहीं निकलती कि पुरुष को नौकरी मिल जाय तब तो उसका जीवन सफ़ल है, नहीं तो बोझ है ही। दिन भर लांछना और ताड़ना सहती बैठी-बैठी सन्ध्या की राह वह नहीं देखती कि शायद आज पतिदेव की नौकरी लग जाय। वह खुद भी तो कुछ कर सकती है, कुछ करने का साहस और हिम्मत लेकर निकलती है।" ..."तुम जाओ, बैठकर गीता पढ़ो और तख़्त पर सोओ। सुबह-शाम गायत्री का पाठ करो, शील और ब्रह्मचर्य के उपदेश सुनो। वही तुम्हारी शिक्षा है और वही तुम्हारी सीमा है।" ... मैं कोई नया काम तो कर नहीं रही हूँ। तुम्हारी सती रुक्मिणी, अम्बा-अम्बिका से लेकर संयोगिता तक हज़ारों "देवियों" और "माताओं" की लाइनें मेरे पीछे हैं।" ...जाओ और माँ-बाप की इच्छा के पुतले के साथ, जिसे वे अपना घर-बार बेचकर दहेज़-नाम की क़ीमत देकर खरीद दें, आग की घुटती लपटों के चारों ओर घूमो और बाद में पतिव्रता की विडम्बना छाती पर लादकर उसके वंश को आगे बढ़ाओ, कुटो-पिटो और रात को बिस्तरा गर्म रखो। मुझसे यह नहीं होगा। मुझे जाने दो; देर हो रही है, अभी उनकी गाड़ी आ रही है। शायद घर से अटैची भी न ला पाऊँगी। उनके सपने, उनका विश्वास और अपना साहस, मेरे लिए बहुत है -- मुझे तुम्हारी नैतिकता, शील और चरित्र की ज़रूरत नहीं है। मेरे लिए नई दुनिया की राहें खुली हैं। मेरे रास्ते से हटो। मुझे इस कीचड़ से निकल जाने दो-रामायण के पन्नों की दुनिया तुम्हारे लिए बहुत है। राम ने सीता पर जो - जो अत्याचार किये, उन्हें पढ़ो और बैठकर आँसू बहाओ।" §पृ. 90-91§ "एक इंच मुस्कान" का अमर प्रेम-विवाह करने के पक्ष में है। विवाह के बारे में अमला द्वारा पूछने पर बताता है कि "मैंने विवाह किया नहीं, यह तो सच है, पर विवाह की बात

सोचता भी नहीं, ऐसा मैं नहीं कहता। हाँ, इतना अवश्य है कि साथी मन लायक़ होना चाहिए। घर वालों की ओर से तय किए हुए विवाह में मेरा विश्वास नहीं।"[27] वह साधारण परन्तु समझदार व प्रेम करने वाली लड़की से विवाह करना चाहता है। अमला द्वारा रंजना का परिचय देने की बात पर वह कहता है ---"तो सुनो, नाम है रंजना .... दिल्ली रहती है। कॉलेज में पढ़ाती है। ...जानता बहुत दिनों से हूँ। शायद इन्हीं गर्मियों में हम लोग शादी कर लें। लड़की देखने-सुनने में साधारण है ...लेकिन समझदार है और सबसे बड़ी बात है श्री लक्ष्मी ...। §पृ.43§ बाद में रंजना से उसका विवाह हो जाता है। "उसके हिस्से की धूप" की नायिका मनीषा भी इस मामले में प्रगतिशील विचारों वाली बुद्धिजीवी है। वह अपनी दोस्त सुधा से कहती है "अगर मैं किसी से प्रेम करती तो वह चाहे जिस प्रान्त, देश या धर्म का क्यों न होता, उससे विवाह करने में हिचकिचाती नहीं।"§पृ.101-102§ मनीषा के माध्यम से हम परम्परागत विवाह और प्रेम-विवाह के सम्बन्ध में बुद्धिजीवी वर्ग के प्रगतिशील विचारों को जान सकते हैं। मनीषा, सुधा से कहती है "एक दूसरे को सचमुच चाहकर विवाह करो तो दूसरी बात होती है। प्रेम साधारण-से-साधारण मनुष्य को भी महान् बना देता है। एक दूसरे को पाने की सच्ची ललक हमसे कठोर-से-कठोर साधना करा देती है, बड़े से बड़ा आत्म त्याग। ...इसमें §परंपरागत विवाह§ क्या है, माँ-बाप, पण्डित, पुरोहित ने मिलजुल कर मंगल नक्षत्रों के तले, अग्नि को साक्षी दे, दो इंसानों के दुपट्टे बाँध दिये और वे चल दिए एक शय्या पर जीवन पर्यन्त प्रेम का नाटक करने।" §पृ.103§ "शेखर : एक जीवनी" का शेखर भी विवाह के बारे में प्रगतिशील विचार रखता है। इसका पता राघवन से कहे इस वाक्य से चलता है "आयु काफ़ी है, यह कहते तुम्हें शर्म नहीं आती ? बीस वर्ष के हो गए

और अभी इतना दम नहीं कि ज़बर्दस्ती शादी होने से रोक दो। नहीं करना चाहते शादी, तो क्यों नहीं कहते कि नहीं करेंगे ? ...एक बार कह दिया तो क्या बहादुरी की ? तुम कोई भेड़-बकरी हो कि गले में रस्सी डालकर खींच ले जाएँगे और बलि दे देंगे ? तुम आदमी हो आदमी। और तुम कहते थे, नौजवानों को दृढ़ बनाएँगे। तुम-तुम्हारी स्त्री उस आदमी का क्या आदर कर सकेगी, जो उसकी चोटी में गूँथे जाने से इन्कार नहीं कर सका ? क्योंकि मैं इसे शादी नहीं कहूँगा -- शादी तब होती जब तुम स्वयं अपनी इच्छा से उधर बढ़ते, स्वयं अपनी संगिनी चुनते, और फिर सारी दुनिया से लड़कर उसे ग्रहण करते।" §पृ. 222§ "गुनाहों का देवता" का चन्दर प्रेम-विवाह की वकालत करते हुए डॉ. शुक्ला से कहता है "विवाह को आप केवल समाज के दृष्टिकोण से क्यों देखते हैं ? व्यक्ति के दृष्टिकोण से भी देखिए। अगर दो विभिन्न जाति के लड़का-लड़की अपना मानसिक संतुलन ज़्यादा अच्छा कर सकते हैं तो क्यों न विवाह की इजाज़त दी जाये।"...हाँ, प्रेम-विवाह अकसर असफ़ल होते हैं, लेकिन सम्भव है वह प्रेम न होता हो। जहाँ सच्चा प्रेम होगा वहाँ कभी असफ़ल विवाह नहीं होंगे।"§पृ. 53§ "क्यों फँसे" के भास्कर के विवाह सम्बन्धी प्रगतिशील विचार मोती से कहे इन शब्दों से जाने जा सकते हैं "मैं मानूँ तो परिवार के लोग सप्ताह भर में ही ब्याह रचा सकते हैं परन्तु किसी लड़की या युवती को जाने-पहचाने बिना जीवन भर के साथ का बन्धन गले में डाल लेने का साहस नहीं। और उसमें क्या तुक ? यह प्रेम का साथ नहीं बन्धन का साथ मात्र होगा।"§पृ. 53§ इस तरह परम्परागत विवाह का विरोध कर बुद्धिजीवी प्रेम-विवाह पर बल देते हैं। फलस्वरूप भारतीय समाज के रूढ़ि ग्रस्त रीति-रिवाज़, जात-पांत, ऊँच-नीच, धर्म, दहेज़-प्रथा आदि कुरीतियाँ नष्ट हो रही हैं इसीलिए "गुनाहों के देवता" के बुज़ुर्ग डॉ. शुक्ला के परम्परागत विवाह के आदर्श टूटने लगते हैं जबकि वे इसके

ज़बरदस्त हिमायती थे, वे सोचते हैं "सुधा का विवाह कितनी अच्छी जगह किया गया, मगर सुधा पीली पड़ गई है कितना दुःख हुआ देखकर। और बिनती के साथ यह हुआ। यह सचमुच जाति, विवाह, सभी परम्पराएँ बहुत ही बुरी हैं। बुरी तरह सड़ गयी हैं। उन्हें तो काट फेंकना चाहिए। मेरा तो वैसे इस अनुभव के बाद सारा आदर्श ही बदल गया।" (पृ. 25)

बुद्धिजीवी जहाँ परम्परागत विवाह का विरोध कर प्रेम-विवाह करने के पक्ष में है तो वहीं एक क़दम आगे बढ़ विवाहेतर सम्बन्ध भी क़ायम करने से हिचकते नहीं और न ही अपने इस कार्य का उन्हें लेशमात्र भी रंज रहता है। "उसके हिस्से की धूप" की नायिका - लेखिका मनीषा अपने पति "मधुकर" के होने के बावजूद "जितेन" से विवाहेतर सम्बन्ध स्थापित कर लेती है "मनीषा कामना कर उठी; इससे पहले कि वह स्वयं हाथ बढ़ाकर अपने बीच के छोटे-से फ़ासले को मिटा दे, जितेन उसे अपनी बाँहों में ले ले। यही हुआ। वह जितेन की बाँहों में पहुँच गई। बिना प्रस्तावना के उसने अपने होंठ उसके होठों पर रख दिये। ...मनीषा अच्छी तरह से समझ रही थी कि जितेन का चुम्बन सीधे और स्पष्ट तरीक़े से अपनी ज़रूरत कह रहा है और उसकी ज़रूरत पूछ रहा है। मनीषा न चाहती हो तो हट जाये, जितेन मनुहार नहीं करेगा; मनीषा चाहती है तो उत्तर दे ... बिना झिझक उसने प्रत्युत्तर दे डाला। सच, वासना को कर्तव्य बना देना, शरीर को बन्धक रख देना, इससे बड़ी विडम्बना इन्सान के साथ क्या हो सकती है ? ... जितेन के सामने बिस्तर पर से बिना कपड़े पहने निकलने में उसे झिझक महसूस होने लगी ... कुछ देर के कशमकश के बाद उसने अपने को झकझोरा और चादर फेंककर उठ खड़ी हुई।" (पृ. 43-47) इस विवाहेतर

सम्बन्ध पर मनीषा को ज़रा भी रंज नहीं होता। "सच तो यह है कि जितेन के साथ बिताये क्षणों का लेशमात्र भी रंज उसे नहीं है।" §पृ.170§ यही स्थिति आलोच्य उपन्यासों के कई बुद्धिजीवियों की है। "न आने वाला कल" के मनोज के विवाहेतर सम्बन्ध अपनी सह-शिक्षिका बॉनी हाल से है "मैंने उसके हाथ अपने हाथों में लेने चाहे तो उसकी बाँहें उठकर मेरे कन्धों पर आ गईं। बाँहों में भींच लेने पर उसके शरीर का दुबलापन मुझे और ज़्यादा महसूस हुआ। पर वह दुबलापन चुभने वाला दुबलापन नहीं, माँसल की नरमाई लिए दुबलापन था। दो नन्हें-नन्हें खूज़े मेरी छाती से गरदन सटाये जल्दी-जल्दी साँसें ले रहे थे। ... मेरे होंठ बॉनी के होंठों पर दबकर जैसे एक मार में अपने लिए पनाह ढूँढ रहे थे। मेरा एक हाथ उसके कन्धे पर कसा था और दूसरा उसके शरीर की उभरी हुई रेखाओं को नाप रहा था।" §पृ.132§ "टूटते बन्धन" का बुद्धिजीवी शिक्षक यशवन्त अपनी पत्नी बेला से साफ़-साफ़ कह देता है कि दूसरी स्त्री-अपनी साली से उसके सम्बन्ध रहेंगे "मेरे सम्बन्ध में एक बात तुमको भी अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि जब और जहाँ भी मुझे कोई कुछ देना चाहेगा, तब मेरा संवेदनशील मानवी हृदय उसकी अवमानना कभी नहीं कर सकेगा। मुरली अगर मुझे अपना प्रेम देना चाहेगी, तो उसकी अवहेलना मेरे लिए कदापि सम्भव न होगी।" §पृ.54-55§ और मुरली से उसके विवाहेतर सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं जिससे मुरली को गर्भ ठहर जाता है। "रेखा" के प्रोफ़ेसर प्रभाशंकर के मिसेज़ रत्ना चावला से विवाहेतर सम्बन्ध हैं "रत्ना ने प्रभाशंकर का हाथ पकड़ कर कहा, "तुम मुझे सोफ़े पर लिटा दो, और थोड़ी देर मेरे पास बैठो। उफ़ कितनी सर्द हवा आ रही है। दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लो प्रोफ़ेसर। ....क्यों प्रोफ़ेसर इस कमरे में लाइट की क्या ज़रूरत है ? "प्रभाशंकर

को लगा कि रात में एक अजीब तरह की जलन है, और उनके अन्दर एक प्रबल मन्थन है। शरीर का अपना एक अलग स्थान है, आत्मा से पृथक और इस शरीर का अपना निजी धर्म है, और मनुष्य उस धर्म को निभाने को विवश है। उस समय आत्मा का अस्तित्व धुंधला पड़ गया था, ठीक उसी तरह जिस तरह कमरे के अन्दर वाला प्रकाश जाता रहा था। दूर, बहुत दूर से विवेक की क्षीण आवाज़ उनके पास वाले वासना के कोलाहल में डूब गयी थी।" §पृ॰ 136§ इसी प्रकार "नदी के द्वीप" की रेखा का भुवन के साथ विवाहेतर सम्बन्ध इस उपन्यास का केन्द्रीय प्रसंग है। राजनीतिज्ञ बुद्धिजीवी भी विवाहेतर सम्बन्ध बनाये रखते हैं। "दास्तशफा" के मुख्यमंत्री उत्सुक दास के प्रतिभा के साथ विवाहेतर सम्बन्ध हैं जिसकी पुष्टि इन पंक्तियों से होती है "तभी चकिया के डाक बंगले में, जाड़े की उस अँधेरी रात को प्रतिभा ने अपना सर्वस्व उत्सुकदास को सौंप दिया था।" §पृ॰ 77§ प्रतिभा ही नहीं विमला देवी §राजनीतिज्ञ§ के साथ भी उनके सम्बन्ध हैं "विमला देवी का नाम सुनकर यादवजी §कृष्णवल्लभ-मंत्री§ की बाँछे खिल गईं। मुख्य मंत्री की हमबिस्तर, राज़दार जो चाहे करवा दे।"§पृ॰ 14§ "उखड़े हुए लोग" के संसद सदस्य "देशबन्धु" के भी मायादेवी के साथ विवाहेतर सम्बन्ध हैं जिसका पता सूरज के इस कथन से चलता है -- "सो, यों तो मायादेवी के लिए ऐसा मरता है कि इसने अपनी पत्नी के लिए कभी चिंता नहीं की वह बेचारी टी॰बी॰ से तड़प-तड़प कर मरी।"§पृ॰ 394§ "तोड़म-फोड़म" की अमृता रागी के रणवीर उर्फ भारतेन्दु के साथ विवाहेतर सम्बन्ध हैं "पता नहीं क्या हुआ इस बात पर दोनों आलिंगनबद्ध हो गए एक दूसरे को चूमने लगे।" §पृ॰ 43§ "शेषयात्रा" के डॉ॰ प्रणव के पारिवारिक जीवन में टूटन का कारण है उसका चन्द्रिका के साथ विवाहेतर सम्बन्ध। चन्द्रिका से

सम्बन्ध जुड़ने के बाद वह सोचता है "चन्द्रिका में, उसकी प्रखरता में एक ऐसा अदमनीय आकर्षण था, उसके साथ में एक ऐसी गहरी अभूतपूर्व परितुष्टि थी- कि उसके बाद अनु के साथ वैवाहिक जिन्दगी बहुत लचर और बेमानी लगने लगी थी।" §पृ. 89§ "परछाईयों के पीछे" के कौशलजीवी महीपाल के अन्यत्र विवाहेतर सम्बन्ध रहते हैं जिसे वह अपनी पत्नी से कहने में झिझकता नहीं "फिलहाल इतना बता रहा हूँ, कि तुम्हारी तरह पतिव्रता जिंदगी मैं नहीं बिता सका। ... एक नर्स थी - बड़ी मासूम, जरूरतमंद।" ...शुरू में आपत्ति की थी, बाद में समझौता हो गया था...।"§पृ. 99-100§ सुमित्रा एक दिन घर पहुँचती तो देखती है कि नीना के साथ महीपाल गुलछर्रे उड़ा रहा था" अलेले भाई का लो लाय बहादुल ।§अरे रे भाई या लो राय बहादुर§ -- नीना को लड़िया-लड़िया कर अँगूर खिलाए जा रहे थे। ...वह हमेशा यही करता रहा है। शुरू दिन से उसे कोई न कोई लड़की मिलती रही है और जब-जब कोई औरत या लड़की मिली है, इसका दिमाग इसी तरह खराब होता रहा।" §206-207§ महीपाल, लड़की मिलने पर हमेशा अपनी पत्नी सुमित्रा को मार-कर दिल्ली से देहरादून भगा देता है। "रेत की मछली" का शोभन, महीपाल और यशवंत से दो क़दम आगे है। वे सिर्फ अपने विवाहेतर सम्बन्धों की बातें अपनी पत्नियों से करते हैं जबकि शोभन अपनी पत्नी का भी सहयोग माँगता है। शोभन के विवाहेतर सम्बन्ध "मीनल" से हो जाते हैं जिसे दुनिया के सामने अपनी बहन बताता है उनके सम्बन्धों का पता कुन्तल को तब चलता है जब वह

"नीले कमरे का पर्दा हटाकर मैंने आवाज दी - शोभन। मेरी आवाज के साथ ही कमरे के दूसरे सिरे पर हल्के अन्धेरे में पलंग पर सहसा एक आन्दोलन हुआ। अचकचाकर शोभन उठकर खड़े हो गये। मीनल दूसरी ओर करवट बदल ली। मेरे पुकारने और शोभन के उठ खड़े होने के बीच पलक मारते जो कुछ दीखा वह

न समझा जाने योग्य न था।"[101] विवाहेतर सम्बन्ध में अपनी पत्नी का सहयोग मांगते हुए कहता है "एकात्म हो जाने दो। कुन्तल, हम सब आओ एकात्म हो जाय। मैं, मीनल, तुम। हम सब में उस सुख को बहने दो।"(पृ.136)

इस प्रकार इन उपन्यासों के उपन्यासकारों ने विवाहेतर सम्बन्धों का चित्रण करने में प्रगतिशीलता दिखलाई है पर कहीं-कहीं यह विवाहेतर सम्बन्ध कुछ उपन्यासों में वासना के रूप में उभरकर आए हैं जैसे "दारूलशफा" के मुख्यमंत्री उत्सुकदास और प्रतिमा व विमला देवी के विवाहेतर सम्बन्ध, तो दूसरी ओर इन सम्बन्धों में प्रगतिशीलता का एक ही पक्ष सामने आता है जैसे "क्यों फंसे" का पत्रकार पुनेया। वह स्वयं तो विवाहेतर सम्बन्ध बनाने के पक्ष में है। इसके लिए एक नवीन दर्शन प्रस्तुत करता है पर अपनी पत्नी को सती-साध्वी के रूप में ही देखना चाहता है; उसके लिए पति ही परमेश्वर है अन्य पुरूषों की ओर देखना भी पाप है।* लेकिन तीसरी ओर वास्तव में विवाहेतर सम्बन्धों के स्थापित होने में प्रगतिशीलता दिखाई देती है। यह विवाहेतर सम्बन्ध शुद्ध प्रगतिशील इसलिए है क्योंकि इन उपन्यासों के बुद्धिजीवी नायकों को मानसिक व आत्मिक स्तर पर पत्नी के रूप में एक मित्र चाहिए, उनके सुख-दुःख का सच्चा साथी चाहिए, वैचारिक साम्य चाहिए। उपर्युक्त गुण पत्नी में न मिलने पर वे अन्यत्र सम्बन्ध स्थापित करने पर मजबूर हैं। लेकिन यह सम्बन्ध शारीरिक ही नहीं मानसिक व आत्मिक भी है।

---

* देखिए प्रस्तुत निबन्ध के चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत उपशीर्षक "दोहरी नैतिकता और दोहरे मानदण्ड"।

बुद्धिजीवियों में बढ़ते हुए विवाह-विच्छेदों का चित्रण आलोच्य उपन्यासों में हुआ है। तलाक़ लेने का मूल कारण है, बुद्धिजीवियों का अन्यत्र प्रेम सम्बन्ध होना। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी के बीच वैचारिक मतभेद, अपने कार्य में अधिक-से-अधिक व्यस्त होना, तथा एक-दूसरे की आवश्यकताओं को न समझने के कारण भी तलाक़-प्रथा का प्रचलन बुद्धिजीवियों में बढ़ रहा है। इनके लिए विवाह जितना पवित्र है उतना ही पवित्र तलाक़ भी है। "वही बात" का बुद्धिजीवी चीफ़ इन्जीनियर नकुल, समीरा के तलाक़ लेकर पुनः विवाह करने पर द्वन्द्व में रहने पर समझाते हुए कहता है "---मेरे रहते कौन तुम्हें छू सकता है, मीरा ? तुमने कोई पाप नहीं किया है। अगर शादी पवित्र है, तो तलाक भी उतना ही पवित्र है...शादी के गलत हो जाने पर भी तलाक न लेना शायद पाप होता ... पर तुमने तलाक लिया है ... फिर हमने शादी की है...।" §पृ. 65§ इसी उपन्यास का चीफ़ इन्जीनियर प्रशान्त अपने कार्य-क्षेत्र में सफ़लता की सर्वोच्च चोटी पर बैठना चाहता है अतः अधिक-से-अधिक समय अपने डैम निर्माण व दूसरे कार्यों में तथा मुख्यालय - दिल्ली आने-जाने में लगाता है जिससे वह अपने परिवार - पत्नी की आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं देता। पत्नी समीरा अकेली पड़ती जाती है उसके अकेलेपन का साथी बनता है नकुल-सहायक इंजीनियर। निष्कर्षतः "प्रशान्त" को "समीरा" से तलाक़ लेना पड़ता है। वह समीरा से कहता है "समी ! तुम अपने आपको पूरी तरह मुक्त समझना। तलाक के कागज़ों पर मैं दस्तख़त कर दूँगा।"§पृ. 58-59§ जबकि "शेषयात्रा" का डॉ. प्रणव, विवाहेतर सम्बन्धों के कारण तलाक़ लेता है। वह अपनी पत्नी अनु से कहता है -- "अनु तुम समझने की कोशिश क्यों नहीं करती, हमारे सम्बन्ध खत्म हो गये हैं। मैंने अपना रास्ता चुन लिया है, मैं चाहता हूँ कि तुम भी अपनी जिन्दगी अपने आप गढ़ो। अपने आप लेओ।" ...अनु मुझे

मजबूर मत करो। तुम सब कुछ ले लो, घर का सारा सामान ले लो। तुम देश लौट जाओ। मैं हजार रुपये महीने तुम्हें भेजता रहूँगा।" (अनु सीधे पूछती है) ..."वो औरत कौन है"? ...जिसके पीछे मुझे यों दूध से मक्खी की तरह निकाल कर फेंक रहे हैं।"...प्रणव ने खुद ही कहा, - "वह चन्द्रिका है।"(पृ. 62-63) अतः तलाक़ लेने के लिए अपनी पत्नी पर आरोप लगाते हुए कोर्ट में कहता है ---"मेरी बीबी अनु को पागल-पन के दौरे पड़ते हैं। उसमें यह अपना सारा आपा और सुध-बुध खो बैठती है। मुझ पर शारीरिक हमले करती है, नोचती-खसोटती है, अभद्र गालियाँ देकर, मुँह पर थूककर मुझे जलील करती है - इसने सारा घर तहस-नहस कर डाला है।" ..."ऐसे वातावरण में मेरा रहना नामुमकिन हो गया है, मुझे तरह-तरह के ड्रग्ज़ लेने पर बाध्य होना पड़ रहा है...।" (पृ. 88) "अन्तराल" का कुमार भी अपनी पत्नी से तलाक़ लेता है वह श्यामा से कहता है ..."मुझे उससे सिवाय शरीर के कुछ नहीं मिला। उसे भी केवल इतना ही मिला होगा। केवल इतने के भरोसे साथ-साथ जीवन वह शायद ढो सकती थी। मुझसे नहीं ढोया गया। ...पर यह जिंदगी जानवरों से भी बदतर नहीं कि जिसे आदमी अंदर से नफ़रत करे, उसके साथ रात-दिन एक घर में रूंधा रहे ? जिसके शरीर की गन्ध तक से जी मितलाए, उसके साथ एक बिस्तर में सोने का नाटक करता रहे ?"(पृ. 201-202) "आपका बंटी" की प्रिंसिपल शकुन का विवाह-विच्छेद विवाहेतर सम्बन्धों के कारण हुआ है पर वह सन्तुष्ट नहीं है -- "एक अध्याय था, जिसे समाप्त होना था, और वह हो गया। दस वर्ष का यह विवाहित जीवन - एक अन्धेरी सुरंग में चलते चले जाने की अनुभूति से भिन्न न था। आज जैसे एकाएक वह उसके अन्तिम छोर पर आ गई है। पर आ पहुँचने का संतोष भी तो नहीं है, ढकेल दिए जाने की विवश कचोट भर है।"(पृ. 37) यही स्थिति"नदी के द्वीप" के रेखा की है। वह भुवन को पत्र में लिखती है ...

..."भुवन, तुम्हें एक खबर देनी है, तीन सुनाइयों के बाद अदालत ने फैसला दे दिया है, हमारा विवाह रद्द हो गया है, हेमेन्द्र तो अफ्रीका चला ही गया है और अब मैं भी मुक्त हूँ। मुक्त किससे मुक्त - किसलिए मुक्त ? मुक्त स्मृतियों को सेने के लिए, मरने के लिए - मुक्त अतीत के बन्धन में जकड़ी रहने के लिए... तलाक का विधान अच्छा नहीं है, यह कौन कह सकता है, पर कितने अपर्याप्त हैं मानवीय विधान प्रकृति की समस्याओं के सामने बल्कि मानव की ही समस्याओं के सामने ...यों तो शायद यह विच्छेद अभी वैकल्पिक है : पक्का होने के लिए छः मास का अन्तराल होता है न ? पर वो तो कम-से-कम इस मामले में कोरी फार्मेलिटी है। आज न सही; पाँच - एक महीने बाद सही...रद्द तो वह हो ही गया। लेकिन क्या रद्द हो गया ? वह दर्द ? वह ग्लानि वह आत्मावसाद, वे मर्माघात - क्या वे रद्द हो सकते हैं ? क़ानून मान ले कि उसने मुक्ति दे दी है, कि अन्याय का निराकरण कर दिया है ..."§पृ. 252-253§ ऐसी स्थिति "शेष यात्रा" के डॉ. प्रणव की हुई, वह तलाक़ के बाद प्रसन्न नहीं था "अब प्रणव स्वतन्त्र था, अकेला; उन्मुक्त, बंधनहीन। उसने अपने मन में वह उत्साह नहीं पाया जिसकी उसने इस क्षण के लिए कल्पना की थी।"§पृ. 88§ ऐसी स्थिति से सर्वथा भिन्न है "उसके हिस्से की धूप" की नायिका मसीजीवी मनीषा की स्थिति। वह स्वयं अपने पति जितेन से तलाक़ मांगती है और इसके लिए स्वयं को तर्कों के द्वारा तैयार करती है "जो रिश्ता रात के अंधेरे में जन्म लेता है और चन्द घण्टे कायम रहकर दिन के उजाले के साथ-साथ खत्म हो जाता है, उसे तोड़ने में कैसा संकोच ? "जितेन", ...

हूँ ? उसका स्वर अनमना था ।

"मैं तुमसे तलाक चाहती हूँ।"[44] आगे स्पष्ट कहती है "मैं मधुकर से प्यार करती हूँ और उससे विवाह करना चाहती हूँ।" §पृ. 144§ अतः यह स्पष्ट है कि

मनीषा अन्यत्र-विवाहेतर सम्बन्धों के कारण तलाक़ लेना चाहती है। इसी कारण से "रेत की मछली" का शोभन भी कुन्तल से तलाक़ लेना चाहता है ताकि "मीनल" से विवाह कर सके। वह कुन्तल के पास तलाक़ पेपरों पर हस्ताक्षर करवाने आता है "उनके हाथ में एक मोटा कागज़ था, अदालती स्टाम्प पेपर जिस पर पहले से ही कुछ टाइप किया हुआ था। बोले - इस पर दस्तखत कर दो।" -- लिखे गये शब्द मैंने पढ़े नहीं थे लेकिन काफ़ी सीमा तक उनकी कल्पना कर सकती थी। दस्तखत न करने का कोई निश्चय बिल्कुल नहीं था। फिर भी थोड़ी देर कागज लेने को हाथ नहीं बढ़े। शोभन ने दाँत पीसते हुए फिर वैसा ही कुछ कहा। वही सब कुछ अशोभन। गालियों से लिथड़ी हुई धमकियाँ। कागज लेकर मैंने दस्तख़त कर दिया।"(पृ. 197)

बुद्धिजीवी पुनर्विवाह जैसे प्रगतिशील क़दम उठाकर प्रचलित कुरीतियों व परम्पराओं को नष्ट कर रहे हैं। तलाक़ के बाद परित्यक्त व अकेली ज़िन्दगी बिताने से तथा वैवाहिक जीवन की घुटन से मुक्त होकर दूसरा विवाह या पुनर्विवाह कर अपनी यथास्थिति को अस्वीकार कर रहे हैं। "नदी के द्वीप"की रेखा,हेमेन्द्र को तलाक़ देने के बाद डॉ. रमेशचन्द्र से दूसरा विवाह करती है। वह भुवन को पत्र में लिखती है "मुझे आशीर्वाद दो, भुवन। डॉक्टर रमेशचन्द्र ने मुझसे विवाह का प्रस्ताव किया था; मैंने उन्हें स्वीकृति दे दी है। इसी महीने के अन्तिम सप्ताह में विवाह हो जाएगा। ...विवाह के लिए हम दार्जिलिंग जावेंगे -- रमेश का आग्रह है। कोई समारोह नहीं होगा-- लेकिन क्योंकि "कानूनी आधार" आवश्यक है - यह लीगैलिटी, भुवन। -- इसलिए रेजिस्ट्रेशन तो होगा ही।"(पृ. 314) इसी उपन्यास का मसीजीवी चन्द्रमाधव,

पत्नी व बच्चों के रहते चन्द्रलेखा से दूसरा विवाह कर लेता है जिसका पता गौरा द्वारा भुवन को लिखे पत्र से चलता है जिसमें वह चन्द्रमाधव की शादी के समाचार की कतरन भी भेजती है -- "इसके साथ जो कतरन थी, उसमें चन्द्रमाधव के विवाह का समाचार और विवरण था उसका सारांश यह था कि बम्बई में 27 जनवरी सन् 1942 को सुप्रसिद्ध जर्नलिस्ट कामरेड चन्द्रमाधव का विवाह आर्य समाजी पद्धति से मिस चन्द्रलेखा से हुआ। चन्द्रलेखा प्रसिद्ध अभिनेत्री है। विवाह से पूर्व शुद्धि - संस्कार का उल्लेख था, जिससे विदित होता था कि मिस चन्द्रलेखा अहिन्दु रही। विवाह के बाद पार्टी हुई जिसमें सिनेमा जगत् के अनेक सितारे उपस्थित थे, और बम्बई के भद्र समाज के कई अग्रणी व्यक्ति - इनकी सूची भी थी। कामरेड चन्द्रमाधव स्थानीय "प्रोग्रेसिव जर्नलिस्ट "बिरादरी के उप-प्रधान और प्रमुख प्रोग्रेसिव बौद्धिक और लेखक थे; अनेक जर्नलिस्ट और प्रोग्रेसिव लेखकों तथा कम्युनिस्ट केन्द्रीय समिति के कुछ सदस्यों ने भी उत्सव में भाग लिया था और कामरेड चन्द्रमाधव को बधाई दी थी।" (पृ. 308) "रूकोगी नहीं राधिका" की राधिका के पिताजी (कला-साहित्य के समालोचक) अपनी बेटी की उम्र से चार-पाँच वर्ष बड़ी विद्या से पुनर्विवाह करना चाहते हैं। वे राधिका से कहते हैं "बेटी अगले सप्ताह विद्या और मैं विवाह करने जा रहे हैं।" (पृ. 42) "शेष यात्रा" की डॉ. अनु, प्रणव के तलाक़ देने के बाद दीपांकर से विवाह करने की स्वीकृति देती है "मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" (पृ. 126)

आलोच्य उपन्यासों के कुछ बुद्धिजीवी विवाह - जैसी प्राचीन प्रथा व परम्परा का निषेध करते हैं और बिना विवाह के साथ-साथ रहते हैं, विवाह-पूर्व ही सम्बन्ध बनाते हैं। "गुनाहों का देवता" की प्रामिला, विवाह-

प्रथा का निषेध करती हुई चन्दर से कहती है -- "अगर यह विवाह संस्था हट जाये तो कितना अच्छा हो पुरुष और नारी में मित्रता हो। बौद्धिक मित्रता और दिल की हमदर्दी। यह नहीं कि आदमी औरत को वासना की प्यास बुझाने का प्याला समझे और औरत आदमी को अपना मालिक। असल में बंधने के बाद ही पता नहीं क्यों सम्बन्धों में विकृति आ जाती है। ... मैं तो प्रेम में भी विवाह पक्ष में नहीं हूँ और प्रेम में भी वासना का विरोध करती हूँ।" (पृ. 106) विवाह - प्रथा में प्रमिला की तरह अनास्था "कोई तो" की प्राध्यापिका डॉ. वर्तिका में भी है। तुषार उससे प्रश्न पूछता है "नैतिकता अनैतिकता के माया-जाल में फँसा यह वर्ग कब मुक्त होगा, वर्ति ?

वर्तिका ने उत्तर दिया, "जब विवाह की सामाजिक अनिवार्यता समाप्त हो जायेगी।" (पृ. 35) और अन्त में विवाह-प्रथा के संस्कारों को तोड़ती है पत्रकार नारायण के साथ रहकर। डॉ. वर्तिका के पिताजी उससे आकर पूछते हैं "और तुम लोग बिना कोई रस्म किये साथ रहना चाहते हो ?"

...वर्तिका ने दृढ़ स्वर में कहा, "आपने जो कुछ सुना है वह सच है।" (पृ. 292) वर्तिका के लेखक-प्रभात मामा उससे कहते हैं "बिना संस्कार या रजिस्ट्रेशन के साथ रहने की बात मेरे गले नहीं उतरती पर तू स्वतन्त्र है अपने पथ का आप निर्माण करने को। कोई तो है जिसने संस्कारों की ऊब से मुक्ति चाही।" (पृ. 294) इसी उपन्यास का पत्रकार नारायण भी विवाह प्रथा में विश्वास नहीं रखता - "नहीं-नहीं, मुझे पत्नी नहीं चाहिए। चाहिए ऐसी संगिनी जो बिना किसी अनुष्ठान के मेरे साथ रहे।" इस तरह बिना विवाह के बुद्धिजीवियों में आपसी सम्बन्ध बनने लगे हैं जिन्हें अनैतिक सम्बन्ध कहा जाता है। "कोई तो" की यह

नवीन परम्परा बढ़ती जाती है "नगर पुत्र हंसता है", "क्यों फंसे" तथा "दारूलशफा" के बुद्धिजीवियों तक। और वे बेहिचक बिना विवाह के संबंध बनाने लगे। "नगर पुत्र हंसता है" का गुणाकर बिना विवाह के ही माधवी के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इसी प्रकार "क्यों फंसे" का पत्रकार पुनैया विवाह को रूढ़ि और संस्कार का बन्धन मानता है और तोड़ने के लिए कहता है "अब वैयक्तिक, राष्ट्रीय और निरापद हित की दृष्टि से कामेच्छा" पूर्ति को निष्फल और निरापद बना देना नैतिक मान लिया गया। विज्ञान की सहायता से यह सम्भव भी हो गया तो वह इच्छापूर्ति बार-बार एक ही व्यक्ति से करने के बन्धन की क्या जरूरत ? यह बंधन उस इच्छा पूर्ति को अधिक सरस नहीं बना सकता। दो आत्मनिर्भर व्यक्ति केवल इस काम के लिए जीवन भर साथ बंध जावें, इसमें क्या तुक ? यह केवल रूढ़ि और संस्कार का बंधन है। हम अनेक पुराने संस्कारों को निरर्थक समझ चुके हैं। यह भी वैसा ही संस्कार है।" §पृ. 81-82§

6.2 महत्तर मूल्य और संघर्ष

आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी चरित्रों में उत्तरदायित्व की भावना प्रबल रूप से विद्यमान है। यह उत्तरदायित्व हमें दो स्तरों पर दिखाई देता है, एक पारिवारिक स्तर पर; जिसमें वे अपने परिवार के प्रति उत्तरदायित्व को निभाते हैं और इसे निभाने के लिए संघर्षशील रहते हैं। दूसरा स्तर है सामाजिक उत्तरदायित्व का; जिसमें वे अपने व्यवसाय या कार्य §शिक्षण, लेखन, प्रकाशन, डॉक्टरी, प्रशासन एवं पत्रकारिता आदि का क्षेत्र§ के प्रति एक नैतिक

जिम्मेदारी को अनुभव करते हैं और उस काम के प्रति ईमानदार रहकर स्वयं को उससेपूरी तरह से जोड़ लेते हैं, और इसे भी निभाने के लिए संघर्ष-रत रहते हैं।

6.2.1 पारिवारिक स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना व संघर्ष

"भ्रमभंग" का चन्दन परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझता है और उसे निभाता है। जब उसे बम्बई के कॉलेज में नौकरी मिल जाती है तब सोचता है "भाई-बहनों का होना कितना सुख देने वाला होता है। आज सोच रहा हूँ, यह कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। फिर ये भाई-बहन कहाँ है। मेरे बच्चे हैं ये। कुन्दन मुझसे बारह साल छोटा है। चम्पा पन्द्रह साल। नन्दू अठारह साल...।"[45.6] आगे वह महसूस करता है "पिताजी पैंसठ के हो चले हैं। उन्होंने अपना कर्तव्य कर दिया। अब मुझे अपना फर्ज निभाना है। और मुझे लगता है, मैं उसके लिए तैयार हूँ .... "पिताजी के लिए एक कुरता-पाजमा। माँ के लिए साड़ी-ब्लाउज़। नन्दू-कुन्दन के लिए एक-एक निकर। और फ्रॉक का कपडा, चटक फूलों वाली छींट। मैं संकल्प करता हूँ मन ही मन, इस घर को खुशियों से भर दूँगा।"(पृ.48) चन्दन के उत्तरदायित्वों को निभाते रहने का पता मेघा को लिखे पत्र से चलता है -- "अब साढे तीन सौ मिलते हैं। दो सौ घर भेज देता हूँ। डेढ़ सौ में अपना खर्च चलाता हूँ। लोगों का देना कम नहीं होता। घर की चीजें जोड़ रहा हूँ। पिछले साल घर के लिए सोफ़ा खरीदा था। कुन्दन के लिए एक साइकिल भी। अभी तक उनकी इंस्टॉलमेण्ट चल रही है। फिर क्रॉकरी ... बर्तन ... कपडे चम्पा का अंग्रेजी ट्यूशन। मैट्रिक में आ गयी है लेकिन अभी तक "आई एम गो"

कहती है। क्या करूँ। उसे पढ़ाना भी जरूरी है।"(पृ. 6) इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए कड़ा संघर्ष करता है अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं का गला घोंट देता है यहाँ तक कि कभी-कभी आधा पेट भोजन करता है। इसकी पुष्टि जितेन्द्र को लिखे पत्र से होती है "हमारे परिवारों में पुत्र की चाहना क्या इसीलिए नहीं होती कि बड़ा होकर वह पूरे परिवार को संभाल ले। मैं भी तो यही कर रहा हूँ। माता-पिता, भाई-बहन सभी का बोझ मेरे ऊपर है। तुम्हें तो मालूम है, मैं नवीं में था कि पिताजी रिटार्यड हो गये थे। जो फण्ड मिला उससे एक दुकान खोली थी। लेकिन तीन-चार साल में सब चौपट हो गया। तब से सारा बोझ मेरे ही ऊपर आ गया। अब तो एक सन्तोष-सा होता है कि मैंने अपना फर्ज लगभग निभा दिया है। अपने को काट कर ... अपनी आकांक्षाओं को मसोसकर। अकसर सोंचने लगता हूँ कि घरवालों के प्रति अपना सांसारिक दायित्व मैंने निभा दिया है। इन पाँच वर्षों में मैंने यहाँ बड़े बुरे-बुरे दिन देखे हैं जितेन्द्र। कभी आधा पेट खाया है तो कभी उतना भी नहीं।" (पृ. 66) चन्दन, विवाह और बच्चों के होने के बाद भी चार सौ में से दो सौ अपने घर भेजता है। अपने पत्नी-बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ वह अपने मां-पिता, भाई के लिए पैसे भेजता है "खैर ... जितना मुझसे होगा, मैं भेजूंगा। भेजता रहा हूँ। ...भेजता रहूँगा। विवाह मैंने किया है, ठीक है। लेकिन आपके प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं भूला हूँ।"(पृ. 146) इसी तरह पारिवारिक उत्तरदायित्व को निभाने में "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की सुषमा अपने प्रेम तक का बलिदान कर देती है। जब सुषमा की मौसी उसे स्वयं की ज़िन्दगी के बारे में सोचने के लिए कहती है तब वह अपनी भावनाओं को तिलांजली दे परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए कहती है "पर इन सबको भी मदद की जरूरत है मौसी। पिताजी को पेंशन मिलती ही

कितनी है ? उसमें तो दो वक्त दाल-रोटी ही न चले। मैं भी अगर न करूँ तो किसके आगे हाथ फैलाएँगे ? लड़कों को पढ़ाना है ही, सड़क पर आवारा घूमने नहीं दिया जाएगा ... मैं जो करती हूँ, कर्तव्य समझकर नहीं मौसी, उनके प्यार में करती हूँ। मेरा तो मन होता है कि मेरे पास अगर और कुछ होता तो और भी करती। "...इन लोगों के लिए कुछ करके मन में बड़ा सन्तोष-सा होता है। अपने लिए तो सभी करते हैं, छोटे भाई-बहनों को कुछ कर सकूँ, उस योग्य भी तो पिताजी ने ही बनाया है।"(पृ.।।) इसी उत्तरदायित्व को निभाने के लिए नील से विवाह करने से इन्कार करते हुए कहती है -- "पहली बात तो नील यह है कि मेरी बहुत जिम्मेदारियाँ हैं। तुमसे छिपी नहीं है। पक्षाघात से पीड़ित बाबू, दो बहनें और भाई, सब मुझे ही करना है।" तब नील कहता है "मुझे लगता है सुषमा कि तुम्हारा परिवार तुम्हारा अनडयू एडवाण्टेज लेता है। तुम्हारे भाई-बहन, तुम्हारे माता-पिता की जिम्मेदारी है तुम्हारी नहीं।"[52] सुषमा वस्तुस्थिति जानते हुए भी नील से प्रेम होने के बावजूद ("कोई नहीं समझेगा नील, कि तुम मेरे लिए क्या बन गए हो;[58]) अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए नील को अपने जीवन से चले जाने के लिए कहती है "नौ साल से मैं इस कॉलिज में हूँ नील, पर यहाँ लोग किसी को जीने नहीं देते। इसीलिए मैं तुमसे कह रही थी कि मेरी जिन्दगी खत्म हो चुकी है। मैं केवल साधन हूँ। मेरी भावना का कोई स्थान नहीं। विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ देना मेरे लिए सम्भव नहीं। मैंने अपने को ऐसी जिन्दगी के लिए ढाल लिया है। तुम चले जाओगे तो मैं फिर अपने को उन्हीं प्राचीरों में बन्दी कर लूँगी।"[61] इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए वह संघर्ष करती है जिसका पता सुषमा द्वारा नील को कहे गये इन वाक्यों से चलता है "जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर भी आये, जबकि मैं अपने शरीर के मोल से धन और

आराम पा सकती थी। पर वह मैंने स्वीकार नहीं किया। एम.ए. करने के बाद मैंने एक प्राइवेट कॉलिज में नौकरी की। वहाँ के सेक्रेटरी नगर के पुराने रईसों में से थे। उन्होंने किस वस्तु का प्रलोभन नहीं दिया मुझे, पर मैंने नौकरी छोड़ दी। ...उन्हीं दिनों वह मुझसे एक धनी वकील से विवाह कर लेने का आग्रह करती रही, पर मैं पत्थर हो गयी थी।"(पृ.6) नील के चले जाने के बाद फिर से वह पत्थर हो जाती है, अपनी पीड़ा किसी पर प्रकट नहीं होने देती "सुषमा की आँखों में चमक थी सायास रोके गए आँसुओं की।"[120] ...लेकिन मीनाक्षी ने "एकान्त में बैठी सुषमा के मुख पर अव्यक्त वेदना, रात में टूटते तारों की तरह आँसू और पकड़े जाने पर उसकी झेंपी-सी हँसी भी देखी थी। पर औरों के सम्मुख सुषमा बहुत शांत रही।"(पृ.12) सुषमा की तरह "निर्वासित" की रमा भी अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अपना विवाह नहीं करती - "वह जानती थी कि निकट भविष्य में अपनी लड़कियों के लिए उस समाज के अनुरूप खर्च निभाना उसकी माँ के लिए कठिन हो जाएगा, जिसके बीच में उन लोगों को रात-दिन रहना पड़ता है; इसलिए उसने प्रथम श्रेणी में एम.ए. पास करने के बाद एल.टी. कर लिया और उसी शहर के एक महिला - विद्यालय में नौकरी स्वीकार कर ली। विवाह के प्रति उसकी अनिच्छा के प्रधान कारणों में से एक यह था कि वह अपनी माँ के स्नेह - बंधन में अत्यन्त दृढ़ता से जकड़ी हुई थी। वह जानती थी कि विवाह करके पति और बाल - बच्चों के स्नेह - प्रेम के चक्कर में पड़ जाने के बाद माँ के और उसके बीच में एक व्यवधान - सा पड़ जायेगा, और वह पूर्ण रूप से माँ की सेवा करने और उनकी निकटता पाने में असमर्थ रहेगी;"(पृ.21-22) "निश्चिकान्त" का कौशलजीवी निश्चिकान्त नौकरी छोड़कर स्वतन्त्रता - संग्राम में भाग लेना चाहता है पर पारिवारिक उत्तरदायित्व

के कारण ऐसा नहीं कर पाता -- "मैं यह सब कैसे सह रहा हूँ। मैं इस्तीफ़ा क्यों नहीं दे सकता ? मैं इस्तीफ़ा दूँगा...। ..."मुझे दुःख है कि मैं अब आपके दफ्तर में काम नहीं कर सकता।..." ...(कलम के लिखावट के साथ तिनका आने पर कागज पर पंक्ति-सी खींच जाती है) ...क्या वाहियात बात है ...?

और तभी उसने सुना मानों कोई बड़े जोर से हँसा, "वाहियात बात कुछ नहीं है।

तुम इस्तीफा नहीं दे सकते ?"

क्यों ? क्यों नहीं दे सकता ?"

"क्योंकि तुम अकेले नहीं हो। तुम गरीब हो। इस्तीफा दे दोगे तो अपने परिवार के लिए क्या करोगे ? कल को तुम्हारा विवाह होगा।" बात काट कर उसने कहा -- "देश के गुलाम रहते मैं विवाह नहीं करूँगा।"

"परन्तु अपने भाई को तो विष नहीं दे दोगे। जानते हो तुम उसे कितना प्यार करते हो ...?

सहसा कांत चौंककर उठा। त्याग पत्र का मसविदा सोचते-सोचते उसकी आँख झंक गई थी। उसने स्वप्न में जो कुछ देखा उसकी बातें सोचकर उसे कँपकँपी आने लगी। कलम हाथ से छूटकर "टन्न" का शब्द करती हुई फर्श पर जा पड़ी। उसने अपना सिर मेज पर टिका दिया। तड़प उठा - तो मैं क्या करूँ।"(पृ.44)

वह कुछ नहीं कर सकता क्योंकि उस पर परिवार का दायित्व है। इसी दायित्व को निभाने के लिए "परछाईयों के पीछे" की नायिका सुमित्रा अपने पति व बच्चों से दूर देहरादून में कार्य करती है ताकि बच्चों को अच्छी शिक्षा व सुख-सुविधा मिले और साथ ही पति की आर्थिक रूप से सहायता भी हो "क्या बुरा

है, लगी बंधी रकम हर महीने मिल जाती है। कम से कम बच्चों के लिए मनचाहा खरीद-पहन तो सकती हूँ। हाथ खाली होने से तो कुछ भी नहीं बनेगा। बच्चों से अलग भी नहीं हूँ, जब चाहे मिलकर आ सकती हूँ। नौकरी क्यों न करूँ, जमाना कितनी महंगाई का जा रहा है, पति का हाथ बंटाना मेरा फर्ज है।"§पृ.।9।§"गिरती दीवारें" के चेतन से उसका बड़ा भाई §डाक्टर§ आर्थिक सहायता मांगता है तब वह अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए कहता है कि "लाहौर में यदि आप रहेंगे तो पास रहने के कारण मैं जरूर ही कुछ न कुछ आपकी सहायता कर सकूँगा। ...जब भी बन पड़ा धन से भी सहायता करने का प्रयास करूँगा। इन सब बातों के अतिरिक्त मैं कई तरह से प्रचार कर सकता हूँ और प्रचार की सहायता धन की सहायता से कम नहीं।"§।50-15।§ इस सहायता के लिए अपना उत्तरदायित्व मानकर चेतन कठिन संघर्ष कर उनकी दुकान को आधुनिकीकृत कर देता है "वह स्वयं नये विषय चुनता और बारह-तेरह घंटे दफ्तर में काम करने के बाद घर पर लेख लिखता। इस तरह जो पैसे बनते वे अपने बड़े भाई को देता। भाई साहब की दुकान पर अब एक बड़ा भारी बोर्ड लग गया था। बाहर एक शीशे का और अन्दर प्लाईवुड का पार्टीशन शोभा देता था। वेटिंग रूम का रूप निखर आया था। और परछती के ऊपर भी एक गहरे नीले रंग का पर्दा दिखायी देता था। उसके पीछे भाई साहब ने दोपहर को आराम करने की जगह बना ली थी।" §पृ. 318-319§

भुवन, रेखा से सम्बन्ध स्थापित होने पर नैतिक दायित्व मानकर रेखा से विवाह का प्रस्ताव रखता है "रेखा; यह क्या संभव होगा कि - तुम मुझसे विवाह कर लो ?" ...पर - इतना तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि - यह करुणा नहीं है, रेखा, न निरी एक नोबल जेसचर - मैं सचमुच कहता हूँ।"§पृ. 213.4§ रेखा से उत्पन्न होने वाले बच्चे का भी उत्तरदायित्व लेने के लिए भुवन तैयार है।

रेखा से कहता है "रेखा, जो कुछ हुआ है, मुझे उसका दुःख नहीं है, परिताप नहीं है। और जो हुआ है, उससे मेरा मतलब केवल अतीत नहीं है, भविष्य भी है -- कारण भी, परिणाम भी। और यह नकारात्मक बात लगती है -- मैं कहूँ कि मैं प्रसन्न हूँ : एक आनन्द है मेरे भीतर -- एक शांति - भविष्य के प्रति एक स्वागत - भाव ... यही मैं तुमसे कहना चाहता हूँ - वह जो आएगा - आएगा या आएगी, वह तो - मुहावरा है -- वह मेरा है, मेरा वांछित है -- उससे मैं लजाऊँगा नहीं, वह तुम मुझे दोगी। भूलना मत - तुम्हें और तुम्हारी देन को मैं वरदान करके लेता हूँ। ..." (पृ. 220)

इस तरह हमारे आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी अपने परिवार के प्रति उत्तरदायित्व निभाने के लिए संघर्ष ही नहीं करते बल्कि अपनी इच्छाओं-भावनाओं तथा सुख-सुविधाओं को तक त्याग देते हैं।

6.2.2 सामाजिक व व्यावसायिक स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना व संघर्ष

आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी अपने व्यवसाय या कार्य के प्रति एक नैतिक उत्तरदायित्व को समझते हैं। और उसे ईमानदारी से पूरा करने की चेष्टा में संघर्षरत दिखाई देते हैं। यही कार्य के प्रति उत्तरदायित्व, ईमानदारी व इन्वाल्वमेंट "लेकिन दरवाजा" के देवेन में दिखाई देता है। देवेन का मित्र उसे जब काम में अधिक इन्वाल्व न होने की सलाह देता है तब वह कहता है "जहाँ तक इन्वाल्व न होने का सवाल है, यह हमारे काम में संभव नहीं है। जो चीज़ें छटती हैं, वे अंततः छपती हैं और एक पत्रिका में काम करने के नाते आप भी हर

प्रकाशित चीज़ के लिए जिम्मेदार हो जाते हैं।"(पृ.12) देवेन अपने काम के प्रति उत्तरदायित्व को अनुभव कर नौकरी छोड़ने की बात सोचता है "मैं "सीरियस्ली" नौकरी छोड़ने की सोच रहा हूँ, ताकि अपना समय साहित्य-साधना में लगा सकूँ।"(पृ.12) "एक नन्हीं कन्दील" का चेतन अपने काम के प्रति उत्तरदायित्व को समझता है, वह लगन और निष्ठा से समाचार पत्र में अनुवाद का काम करता है और सही अनुवाद होकर समाचार पत्र में छपने तक संघर्षरत रहता है "और उस दिन एक ख़बर उसे सात बार करनी पड़ी थी, लेकिन वह झुंझलाया नहीं। वह अनुवाद करता, मलिक साहब रद्द कर देते। वह फिर करता। ...उस दिन आठ घण्टे में उसने केवल पाँच खबरें की। लेकिन दूसरे दिन जब उसने उन ख़बरों को अखबार में छपे देखा तो उसे इतनी खुशी हुई, जितनी अपनी मौलिक कहानी को छपे देखकर न हुई थी। -- ये सारे-के-सारे समाचार उसने स्वयं अंग्रेज़ी से किये थे, उनके शीर्षक उसने स्वयं जमाये थे। उन पाँच ख़बरों में से एक पर दो-कॉलमों की सुर्खी जमी थी। चेतन उन ख़बरों को बार-बार पढ़ता, पर उसका जी न भरता। ...एक महीने के अन्दर-अन्दर मलिक साहब ने उसे अनुवाद में निपुण कर दिया था।" (पृ.136-137) यह निपुणता चेतन को अपने कार्य के प्रति उत्तरदायी होने के कारण तथा संघर्ष करते रहने के कारण आई। "नगर पुत्र हँसता है" का गुणाकर अपने कार्य के प्रति उत्तरदायित्व को ईमानदारी से निभाता है। उसकी ईमानदारी के कारण उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। वह संघर्ष करने के लिए तैयार है पर जनता के सामने सच को झूठ बोलने राज़ी नहीं है। वह इतना ईमानदार है कि किसी भी राजनीतिक पार्टी को सहायता स्वरूप कुछ भी नहीं लिखता यहाँ तक कि शासन करने वाली पार्टी के पक्ष में सहायता स्वरूप भी नहीं लिखता है। इतना ही नहीं अपने

प्रणय सम्बन्धों को "ताक" पर रख पत्र का कार्य करता है "जरूर हमें, सुर्खी के साथ जलूस की न्यूज देनी है, लेकिन यह सब जलूस को देखकर।" ..."हमें यह याद रखना चाहिए कि आज जनता बहुत सजग हो गई है। उसे किसी भुलावे में डालकर उल्लू नहीं बनाया जा सकता। हमें पहले जलूस के लक्ष्य को, उसमें लगाये जा रहे नारों को, जलूस में शामिल जनता को, जलूस के साथ चल रहे वालिंटियर्स को, और चल रही पुलिस को तथा जलूस को सम्बोधित करके नेताओं द्वारा दिये गए भाषणों को देखना होगा, तभी सही बात अपने पाठकों तक पहुँचा सकते हैं। आखिर इतने समाचार साप्ताहिक प्रकाशित होते हैं, इनके बीच जनता हमारे समाचार साप्ताहिक को ही क्यों पढ़े ? सिर्फ इसीलिए न कि हम सारी स्थिति को सही और निर्भीक रूप से सामने रखना जानते हैं।" ..."आप निश्चिंत रहे। मैं अब दफ्तर छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। मैंने दफ्तर न छोड़ने की सौगन्ध ले ली। लेकिन लगता था कि यह मैं माधवी के साथ ही नहीं अपने साथ भी बहुत ज्यादती कर रहा हूँ। माधवी का कार्ड मुझे मिल चुका है। मुझे माधवी के पास पहुँचना चाहिए। लेकिन मैं अब अपनी सीट से हिल भी नहीं सकता। इतना बड़ा प्रदर्शन हो रहा है। मुझे अपने समाचार साप्ताहिक के लिए कई दिन कार्य करना होगा।"(पृ. 98-99) अपने उत्तरदायित्व को ईमानदारी से निभाने के एवज़ में गुणाकर को नौकरी से हाथ धोना पड़ता है क्योंकि उसने समाचार पत्र में भारत सरकार की नीतियों का विरोध किया था अतः सम्पादक उसे बुला कर कहता है "आपने सीधे-सीधे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर हमला किया है। प्रदर्शन को बहुत गलत ढंग से पेश किया है। बेकार की नुक्ता-चीनी की है। ..."आपको तो जैसे मालूम ही नहीं कि सरकार की प्रगतिशील नीतियों का कम्युनिस्ट पार्टी समर्थन करती है। आपके लेख ने प्रकारान्तर से भारत सरकार की नीतियों पर चोट की है।" ...आप लिखित

रूप से माफी माँगिये, जिसे हम नये अंक में प्रकाशित कर सके।"

"यह नहीं होगा।"

"यही होगा ...अगर यह नहीं होगा तो आज से आपका काम यहाँ समाप्त हो गया। नीचे खजाँची से अपना हिसाब ले लीजिए जाइये।"(पृ. 114-115) इस तरह गुणाकर अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए समाचार पत्र के सम्पादक से न ही माफ़ी माँगता है और न ही कोई समझौता करता है बल्कि वह संघर्ष करने का आत्मविश्वास रखता है। माधवी से कहता है "नौकरी मेरी गई, और रोनी सूरत तुम बनाये हुए हो। बात तो समझो। प्राइवेट काम ऐसा ही होता है। आज यहाँ तो कल वहाँ। अरे यह काम छोड़ा तो कोई दूसरा पकडेंगे।"(पृ. 120) इस संघर्ष में उसकी "कर्ण के कवच और कुण्डल की तरह सदा शरीर पर चिपके रहने वाले अलंकार घडी, अंगूठी और गले की सोने की चेन न मालूम कब दो टाइम की रोटियों के प्रबन्ध करने में बिक गये। कीमती दो चार पुस्तकें भी सस्ते दामों में बिक गई। कुछ और भी सामान बिक गया और अब बेचने को कुछ रहा भी नहीं, इसलिए सोचना पड़ रहा था कि अगला आने वाला दिन कैसे कटेगा।"(पृ. 178) अंततः उसे क्लर्क की नौकरी स्वीकार करनी पड़ती है पर वह पुनः पत्रकारिता-लेखन के क्षेत्र में ही आने के लिए दृढ़ संकल्प है "मुझे अब कुछ समय के लिए इस ऑफिस में काम करना ही होगा। भले ही इससे मेरा पत्रकारी का जीवन, मेरा लेखन सब कुछ ठहर जाए। इस समय मुझे किसी सहारे की आवश्यकता है और यह नौकरी तो बहुत बड़ा आधार स्तम्भ है। यों इसी के साथ मुझे बराबर इस टोह में रहना चाहिए कि मैं ऐसा अवसर पाऊँ कि फिर से अपने स्वतन्त्र जीवन में लौट जाऊँ।" (पृ. 187-188) ...यह तो मेरा दुर्भाग्य

है जो मैं क्लर्क बना और ऑफिस की पतित जिन्दगी जिया। अब इस बारे में सोचना भी नहीं चाहिए क्योंकि भविष्य में क्लर्की से मेरा ताल्लुक ही क्या होगा। --मुझे अपनी कलम के सहारे जीना है, और मैं अपने क्षेत्र में ही जियूँगा।" §पृ. 25।§ इस तरह गुपाकर उत्तरदायित्व जैसे महत्तर मूल्यों के लिए संघर्षरत है। "बांधों न नाव इस ठाँव" §तकलीफ और तनाव§ के चेतन को अपने कार्य के आगे सभी खुशियाँ बेकार लगता हैं जिससे उसके काम के प्रति उत्तरदायी होने का बोध होता है "चन्दा का मन भी नुमाइश देखने को था, लेकिन चेतन लेख खत्म करके दे आना चाहता था। उसने भाई साहब से अनुरोध किया था कि वे उन्हीं के साथ चले जायँ और चन्दा को भी प्रदर्शनी दिखा लायें। वह किसी दिन उसे फिर ले जायेगा। वे लोग चले गए थे तो चेतन अपने कमरे में बैठा, एकाग्र भाव से अंग्रेज़ी लेख का अनुवाद करने लगा था। ...अपने काम के आगे उसे सारे मजे फीके लगते थे। जो काम सामने हो, उसे पहले निपटाना चेतन को सैर-तमाशे से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण लगता था, इसलिए जब भाई साहब ने प्रदर्शनी देखने की बात की थी तो उसने पहले हाथ का काम निपटाना जरूरी समझा था।" §पृ. 99-100§ "परती-परिकथा" के डॉक्टर रायचौधरी सरकार द्वारा नियुक्त किये गये क्षेत्रों में लगातार कार्य कर अपने उत्तरदायित्व को पूरी निष्ठा व ईमानदारी से निभाते हैं "डॉ. रायचौधरी पार्टी नं. दस के साथ हैं। कोशी के विभिन्न अंचलों में पेड़-पौधे, वनस्पति और उद्भिद की परीक्षा वह कर रहे हैं। पिछले तीन साल से हिमालय के प्रसिद्ध स्थान, बराह क्षेत्र के पास किसी फूल की खेती का प्रयोग किया है, अब पार्टी नं. 10 में भेजे गये हैं। तीन बड़े-बड़े ट्रकों में सैकड़ों गमले ले आये हैं।" §पृ. 242§ ताकि बंजर भूमि पर प्रयोग कर सके। "मैला आँचल" का डॉक्टर प्रशान्त अपने व्यवसाय के प्रति उत्तरदायित्व को समझता है

और देश की जनता की सेवा के लिए विशेषकर गाँव की ग़रीब जनता की सेवा के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने विदेश जाने से इन्कार कर देता है। वह विदेश जाने की अपेक्षा भारत के पिछड़े प्रान्त बिहार के पूर्णिया ज़िले में मलेरिया और काला-आज़ार से पीड़ित लोगों की सेवा करने में ही अपना उत्तरदायित्व समझता है। मिनिस्टर साहब के यह कहने पर --"सरकार तुमको विदेश भेज रही है। स्कालरशिप ...." ..."जी, मैं विदेश नहीं जाऊँगा," पूर्णिया और सहरसा के नक्शे को फैलाते हुए उसने कहा था, "मैं इसी नक्शे के किसी हिस्से में रहना चाहता हूँ। यह देखिए, यह है सहरसा का वह हिस्सा, जहाँ हर साल कोशी का तांडव नृत्य होता है। और यह पूर्णिया का पूर्वी अंचल जहाँ मलेरिया और काला-आज़ार हर साल मृत्यु की बाढ़ ले आते हैं। "...मुझे किसी मलेरिया सेंटर में ही भेज दीजिए।"

"मलेरिया सेंटर में ? लेकिन तुम एम.बी.बी.एस. हो और मलेरिया काला-आज़ार सेंटरों में एल.एम.पी. डॉक्टर लिये जाते हैं।"

"जब तक मैं रिसर्च पूरा नहीं कर लेता, मैं कुछ भी नहीं हूँ। मेरी डिग्री किस काम की।"(पृ. 5)(जबकि अधिकतर बुद्धिजीवियों की स्थिति स्वार्थपरक है, इसकी पुष्टि इस उद्धरण से होती है "प्रशांत के इस फैसले (गांव जाने का) को सुनकर मेडिकल कॉलिज के अधिकारियों, अध्यापकों और विद्यार्थियों की तरह-तरह की प्रतिक्रिया हुई। मशहूर सर्जन डॉ. पटवर्धन ने कहा, "बेवकूफ है।" ई.एन.टी. के प्रधान डॉ. नायक बोले, "पीछे आँखें खुलेंगी।"

मेडिसन के डाक्टर तरफ्दार की राय थी, "भावुकता का दौरा भी एक खतरनाक रोग है। मालूम ?"(पृ. 51-52(इस तरह की बातें डॉ. प्रशान्त को हतोत्साहित नहीं करती, वह गाँव की ओर चल देता और वहाँ अपने पेशे को

उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से निभाता है-यहाँ तक कि छुट्टी हो या त्यौहार हो जब भी कोई बीमार पड़ता है तो न केवल मेरी गंज के कोने-कोने में जाता है बल्कि उसके आस-पास के गाँवों में भी जाता है क्योंकि उसे पता है कि उस क्षेत्र में उसे छोड़कर कोई दूसरा डाक्टर नहीं है। होली के दिन भी डॉ. प्रशान्त मेरीगंज से बाहर बीमार को देखने जाता है। हैज़ा फैलने पर वह पूर्ण रूप से अपना उत्तरदायित्व निभाता है "सात सौ पचास लोगों को सूई दे दी गई है।

डॉ. आदमी नहीं देवता है देवता। ... के और दस्त से भरे बिछावन पर लेटे हुए रोगी की सेवा करना, कपड़े धोना, दवा डालकर गंदगी जलाना आदमी का काम नहीं, देवता ही कर सकते हैं। एक पैसा भी फीस नहीं लिया और मुफ्त में रात-रात भर जगकर लोगों का इलाज करते रहे। ...राजपूत टोली में पाँच-सात आदमी को रोग ने पकडा, लेकिन डाक्टर साहब ने सबों को बचा लिया।"(पृ. 142-143) गाँव के गरीब लोगों के रोगों का पता प्रशान्त लगा लेता है - अतः "वह नए संसार के लिए इंसान को स्वच्छ और सुन्दर बनाना चाहता था। यहाँ इंसान है कहाँ ? ...अभी पहला काम है, जानवर को इंसान बनाना। ..."यहाँ की मिट्टी में बिखरे, लाखों-लाख इंसानों की जिन्दगी के सुनहरे सपनों को बटोर कर, अधूरे अरमानों को बटोर कर यहाँ के प्राणी के जीवकोष में भर देने की कल्पना मैंने की थी। मैंने कल्पना की थी, हजारों स्वस्थ इंसान हिमालय की कंदराओं में, त्रिवेणी के संगम पर, अस्सम, तिमुर और तुण कोशी के संगम पर एक विशाल डैम बनाने के लिए पर्वत तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। लाखों एकड़ बंध्या धरती, कोशी-कवलित, मरी हुई मिट्टी शस्य-श्यामल हो उठेगी। कफन जैसे सफेद बालू-भरे मैदान में धानी रंग की जिन्दगी

के बेल लग जाएँगे। मकई के खेतों में घास गाढ़ती हुई औरतें बेवजह हँस पडेंगी। मोती जैसे सफेद दाँतों की चमक...। डॉ. का रिसर्च पूरा हो गया; एकदम कम्पलीट। वह बड़ा डॉक्टर हो गया। डॉक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है...। गरीबी और जहालत - इस रोग के दो कीटाणु हैं।" §पृ. 175-176§ इसी के इलाज के लिए डॉ. प्रशान्त जेल से छूटने पर डॉ. ममता से कहता है "ममता मैं फिर काम शुरू करूँगा -- यहीं इसी गाँव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएँगे। मैं साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारत माता के मैले आँचल तले। कम-से-कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ...।" §पृ. 312§ । इसी प्रकार का आदर्शवादी पात्र है "वही बात" का डिप्टी इंजीनियर नकुल। वह अपने कार्य के प्रति उत्तरदायित्व को अनुभव करता है। प्रशांत द्वारा नकुल को डैम बनाते समय आदिवासियों के विरोध करने पर उन्हें समझाने का कार्य सौंपा जाता है तब नकुल बढ़ते हुए विरोध की जानकारी प्रशांत को देते हुए कहता है "सच पूछिए तो इसमें मेरी जाति वालों का अंधविश्वास ज्यादा काम कर रहा है, स्वार्थ नहीं। उन्हें यह लगता है कि नदी के पानी को बाँधने से उन पर मुसीबतों के पहाड़ टूट पडेंगे। इसलिए अंधविश्वास के तहत वे विरोध कर रहे हैं। पर मैं कोशिश कर रहा हूँ कि इनके विरोध तोड़ पाऊँ ...इन्हें समझाने की कोशिश कर रहा हूँ ...क्या और कितना कर पाऊँगा, अभी कुछ कहा नहीं जा सकता ...आशा कम है पर विश्वास ज्यादा है।"[32] नकुल को अपने इस उत्तरदायित्व को पूरा करने की कोशिश में आदिवासियों से मार भी खानी पड़ती है "तब समीरा ने देखा - एक घायल, आधा बेहोश आदमी जीप में बैठा

था। एक क्षण बाद समीरा ने पहचाना -- वह नकुल था।

-- इन्हें क्या हुआ ? उसने ड्राइवर से पूछा तो ड्राइवर ने बताया -- आदिवासियों ने पीट डाला...।

--कुछ नहीं ऐसे ही .... नकुल ने कहा । कोई खास बात नहीं है। मामूली सी चोटे हैं, ठीक हो जाएंगी। पर सबसे बड़ी बात यह हुई कि लोग मान गये हैं और गाँव खाली करने को तैयार हैं ...।"(पृ. 36) इस तरह नकुल सौंपे गये कार्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ निभाता है। इसी उपन्यास का चीफ़ इंजीनियर प्रशांत भी नकुल की तरह अपने पेशे के प्रति उत्तरदायित्व को समझता है और उन्हें पूरा करने के लिए पत्नी तक को समय नहीं दे पाता। आदिवासियों द्वारा डैम निर्माण के कार्य में बाधा उपस्थित करने के कारण वह चिंतित हो उठता है जब समीरा उसे समझाने की कोशिश करती है तो वो चिढ़ कर कहता है "जिस बात को तुम समझती नहीं, उसमें टाँग मत अड़ाया करो।"(पृ. 2।) डैम-निर्माण के कार्य में व्यस्त हो जाने के कारण वह अपनी पत्नी समीरा के लिए भी समय नहीं निकाल पाता और फ़ोन पर उसके देर से घर आने की सूचना देता है -- "कुछ अर्जेंट काम आ गया है, समी ... मैं फिर फ़ोन करूँगा। ..."मैं सात बजे आ जाऊँगा।"(पृ. 23) इस तरह प्रशान्त की तुलना में नकुल को उत्तरदायित्व निभाने में संघर्ष भी करना पड़ा था।

"गली आगे मुड़ती है" के प्राध्यापक सुबोध भट्टाचार्य छात्रों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं इसीलिए वह किसी भी लड़के का अहित नहीं करते। कुछ प्राध्यापक उनके ख़िलाफ़ छात्रों को यह कहकर भड़का देते हैं कि उन्होंने अंकों के वितरण पर पक्षपात किया है। इस प्रकार उन पर आक्षेप लगाने

पर वे कहते हैं --"सुनो शुक्ला;" --- "मैं पिछले पाँच वर्षों में, जो सचमुच थोडे वर्ष कहे जायेंगे, मैंने जो कुछ पढ़ाया है वह सब जानते हैं। लड़कों के साथ मेरा व्यवहार केबिन तक सीमित नहीं रहा है। मैं अध्यापन को राजनीति से नहीं जोड़ता, यही मेरी गलती है। मैं उन अध्यापकों में नहीं हूँ जो व्यक्तिगत स्वार्थवश, ईर्ष्या-दग्ध होकर या अहं के कारण प्रमाद में लड़कों का अहित करते हैं। मैं जो कुछ हूँ सबके सामने हूँ। तुम्हारे भी, इनके भी। तुमसे किसने कहा कि मैंने कापियाँ जाँची है?" (पृ. 28) छात्रों के हित के लिए ही वे विश्वविद्यालय की विभागीय राजनीति के विरुद्ध है। रामानन्द तिवारी की अंक तालिका देखकर जयन्ती सुबोध भट्टाचार्य से पूछती है "सुबोध दा, मेरी समझ में यह बात नहीं आयी। दुनिया-भर के विषयों में यानी वैदिक स्टडीज, फिलॉसफी, फिलालॉजी ऐण्ड ग्रामर, पालि, प्राकृत, वेद, निरूक्त, काव्य-शास्त्र सबमें या तो प्रथम श्रेणी या सत्तर प्रतिशत से ऊपर अंक और साहित्य में तीस प्रतिशत कैसे हो गया?

(सुबोध दा कहते हैं) --"यह वह तिलस्मी खोह है जयन्ती, जहाँ काला सफेद और सफेद काला बनकर निकलता है। जानती हो यह सामने बैठा लड़का पिछले वर्ष सर्वोच्च स्थान पाये था, इसे निश्चित यू.जी.सी. की स्कालरशिप मिलती, पर इस वर्ष यह तीसरी पोजीशन पर है। दो लड़के इसके सिर पर बिठा दिये गये हैं जो इससे साहित्य पढ़ते रहे हैं।

"ऐसा क्यों है"?

"ऐसा इसलिए है कि न चाहते हुए भी यह मान लिया गया है कि यह लड़का सुबोध की पार्टी में है। यानी सुबोध की कोई अस्तित्वहीन पार्टी है जिसका यह नेता है। और सुबोध भट्टाचार्य को सबक सिखाने के लिए इसकी हत्या कर

दी गयी है।"(पृ. 69) इसी कारण वे विभागीय राजनीति के विरोधी हैं। रामानन्द को साहित्य में कम अंक तथा तीसरे पोजीशन पर आने पर वे उससे कहते हैं "मैं जानता हूँ कि ये परचे किसके पास थे और उन्होंने यह सब किसलिए किया है। मैं किसी का नाम लेना नहीं चाहता। न तो यह मेरी आदत है न तो संस्कार ही; पर एक निर्दोष प्रतिभा को इस तरह कुचल देना बिल्कुल जाहिली और विद्या-विरोधी कुकृत्य है, इतना कहे बिना मैं नहीं रह सकता।"(पृ. 69-70) इस तरह छात्र के हित के लिए अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए विभागीय राजनीति का विरोध ही नहीं करते बल्कि विभागों की स्थिति सुधारने, प्राध्यपकों के आपसी वैमनस्य व राजनीति को दूर कर एक स्वच्छ वातावरण बनाने के लिए भी अपने-आपको उत्तरदायी मानते हैं। इसीलिए अपने को ज़ब्त न रखकर साथी प्राध्यापक से कहते हैं "हम अध्यापक ही एक दूसरे से इस कदर डाह रखते हैं कि एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए हर तरह की पेशकश कर सकते हैं।"(पृ. 29) "अलग-अलग वैतरणी" का मास्टर शशिकांत करैता के विद्यालय में आने पर छात्रों व विद्यालय के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर उसके बंधे-बंधाये कार्यक्रमों की नीरसता को दूर करने के लिए नए कार्यक्रम बनाता है और इसे अपने विद्यालय में लागू करने में उसे कड़ा संघर्ष करना पड़ता है।उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप पूरे ज़िले में उसके विद्यालय व छात्रों का नाम होता है। उसके इस उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य से करैता के बदनाम विद्यालय का भी अच्छा नाम हो जाता है। शशिकांत एक दिन अपने वरिष्ठ-सहयोगियों को बुलाकर कहता है "यहाँ का स्कूली जीवन बड़ा नीरस और "डल" है। इसमें बच्चों का पूरा विकास कभी नहीं हो सकता। मैं यह सोचता हूँ।" ---"लड़कों में आवश्यक उत्साह पैदा करने के लिए पढ़ाई-लिखाई के अलावा

भी कुछ कार्यक्रम होने चाहिए।" --- मैं यहाँ की कठिनाइयाँ समझ रहा हूँ। यहाँ न तो खेल के सामान हैं, न तो बच्चों को घुमाने-फिराने की कोई ठीक व्यवस्था ही है। पर ये कठिनाइयाँ तो सभी स्कूलों के साथ कुछ-न-कुछ लगी हुई हैं। हमें इन्हीं कठिनाइयों के भीतर कुछ शुरू करना चाहिए। मैं समझता हूँ कि शाम को चार बजे के बाद खेल-कूद का एक अनिवार्य कार्यक्रम चलाया जाये।" §पृ॰ 133§ और अपनी कथनी को करनी में बदलने मण्डल कार्यालय पहुँचता है, सदाफल पाण्डे से कहता है "आ तो गया पाण्डे जी करैता। मगर लगता है मुझे खत्म करने के लिए ही वहाँ भेजा गया है। मैं क्या करूँ वहाँ ? न कोई सामान है, न कोई साधन। खेल के मैदानों की कमी होती है गाँवों में। मगर करैता में किस्मत से दो मैदानों का एक मैदान है, ठीक स्कूल के बगल में। मगर खेलने के लिए कुछ नहीं। सोचा आपके यहाँ नाक रगड़ूँ। शायद कुछ हो जाय।" ---शशिकान्त उस दिन बड़ी मुश्किल से सोलह लैजिमें पा सका। खुशक़िस्मती से विकास खंड का कार्यालय भी वहीं है। मगर वहाँ की हालत तो और भी गयी गुजरी थी। एक रिंग बाल निकल आया बड़ी मुश्किल से।... यह सब सरो-सामान बस पर रखकर वह गाँव के पास तक लाने में भी सफल हो गया। ...गाँव के एक चरवाहे की मिनती आरजू करके वह यह सारा सामान लादे-फाँदे स्कूल पहुँचा।"[135-136] स्कूल में पढ़ाई खत्म होने के बाद "शशिकांत ने चार-पाँच लड़कों को लेजिमें थमायीं। बगल में रिंग बाल दबाया और खेल के मैदान में जा डँटा। मैदान की हालात काफ़ी खराब थी। जगह-जगह बरसात की वजह से और बैलों के खुरों से खुदकर ज़मीन काफ़ी कट-फट गयी थी। एक बड़े लड़के को गाँव भेजकर उसने फावडा मँगवाया। और ऊँचे-ऊँचे टीलों को खुद

ही काटने लगा। लड़के माटी समतल करने के काम में लग गये। देखते ही देखते उस झाड-झंखाड के बीच काम भर को काफी लम्बा-चौडा समतल मैदान निकल आया। छोटे बच्चों की उसने एक टोली बनायी। उसका एक कप्तान नियुक्त किया। उन्हें रिंग बॉल सौंप दिया गया। बड़े बच्चों में से सोलह को छाँटकर उसने लेजिम की टीम बना ली। प्रत्येक को एक-एक लेजिम दे दी गयी।" ...§उन्हें प्रेरणा देते हुए कहता है § "बच्चों, अब से हम लोग रोज़ शाम को पढ़ाई-लिखाई के बाद खेल-कूद का भी थोड़ा काम किया करेंगे। मैं तुम्हारे चेहरों पर जो खुशी देख रहा हूँ, उसीसे जान रहा हूँ कि तुम इसके लिए कितना तरसते थे। पढ़ाई-लिखाई के साथ खेल-कूद बहुत जरूरी है। इससे पढ़ाई-लिखाई पर भी असर पड़ता है। पढ़ने-लिखने में ज्यादा मन भी लगता है। मगर कुछ बातें भी हैं, जो तुमको जान लेनी चाहिए। पहली तो यह कि खेल-कूद के मैदान में हर लड़के को दूसरे लड़के के साथ मिल-जुल कर रहना पड़ेगा। बिना इसके खेल-कूद हो ही नहीं सकता। लड़ाई-झगड़ों से तुम्हारा तो नुकसान होगा ही, दूसरे लड़कों का खेलना भी बंद हो जाएगा। इसलिए तुम लोगों को कसम लेनी होगी कि तुम लड़ाई-झगड़ा कभी नहीं करोगे। मिलजुल कर खेलोगे।" ---§कसम खाने पर§ -- "शाबास"। ---मैं तुम लोगों को एक नयी दुनिया में ले चलना चाहता हूँ। करैता स्कूल के बारे में लोगों का कहना है कि यह एक मुर्दा और सड़ी हुई जगह है। यहाँ के लड़के हर चीज़ में फिस्इडी हैं। क्या पढ़ाई-लिखाई, क्या खेल-कूद। मगर मैं तो यह देखता हूँ कि यहाँ के लड़के और जगह के लड़कों से अधिक भोले-भाले और उत्साही हैं। बस तुम लोगों को काम करने का मौक़ा नहीं मिला है। अब तुम्हें मन लगाकर पढ़ना है। साथ ही खेलकूद में तन्दुरूस्ती भी बनानी है। मैं चाहता हूँ कि लेजिम, मार्चिंग और आसन, इन तीन चीज़ों में तुम लोग इस तरह पक्के हो जाओ कि हम मण्डल और सर्किल

टूनमिन्ट में ही नहीं, जिला टूनमिण्ट में भी शामिल हों। हमारी टीम इनाम लेकर लौटे। मैं तुम लोगों को गाँव के बाहर की दुनिया भी दिखाना चाहता हूँ। मगर यह सब तुम्हारे बलबूते ही होगा। मैं तो सिर्फ रास्ता बता सकता हूँ। करना सब तुम्हें ही है। शशिकान्त देख रहा था कि मासूम बच्चों के चेहरे उत्साह से लाल होते जा रहे हैं, होंठ थरथरा रहे हैं, उन पर एक विस्मयकारी मुस्कराहट फैल रही है। बच्चों की आँखों में अनजानी चमक आ गयी है। शशिकान्त इस चमक से अच्छी तरह परिचित है। यह चमक एक अजीब तरह की अन्दरूनी आग की सूचना देती है, जो इन्सान में निरन्तर जलती रहती है। परिस्थितियाँ, समाज-व्यवस्थाएँ और गरीबी तथा जहालत इसे निराशा की राख में ढँक देती हैं और धीरे-धीरे जब राख का पर्दा परत-दर-परत पड़ता चला जाता है, तब एक दिन ऐसा भी होता है कि इस चिनगारी का गला घुट जाता है। यह कालिख की परत के नीचे सिसक-सिसक कर बुझ जाती है और इन्सान की जिन्दगी उस लालटेन की तरह अंधेरे में डूब जाती है जिसकी चिमनी काले धुएँ से भरकर रोशनी को ढँक लेती है। शशिकान्त बच्चों की आँखों में छिपी इसी चमक की प्रतीक्षा में था। आज जब सामने बैठे बच्चों की आँखों में यह चिनगारी चमक उठी तो उसे लगा कि वह निहाल हो गया है। जिस प्रकार उसका एक अदृश्य शक्ति में विश्वास था, वैसा ही इस चमक में भी। वह इस चमक को अदृश्य शक्ति का ही वरदान मानता और उसकी दृढ़ आस्था थी कि यदि एक बार यह चमक जग जाये तो अन्धकार की मोटी-से-मोटी परतें भी अपने आप फट जाती हैं।

"...तो बच्चों, तुम सब करने के लिए तैयार तो हो न ?"

"जी मास्टसाहब।" सभी लड़के थरथराती आवाज़ में हिचकोले खाते हुए-से बोले।"

§पृ. 137-139§ इस तरह शशिकान्त अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए

अनेकानेक संघर्ष कर स्कूली जीवन की नीरसता को ही दूर नहीं करता बल्कि छात्रों में एक नया जोश भर देता है और अपने स्कूल की आसन टीम को ज़िला टूर्नामेंट में खेलने की स्थिति तक पहुँचा देता है।यहडॉ. देवनाथ के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है "आपने तो इस सड़ियल गाँव में नई जान डाल दी।" --- सुना आपकी आसन टीम टूर्नामेंट में पहुँच गयी ?" §तब आदर्श प्रस्तुत करते हुए शशिकान्त कहता है § "यह सब आप लोगों की दया है डॉक्टर बाबू, और क्या कहूँ। जहाँ आप और विपिन बाबू जैसे पढ़े-लिखे लोग हैं, वह सड़ियल जगह कैसे है। मुझे तो सच कहिए, ऐसी जगहों में ही अच्छा लगता है। एकदम कोरी माटी, मुलायम और ताजा। ऐसी माटी से ही मन-माफिक मूरतें गढ़ी जा सकती हैं। मैं 'तो नहीं मानता कि यह सड़ियल जगह है। हाँ, यह जरूर है कि यह उपेक्षित जगह रही है। किसी ने छिपी चिनगारियों को जगाने की कभी कोशिश नहीं की बस।"§पृ. 310-311§ इस तरह शशिकान्त उत्तरदायित्व को समझकर संघर्ष करते हुए एक आदर्श दूसरे बुद्धिजीवियों के लिए उपस्थित करता है। "न आने वाला कल" का अध्यापक मनोज अपने व्यवसाय के प्रति उत्तरदायित्व अनुभव करता है "मुझे पेपल में जाने से ही चिढ़ थी, लेकिन उतनी ही चिढ़ लड़कों की कापियाँ जाँचने से भी थी। फिर भी एक-एक कापी मैं इतनी सावधानी से जाँचता था कि कभी एक बार भी मिस्टर व्हिसलर को इस पर टिप्पणी करने का मैंने मौका नहीं दिया था।" §पृ. 8§ "उसके हिस्से की धूप" की नायिका-लेखिका मनीषा अपने लेखन-कार्य के प्रति उत्तरदायित्व की भावना को अनुभव करती है और वह स्वयं का विश्लेषण इस प्रकार करती है "उसे अपनी कहानियाँ भी बचकानी और पुनरावृत्तिपूर्ण लगने लगी थी। रूमानी और भावुक कहानियाँ जो वह पिछले दिनों लिखती रही

है, बाजार में भले ही बिकजाती हों, उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाती।
...अब तभी लिखूँगी जब कुछ ऐसा लिख सकूँ जो मुझे तुष्टि दे सके, जो मेरे भीतर खदबदाते लावे को व्यक्त कर सके, वर्ना नहीं।"§पृ. 37-38§ इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि मनीषा कोई असंगत कहानी या उपन्यास नहीं लिखना चाहती बल्कि एक परिपक्व एवं सार्थक कहानी या उपन्यास लिखना चाहती है। उसकी यही भावना अपने कार्य के प्रति उत्तरदायिता को व्यक्त करती है। इसी तरह "एक इंच मुस्कान" का अमर भी अपने लेखन-कार्य के प्रति उत्तरदायित्व को समझता है और कहता है "मुझे कला के साथ कोई समझौता नहीं करना ...लिखना है ...बस, सब कुछ भूलकर लिखना है...।" §पृ. 48§ इसीलिए वह अपनी प्रेयसी रंजना से विवाह करने से इन्कार कर देता है "मैं जानता हूँ रंजना। मेरे लिए तुम अपना सर्वस्व भी दे सकती हो ...पर कभी मेरी ओर से भी सोचा है सारी बात को। तुम कमाओगी, काम करोगी और मैं बैठा-बैठा खाऊँगा ...इसे मेरा अहं कैसे स्वीकार करेगा ? और जितने मधुर सपने तुम आज अपने घर के, अपने भविष्य के देख रही हो ...यथार्थ की आँच से दो दिन में ही वे मुरझा जाएंगे और तुम्हारी यह उन्मुक्त हंसी, यह अल्हड़ता, यह मस्ती-सब कुछ सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाएगी। उस दिन भी तुम चाहो मुझे एक बार क्षमा कर दो, पर मैं अपने को कभी ... कभी क्षमा नहीं कर सकूँगा।"§पृ. 56-57§ अमर रंजना से विवाह करने से इन्कार तो कर देता है परन्तु बाद में उसे अपनी ग़लती का अहसास होता है क्योंकि रंजना को उसी ने दिल्ली बुलाया था, प्रायश्चित स्वरूप "उसकी आँखों में आँसू आ गए -- सचमुच, उसने बेचारी रंजना के साथ धोखा ही तो किया है ...उस बेचारी ने उसके लिए क्या नहीं किया ? उसके लिए, उसी के कहने पर तो बेचारी दिल्ली आई थी।" §पृ. 69§ तब वह अपने उत्तरदायित्व को समझकर रंजना से विवाह कर लेता है।

"लेकिन दरवाजा" का नायक नीलांबर भी अपने लेखकीय पक्ष के प्रति उत्तरदायित्व को समझता है। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए वह भूखों मरना भी स्वीकार करता है परन्तु अपनी पत्नी, साले व सुभाष के साथ मिलकर व्यापार (इंटरनेशनल रैकेट) में शामिल नहीं होना चाहता। वह देवेन से कहता है "मैं इस राकेट में शामिल नहीं होने वाला हूँ। नहीं, मुझे ऐसा पैसा नहीं चाहिए। इससे तो मैं भूखों मरना पसंद करूँगा।" (पृ. 94) और इस लेखन के उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अपनी पत्नी से अलग होकर देवेन के साथ रहने लगता है और उससे कहता है "हमने निर्णय कर लिया है कि और साथ रहना चूँकि संभव नहीं रहा, इसलिए दोस्तों की तरह जुदा हो लेते हैं।

"लेकिन यह अचानक...।"

"अचानक नहीं, कई दिनों से बल्कि सालों से चल रहा था, जो अब बर्स्ट हो गया।"...मैंने यह अचानक नहीं किया। हमने इस पर बात कर ली थी और फैसला हो गया था कि मैं अपना काम देखूँगा। यानी पढ़ना-लिखना करूँगा और वह अपना।" (पृ. 288) लेखक होने के कारण वह चाहता है "एक व्यक्ति के तौर पर आज मैं चाहता हूँ कि लिख पाऊँ, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो। और चूँकि मेरी सदा से इच्छा एक लेखक के रूप में जीने की रही है, मैं उसी रूप में अपनी सफलता देखता हूँ, अपनी शांति तलाशता हूँ।" (पृ. 247) इस तरह नीलांबर अपने लेखन कार्य के प्रति उत्तरदायित्व निभाना चाहता है। "दीक्षांत" के विद्याभूषण शर्मा अपने शिक्षण के प्रति उत्तरदायित्व को अनुभव करते हैं। वे कॉलेज के गुण्डे टाइप छात्रोंकी धमकियों से डर कर किसी फ्रेल को पास नहीं करते और न ही अंक बढ़ाते-घटाते हैं।यहाँ तक कि बरूआ जैसे छात्र की धमकियों से भी

नहीं डरते जिससे उनकी संस्था को हज़ारों का डोनेशन मिलता है। बरूआ, शर्मा जी के विषय में फ़ेल हो जाने पर उन्हें पास करने के लिए कहता है लेकिन शर्मा जी नहीं मानते तब उन्हें धमकाते हुए कहता है "इतना गरम होने की क्या बात है सर" ..."मैं तो इसलिए आया था आप के पास कि कॉलेज में आपको भी रहना है, मुझे भी।" ..."बकवास बंद करो और दफा हो जाओ यहाँ से"...आपा खोकर चीखे थे वे; मेरे विषय में नंबर घटाने-बढ़ाने या पास-फेल करने का अधिकार सिर्फ मेरा है ...तुम प्रिंसिपल, वाइस-प्रिंसिपल तक जाकर अपना सोर्स आजमा सकते हो ...इस मुद्दे पर मैं झुकने वाला नहीं, इतना समझ लो बेकार मेरा समय नष्ट करने से कोई फायदा नहीं।"§पृ. 64§ अपने उत्तरदायित्व को निभाने की वजह से शर्मा जी को नौकरी से निकाल दिया जाता है।

प्रिंसिपल राजदान उनसे कहता है "आपको आश्वासन देता हूँ कि हम किसी पर यह ज़ाहिर नहीं होने देंगे कि आप निकाले गये बल्कि लोग यही जानेंगे, स्टाफ से विद्यार्थी तक कि आपने स्वयं अप्रैल के आखिर में कॉलेज से अपना रेजीग्नेशन दे दिया" ..."तो फिर आप किस बात की इतनी बड़ी सजा मुझे दे रहे हैं सर, मैंने हमेशा ईमानदारी से पढ़ाया, गुटबाजी में नहीं पड़ा, क्या औरों की तरह बदमाश लड़कों की धमकियों में आकर उन्हें पास नहीं किया, सिर्फ इसलिए ...

शर्मा सर हताश हो टूटकर नहीं अंदर से पूरी तरह चकनाचूर होकर कुर्सी पर ढ़ह पड़े ...आँखों में तिरतिराते आँसू और लहू को एक साथ जी-तोड़ कोशिश से रोकते सिर्फ इतना कह पाये ...मुझे शायद अपने आश्रितों, अपनी पत्नी, बच्चों का ख्याल...आ गया...

टप-टप...दमित...,कुचला, असहाय पुरुषत्व प्रिंसिपल राजदान के टेबल पर बूंद-बूंद टपक रहा था...सिर्फ कुछ क्षणों पहले का आवेश और आक्रोश, अवश लाचारी में पूरी तरह डूब चुके थे...तो क्या...मैं समझ लूं कि इस मामले में पुनर्विचार की गुंजाइश नहीं सर..."

"यह मेरे हाथ में नहीं, मिस्टर शर्मा...समूची मैनेजमेंट कमेटी का प्रेशर है..."

जैसे रोकते न रोकते प्रिंसिपल राजदान से यह वाक्य छूट पड़ा।"

और मैं भी अकेला नहीं सर, मेरी पत्नी, स्कूल जाते बच्चे, गाँव में बूढ़ी माँ... मेरे साथ अशक्त, अबोध, मुझ पर पूरी तरह निर्भर, एक निर्धन परिवार है,सर..: शर्मा सर हथेलियों से पूरा चेहरा छिपाकर रो पड़े..."(पृ.85) वहाँ से निकलकर जब वे पुल पर से जाते हैं तो पैर फिसलने से तालाब में गिर जाते हैं और अस्पताल में उनकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह उत्तरदायित्व के कारण उन्हें अपने प्राण गंवाने पड़ते हैं।

"शेखर : एक जीवनी" का शेखर देश के प्रति अपना उत्तरदायित्व अनुभव करता है।इसीलिए "जब राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के लिए स्वयं सेवकों की माँग हुई तब उसने भी अपना नाम पहले ही दल में लिखा लिया और नियमपूर्वक ड्रिल की शिक्षा लेने लगा।"(पृ.33) बन्दी बनने पर शेखर का देश-प्रेम और अधिक प्रखर रूप धारण करने लगता है "वह दूसरी तरफ दक्खिन वाली कतार में होता, तो भारत में होता। वह कतार अच्छी नहीं है; नम्बरदार ने कहा कि वहाँ बदमास रखे जाते हैं, पर होता तो वह भारत...उसे एकाएक अचम्भा हुआ कि अपने देश की मिट्टी का, उसके नाम का, नक्शे में उसकी आकृति और स्थिति का मोह उसमें कब से जाग गया है...।"(पृ.5।) शेखर देश को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानता है।इसीलिए अपने लेखों से भारतीय सैनिकों

को विद्रोही बनाकर उन्हें "स्वाधीनता प्राप्ति" की ओर प्रेरित करता है "वे फ़ौज के सिपाहियों में ब्रिटिश - विरोधी प्रचार करना चाहते हैं ताकि सिपाही विद्रोही होकर भारत की स्वाधीनता का उद्योग करें, तो उसने इसके लिए एक ज़ोर-दार वक्तव्य लिखना तत्काल स्वीकार कर लिया --- और सातवें दिन रामकृष्ण के साथ जाकर शहर की किसी गली के घर में चार-पाँच घण्टे डुप्लिकेटर चलाकर अपने लिखे हुए पर्चे की तीन-चार हज़ार प्रतियाँ भी छाप आया।"(पृ. 205) इस तरह शेखर देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाता है। यही उत्तरदायित्व की भावना देशप्रेमी भूतनाथ (दूसरा भूतनाथ) में दिखाई देती है। वह पाकिस्तान में आतंकवादियों को दी जाने वाली ट्रेनिंग में भाग लेते हुए भारत के लिए जासूसी करता है, उनके महत्वपूर्ण समाचार सीमा-सुरक्षा चौकी के इंचार्ज "चौधरी बलवंत" के माध्यम से दिल्ली भेजता है "चौधरी साहब, ये बहुत महत्वपूर्ण दस्तावेज़ हैं। अगर इन्हें दिल्ली पहुँचने में देर हुई तो गजब हो जाएगा। पंजाब के हालात से आप वाकिफ़ ही हैं।" (पृ. 252) और भूतनाथ उत्तरदायित्व को निभाते-निभाते अपने प्राण गंवा बैठता है। राष्ट्र पर जब विपत्ति आती है तो "टूटते बन्धन" का यशवंत सेना में भरती होने जाता है। इसका पता बेला द्वारा मुरली से कहे जाने पर चलता है "तुमको मालूम नहीं, तुम्हारे जीजा आज सेना में भरती होने जा रहे हैं। मेरे कहने से तो माने नहीं, शायद तुम्हारे कहने से मान जाएँ।"(पृ. 105-106)

इस तरह आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी महत्तर मूल्यों के लिए संघर्षरत दिखाई पड़ते हैं।

6.2.3 आत्म गौरव की भावना

"भ्रम भंग" के चन्दन को बम्बई सिटी कॉलेज में लेक्चरर बनने पर स्वयं पर गर्व होता है "एक ख़बर ने जिंदगी बदल दी। सोचना बदल गया है। प्रोफ़ेसर शर्मा। प्रोफ़ेसर रॉय। और अब प्रोफ़ेसर चन्दन। एक हल्की-सी मुस्कराहठ। मन के कोनों में उभरती हुई। होठों के छोर फैले हुए।" (पृ.40) ...हॉल के बीच में खड़ा हूँ। चारों ओर गुलाबों की खेती है। हरे-नीले, पीले-सफेद, रंग-बिरंगे गुलाब। यह अपनी खेती है। अपने गुलाबों की खेती। सच, अध्यापक होना कितना भाग्यशाली होना होता है। मन करता है इन सबको बांहों में भर लूँ। ये सब मेरे अपने हैं। अपने विद्यार्थी। अपने सब कुछ...।"(पृ.86) बुद्धिजीवियों में स्वयं पर, अपने कार्यों एवं अपने पद-प्रतिष्ठा पर गर्व करने की भावना रहती है। "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की प्राध्यापिका सुषमा भी अपने पद की गरिमा से स्वयं अभिभूत होती है "सुषमा ने मेज पर रखी पीतल की तख्ती पर फिर एक बार ऊँगली फेरी। नई चमकती तख्ती पर उसके नाम के अक्षर उभरे हुए थे। सुषमा को अपना नाम अनायास ही बहुत मीठा और संगीतमय लग आया --- वह अचानक ही अपने पद की गरिमा से अभिभूत हो चिक के बाहर से देख उठी।" --- घण्टा समाप्त होने पर वह लौटी तो देखा कि इस बीच उसके कमरे के आगे नेम-प्लेट जड़ दी गई थी - मिस एस. शर्मा, एम.ए. वार्डन गर्ल्स होस्टल।" (पृ.6-7) "दीर्घांत" के शर्मा सर को ट्यूशन पर थोड़ी-सी इज्ज़त मिल जाती तो उन्हें गर्व होता "ट्यूशन लग जाने पर कहीं-कहीं पर चाय मिल जाती थी तो घर लौटकर सगर्व मना कर देते थे, "रहने दो उन लोगों ने पिला दी।" इस कहने में गर्व और

आत्मसंतोष दोनों होता। ख़ासकर कुंती के सामने ऐसा कुछ कहना ज़्यादा सन्तुष्टि देता। इज्ज़त से कहीं एक कप चाय मिलने का जो महत्व कुंती या उनकी नज़र में होता वह और कहाँ ?"(पृ. 32) इसी तरह "निर्वासित" का कवि महीप, नीलिमा द्वारा उसके कृतित्व का ज्ञान होने की बात कहने पर वह स्वयं पर गर्व कर उठता है "उस एक बात ने महीप की आँखों के आगे संसार का स्वरूप ही बदल दिया था। कोई सुन्दर लड़की उसकी कविता में दिलचस्पी ले सकती है, इस बात की कल्पना उसके लिए एकदम अपूर्व थी। कवि होने का सच्चा गौरव क्या है, इस बात का परिचय पहले-पहले उसे उसी दिन मिला। उसने स्वयं अपनी आँखों में अपने को ऊँचा उठा हुआ पाया;"(पृ. 20-21) "नदी के द्वीप" के चन्द्रमाधव को कवि आदि की तुलना में स्वयं को पत्रकार होने पर गर्व है "हजरत गंज की सड़क पर टहलने जा सकता था, और रात के दस बजे यहाँ चहल-कदमी करते नजर आना बुरा नहीं है, उससे प्रतिष्ठा बढ़ती ही है --- अकेले टहलते हैं पागल या कवि, जो असल में पागल ही होते हैं, पर रेस्पेक्टेबिल होने के लिए जीनियस का ढोंग रचते हैं। शब्दों पर अधिकार-रचना-हुँह; वह अधिकार तो पत्रकार का है, वही असल रचयिता है, सृष्टा है। कुछ बात लेकर बात बनाना भी कोई बात है भला ? कला वह, जो न-कुछ को लेकर खड़ा कर दे, सनसनी फैला दे; दंगे-बलवे-इनक़लाब करवा दे। कभी किसी कवि ने, कलाकार ने इनक़लाब नहीं कराया, जर्नलिस्ट ही अपनी मुट्ठी में इनक़लाब लिए फिरता है। चन्द्र ने मन-ही-मन जरा सुर से कहा, "मैं मुट्ठी में इनक़लाब लिये फिरता हूँ, आँखों-आँखों में ख्वाब लिये फिरता हूँ-"(पृ. ५।) यही गर्व "गोबर-गणेश" के विनायक को अपनी कविता छपने तथा पहली कमाई मिलने पर होता है "मुझे अपनी रचना की यह परिणति ज्यादा गौरवास्पद प्रतीत होने लगी। आखिर

मेरी कविता छपेगी। न सही पत्रिका में, पर्ची पर ही सही, छपेगी तो, बंटेगी तो। हजारों की तादाद में लोग पढ़ेंगे। ...मौके से जुगाड़ हो गया बिना दन्द-फन्द के। पसीने की कमाई है -- पहली कमाई। कविता की कमाई।"(पृ. 20-21) समाज में अपना एक स्थान बन जाने पर "भगोड़ा" के नायक "मैं" को अपने ऊपर गर्व होता है "उस सबको सिलसिलेवार लिखने में एक लालच हो सकता है --अंत या उपसंहार छोड़कर उसका काफी हिस्सा बेहद खूबसूरत है और उसमें वह सभी कुछ है जो किसी आदमी को अपने होने की सार्थकता का गौरवशाली बोध कराता है। शोहरत और सम्मान के न ढोए जा सकने वाले अपूर्व दृश्यों के बीचों-बीच लगातार अपने-आपको देखते-देखते शोहरत और सम्मान से अरुचि का एक महिमामंडित दौर पार करने का अनुभव, दुबारा जीने की एक ललक पैदा होती है, इसमें शक नहीं। ...अगर यह न होता तो अपनी कड़वी और बदज़ायका हार के साथ ही मुझसे वे तमाम स्थितियाँ याद न आती जिनमें मैं राह से गुजरते हुए अपनी तरफ उठने वाले हाथों के अभिवादन स्वीकार करता हुआ जमीन से शायद उठ जाया करता था।"(पृ. 9-10) "दारूलशफा" के कृष्णवल्लभ ,मंत्री बनने पर गर्व से फूले नहीं समाते -- "अपने कमरे में यादव जी ने घुसकर सारे कपडे उतार डाले। दीवाल से शीशा उतार कर मेज पर रख दिया। डगमगाते कदमों से बार-बार कमरे के एक छोर से छलाँग लगाते और कहते "वो मारा"। साथ ही शीशे में मुग्ध भाव से अपने को निहार लेते। उनकी आकांक्षाओं का स्वर्ग अब उनके सामने था एक छलाँग की दूरी पर।" (पृ. 12) "चिड़िया घर" की मिसेज रिज़वी को पुरुषों के मुक़ाबले स्वयं को अधिक बुद्धिमान होने का गर्व है "जौहरी, तुम मर्द लोग चाहें जितने भी तीस-मार खां बनते हों लेकिन हम लोगों से नहीं जीत सकते। इस मामले में हम लोग

आप लोगों से ज्यादा इंटेलेक्चुअल होती हैं।"(पृ. 140) यही गर्व "नगर पुत्र हंसता है" के गुणाकर को पुस्तक लिखने पर तथा उसे अपने मित्रों को बताने पर होता है "अब मैं पूर्ण रूप से अपनी अहमियत को स्वयं कह सकता था। मैं अब इन चारों को यह बताऊँगा कि तुम तो सिर्फ कॉफी हाउस में बैठकर व्यवस्था, सरकार, समाज को गाली ही दे सकते हो। चन्द आँकडे ही गिना सकते हो, जबकि मैं स्वतन्त्रता के बाद से देश के बदलते हुए आर्थिक ढाँचे को ठोस रूप में, यानी पुस्तक के रूप में सामने ला रहा हूँ। मैंने सीना फुलाकर, और सर ऊँचा करके कहा, "मैं आजकल भारतीय रुपये के अवमूल्यन पर एक किताब लिख रहा हूँ।"(पृ. 44) यही पुस्तक लिखने का गर्व "शेखर : एक जीवनी" के शेखर को है क्योंकि वह अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दी में लिख रहा है और उसके पाठकों की संख्या भी ज़्यादा है "अंग्रेज़ी की पुस्तक तो इने-गिने ही पढ़ेंगे - हिन्दी तो करोड़ों ...या कम-से-कम लाखों पढ़ सकते हैं।" ...शेखर कुछ गर्व से कह उठा -- "हिन्दी जनभाषा है। करोडों व्यक्तियों के प्राण इसमें बोले हैं।"..."और हमारी जाति की परम्परा इसमें बोलती है - हमारा सारा अतीत इसमें बंधा हुआ है।"(पृ. 139-140) अलग-स्वतन्त्र मकान लेने पर भी शेखर को गर्व होता है "...एकाएक उसे ध्यान हुआ कि यह पहला अवसर है कि वह अपना अलग मकान लेकर अपने भरोसे अकेला खड़ा हुआ है -- कि एक परिवार का या समुदाय का छोटा-सा अंग न होकर वह परिवार का मुखिया है -- मुखिया ही क्यों, समूचा परिवार, क्योंकि और आगे-पीछे कौन है।"(पृ. 117) "एक नन्हीं कन्दील" के चेतन को अपनी जन्मभूमि पर गर्व है क्योंकि इस धरती पर स्वस्थ-सुदृढ़ इंसान जन्म लेते हैं "क्षण भर को चेतन की नज़र उन पर गयी - लम्बे - तगड़े, चालीस - बयालीस इंच चौडे सीनों वाले सिक्ख, मलमल के कुर्ते

और लट्ठे की तहमदें पहने जैसे उस सारी जगह को भरे दे रहे थे - उस धरती के प्रति चेतन का सीना एक अनोखे गर्व से भर गया, जहाँ ऐसे दर्शनीय इंसान पैदा होते हैं।" §पृ.43§ उसके हिस्से की धूप" की मनीषा को स्वयं पर और अपने कार्य पर गर्व होता है "अपना नाम मुख पृष्ठ पर लिख दिया। मनीषा। यह उसका अपना नाम है। इसका ताल्लुक न जितेन राय से है, न मधुकर नागपाल से। मनीषा के "म" के मुखपृष्ठ पर फैलते-फैलते उसके होंठों पर भी सन्तुष्ट मुस्कराहठ फैल गई। जिस आत्म-गौरव का अनुभव उसने इन कहानियों को लिखते समय और फिर उन्हें संकलन-रूप में देखकर किया था, आज जितेन के सामने उन्हें अपना घोषित करते हुए फिर उसके अन्तर को गहरे से छू गया।" §पृ.43§ इसी तरह "बाँधों न नाव इस ठाँव §...तथा वापसी-भाग 2§ के चेतन अन्य अध्यापकों व क्लर्कों की तुलना में स्वयं पर गर्व है"...एक बार ऐसे ही अवसर पर, लाला जी के ज़रा आगे निकल जाने के बाद, उनके किसी मित्र अथवा क्लर्क ने ...सरगोशी में दूसरे से कहा था --"लाला हाकिमचन्द ने दूटर रखा है या दामाद।" - चेतन के कान में उस फब्ती की भनक पड़ गयी थी और यद्यपि उसे इस बात पर गर्व हुआ था कि रंग - रूप, चाल-ढाल और पहरावे में वह उनसे किसी तरह कम नहीं और महाशय अथवा पंडित टाइप के, चन्द्रा के पहले, यतीम-सूरत दूटरों की अपेक्षा कहीं अप-टू-डेट; सभ्य और सुशिक्षित दिखायी देता है, पर उन टुच्चे क्लर्कों की संगति में लाला जी के साथ जाना उसे खलता था। ..."§पृ.80§ "शेखर : एक जीवनी §भाग-।-उत्थान§ के शेखर को स्वयं पर और अपने कार्य पर गर्व है "मैं अपने पहले बीते हुए असंख्य युगों का निचोड़ हूँ। एक निर्जीव धूमकेतु से इस पृथ्वी के जन्म की, उस पर अत्यन्त प्राथमिक जीवन के उद्भव की, और उससे उत्पन्न अनेक विभिन्न जातियों के उद्भिज,

अण्डज, स्वेदज और पिण्डज जीव-जन्तुओं की वसीयत की छाप मुझ पर है; पिछले करोडों वर्षों से निरन्तर उन्नत होती हुई नृजाति के उच्चतम आदर्शों का केन्द्रीभूत पुंज भी मैं ही हूँ। इस दृष्टि से, मैं जो कुछ हूँ, अपना कुछ नहीं हूँ, नया कुछ नहीं हूँ। मैं किसी अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ का एक नया संशोधित, संवर्धित और सटीक-सटिप्पण संस्करण हूँ।"(पृ. 37) ...और हर समय, जब जहाँ वह जाता, उसके मन में एक ध्वनि गूँजा करती; मैं शेखर हूँ, एक अपूर्व नाटक का लेखक चन्द्रशेखर । और मैंने अकेले ही, बिना किसी की सहायता के अपने हाथों से उसका निर्माण किया है, स्वाधीन, बाधाहीन भारत के उस चित्र का,"(पृ. ।।7) यही गर्व "शह और मात" की सुजाता को है क्योंकि उसकी पहचान एक कहानीकार के रूप में होने लगी थी - "सारे दिन जाने क्यों मन पर बड़ी प्रसन्नता छाई रही। आखिर लोग कहानीकार के रूप में जानने लगे ही हैं मुझे।" (पृ. 2।) कहानी छपने व प्रशंसकों के पत्र आने पर भी गर्व अनुभव करती है "मेरी पहली कहानी छपी कि पत्रों का ढेर लग गया था। सच कहती हूँ, बड़ा गर्व होता था, बड़ा अच्छा लगता था और सोत्साह सहेलियों से कहती, "समझती क्या हो, एक कहानी छपी और खत लाते-लाते पोस्टमैन परेशान हो गया।"(पृ. 47) बुद्धिजीवी होने का गर्व "शहर में घूमता आईना" के चेतन को है। वह अपने मित्र लालनारायण गुप्त उर्फ लालू की तुलना में स्वयं को बुद्धिजीवी समझकर अपने ऊपर गर्व करता है "कहाँ वह - एक बुद्धिजीवी कथाकार, शक्ति सम्पन्न पत्रकार और कहाँ वह ठस्स दिमाग का बनिया ...।"(पृ. 2।) यही भावना "लेकिन दरवाजा" के देवेन भण्डारी में स्पष्ट दिखाई देती है "कई जाने पहचाने चेहरे थे -- लेखक, पत्रकार, समीक्षक और टॉप इंटलेक्चुअल जो नाटक दर नाटक मिलते जाते हैं। वहीं खूबसूरत लड़कियाँ स्लैक्स या प्यारे सिल्क की

साड़ियों से सजी और कोल्हापूरी चप्पलें चरमराती हर जाने-माने कलाकार और महत्वपूर्ण व्यक्ति के आगे या साथ चलती, आपको भी जीवन में आगे बढ़ने के लिए ललचाती। संस्कृति और सौंदर्य की ऐसी रेल-पेल में भी अकेले होने की दर्दनाक प्रतीति के बावजूद कितना अच्छा लगता है यह आश्वासन कि आप भी कोई सामान्य नहीं हैं। लेखक हैं, बुद्धिजीवी हैं और आपके मनोरंजन का एकमात्र माध्यम हॉलीवुड और बम्बइया फिल्में नहीं है। मंडी हाउस के आस-पास घूमते हुए मुझे आज भी उस तरह का आत्मविश्वास और संतोष रहता है, जिस तरह का अकसर नस्ली कुत्तों में अपने मालिक के अहाते में चौकीदारी करते हुए होता है।"(पृ. 52)

6.2.4. स्वाभिमान की भावना

"भ्रमभंग" का चन्दन स्वाभिमानी है। उसे इंटरव्यू के लिए बम्बई जाना पड़ता है पर टिकट के लिए पैसे नहीं हैं, बिना टिकट यात्रा करने से उसका स्वाभिमानी मन हिचकिचाता है "एक विचार आता है। क्यों न बिना टिकट...? नहीं। यह मुझसे नहीं होगा। यह मैं नहीं ही कर सकता।" (पृ.15) इसी तरह उसके पास एक बार भोजन करने के लिए पैसे नहीं रहते तब वह अपने मित्र जितेन्द्र के पास जाता है पर स्वाभिमानी होने के कारण वापस लौट आता है "चलो, जितेन्द्र के यहाँ चलते हैं ...शायद उसने कहीं दूशन पक्का किया हो। शायद... शायद वह खाने को भी पूछ ले...। क्या करूँ...नसों में भूख की एक परम्परा-सी बन गयी है। लेकिन फिर भी भूखा रहने की आदत नहीं पड़ी। ...जितेन्द्र का कमरा...। कुण्डी पर हाथ रूक जाता है। अपने लिए बार-बार सबको डिस्टर्ब करूँ ? नहीं...। हाथ ढीला पड़ गया है। साइकिल मोड़ ली है। लौट पड़ता

हूँ...।"(पृ. 38) "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की सुषमा जीवन में संघर्ष करती हुई अपने स्वाभिमान को बनाई रखती है। वह नील से कहती है "पर मैं यह तुम्हें जताना चाहती थी कि यह नौकरी मेरे लिए बहुत कीमती है। निर्धन मैं भले ही रही होऊँ, पर स्वाभिमानी भी बहुत रही। जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर भी आये, जबकि मैं अपने शरीर के मोल से धन और आराम पा सकती थी। पर वह मैंने स्वीकार नहीं किया। एम.ए. करने के बाद मैंने एक प्राइवेट कॉलेज में नौकरी की। वहाँ के सेक्रेटरी नगर के पुराने रईसों में थे। उन्होंने किस वस्तु का प्रलोभन नहीं दिया मुझे, पर मैंने वह नौकरी छोड़ दी।... ...उन्हीं दिनों वह मुझसे एक धनी वकील से विवाह कर लेने का आग्रह भी करती रहीं, पर मैं पत्थर हो गयी थी।"(पृ. 6।) "परछाइयों के पीछे" की सुमित्रा बहुत स्वाभिमानी है। कला द्वारा अपने पति को उपयोग करने की आज्ञामिश्रित छूट पर उसका स्वाभिमान जाग उठता है। वह कला से कहती है "होता होगा, मुझे इस तरह की बातें बिल्कुल पसंद नहीं है। तूने अपने पति को क्या इसीलिए भेजा था कि मैं कुछ देर के लिए उन्हें उधार ले लूँ ?"(पृ. 8।) और तुरन्त वह कला का घर छोड़कर देहरादून रवाना हो जाती है। यही स्वाभिमानी हमें "बाँधो न नाव इस ठांव" (तकलीफ और तनाव-भाग-।) के चेतन में दिखायी देती है। उसे भूखे रहना पसंद है पर बिना काम किये किसी से उधार पैसे मांगना नहीं। "उसके घर दो जून का आटा भी नहीं — चेतन यह बात उनसे न कह सका। हो सकता है, वह यह कहता तो चातक जी जेब से दो चार रुपये निकाल कर उसे दे देते। ऐसे में वह जमीन में गड़ जाता।...वह रुपये जरूर चाहता था, पर उधार नहीं। किसी काम के सिलसिले में।"(पृ. 49) "रेखा" के डॉक्टर योगेन्द्रनाथ स्वाभिमानी है। रेखा की हस्तरेखाएँ देखकर उसके बारे में सच-सच बता देते हैं जिससे रेखा चिढ़कर उन पर अनाप-शनाप बकने लगती है।

फलस्वरूप उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचती है और वे रेखा से कहते हैं "मुझे दुःख है कि मेरे कटु सत्य से आपको चोट लगी। लेकिन मैं गालियाँ सुनने का आदी नहीं हूँ। मैं जा रहा हूँ। कल शाम आपकी सखी के विवाह में सम्मिलित होने के लिए दादर आर्य समाज हॉल में पहुँच जाऊँगा।"(पृ. 202)

निष्कर्ष

आलोच्य उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का अवसरवादी, समझौतावादी और विवश रूप ही नहीं चित्रित हुआ बल्कि इस वर्ग की प्रगतिशील, संघर्षशील, उत्तरदायी और आदर्शवादी भूमिका का भी चित्रण हुआ है। इसके अन्तर्गत बुद्धिजीवी चरित्रों के दो महत्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित होते हैं -- एक-परम्परा और यथास्थिति को यथावत स्वीकार न करके उसके विरुद्ध जाने, परिस्थितियों को बदलने, उन्हें अपने अनुकूल बनाने और ऐसा न हो पाने की दशा में कम-से-कम अपने विरोध को व्यक्त करने की स्थिति। और दूसरा है - अपनी वैयक्तिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर परिवार, समाज और देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाने तथा महत्तर मूल्यों के लिए संघर्ष करने की स्थिति।

इस प्रकार इन उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग के धनात्मक पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

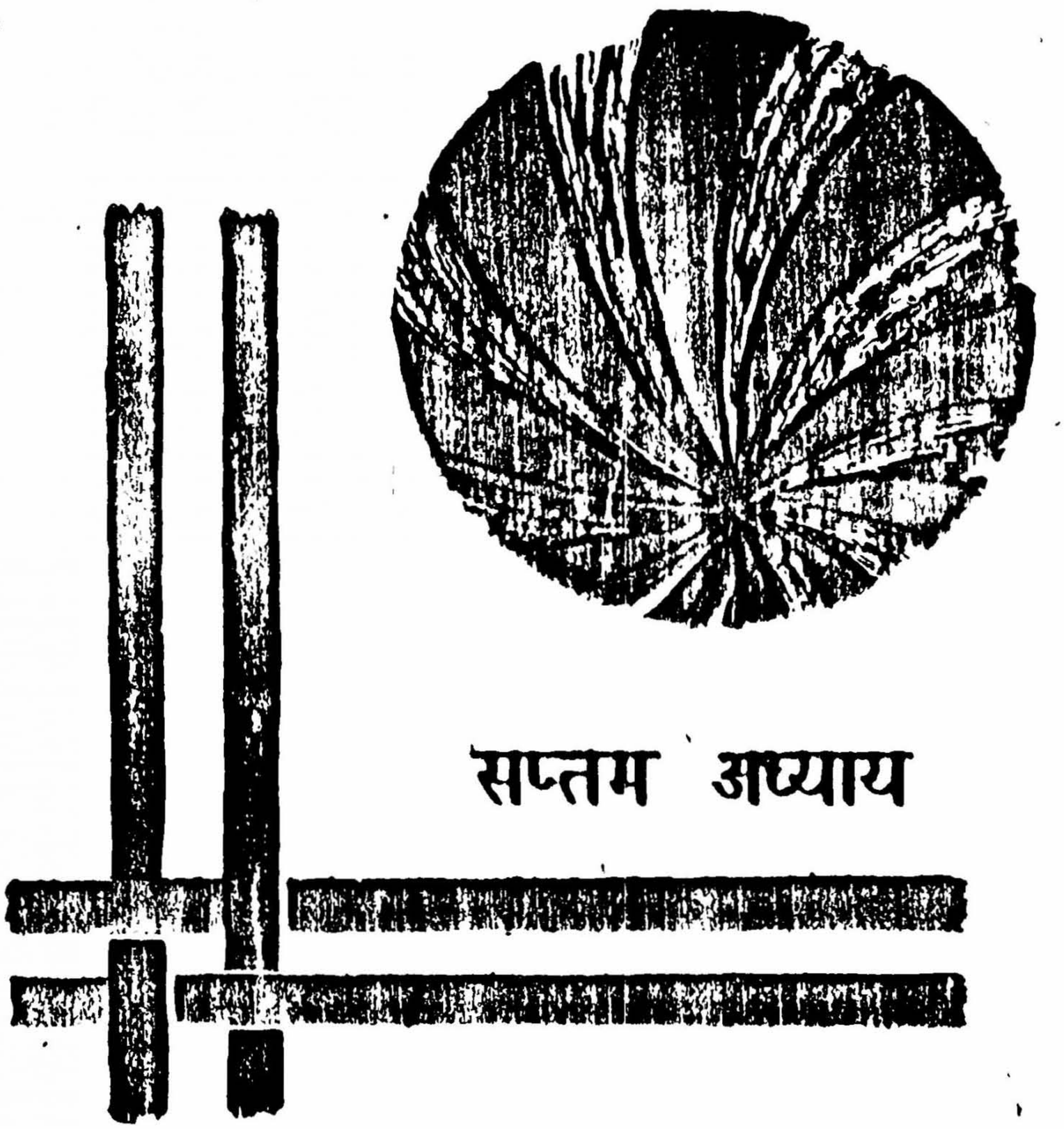

सप्तम अध्याय

सप्तम् अध्याय

7. बुद्धिजीवी वर्ग की प्रकृति और नियति

सप्तम अध्याय

बुद्धिजीवी वर्ग की प्रकृति और नियति

"लेकिन दरवाजा" का नायक नीलांबर अपनी नियति को स्वीकार करते हुए कहता है कि "मुझे देख रहे हो। मैंने अपनी स्वतन्त्रता का सौदा एक गुडिया, फ्रिज और मकान से कर लिया है। मैं अकसर डॉक्टर फॉस्टस की तरह अपनी बंधक आत्मा को छुड़ाने के लिए छटपटाता रहा हूँ, पर कहीं रास्ता नज़र नहीं आता। मैं साउंड-प्रूफ एयर-कंडीशंड कमरे में बन्द-सा हूँ, सर्दी--गर्मी से परे, बिना आकाश के, बिना हवा के, अपनी ही सिगरेटों के धुंए से घुटता।" §पृ. 258§ वस्तुतः यह केवल नीलांबर की नहीं बल्कि समूचे बुद्धिजीवी वर्ग की नियति जान पड़ती है। स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का जैसा चित्रण किया गया है उसके निष्कर्ष रूप में हमारे सामने एक ऐसे महाकार विकट शक्तिशाली प्राणी का बिम्ब आता है जो अपनी दिशा न पहचानने के कारण अपनी ही शक्ति के वेग से एक अथाह खाई में उतरता चला जा रहा है। ऐसा क्यों है ? इन सवालों के जवाब इन्हीं उपन्यासों की केन्द्रीय वस्तु और इनके लेखकों के दृष्टिकोण में समाहित दीख पड़ते हैं। उपन्यास वास्तविकता का चित्र होता है, एक ऐसा चित्र जो यथार्थ का अंकन करने के साथ-साथ उसमें निहित सत्य का भी संकेत दे देता है। उपन्यास आधुनिक औद्योगिक और वर्ग-विभक्त समाज की उपज है। इसकी शक्ति और सम्भावना को देखते हुए इसे मध्यवर्ग का महाकाव्य कहा गया। उपन्यास प्रमुखतः मध्यवर्ग की सृष्टि है, मध्यवर्ग इस विधा के रचनाकार, पाठक और विषय-वस्तु तीनों ही केन्द्रों पर अवस्थित है। उपन्यास

के संदर्भ में मध्यवर्ग से तात्पर्य है -- बुद्धिजीवी वर्ग। यह बड़ी रोचक विडम्बना है कि जिस बुद्धिजीवी अर्थात् लेखक के द्वारा उपन्यास लिखा जा रहा है, वह इसके माध्यम से अपने ही वर्ग की विसंगतियों को उजागर कर रहा है। सवाल उठता है कि ऐसा वह जानबूझकर कर रहा है या अनजाने ? इन उपन्यासों के गहन विश्लेषण के बाद मुझे ऐसा लगता है कि बुद्धिजीवी वर्ग का यह चरित्र यथार्थ के दबाव के कारण अपने वास्तविक रूप में उभर कर आया है। रोचक बात यह है कि इन उपन्यासों के लेखक स्वयं भी उन्हीं दबावों से परिचालित हो रहे हैं, जिनसे की उनके उपन्यासों के चरित्रों का निर्माण हुआ है। एक तरह से इन उपन्यासकारों ने अपने चरित्रों के माध्यम से अपने ही जीवन-यथार्थ, अनुभव, अन्तर्विरोध, अन्त:संघर्ष और दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है इसीलिए बुद्धिजीवी वर्ग का यह चित्रण इतना स्वाभाविक और विश्वसनीय बन पड़ा है।

आलोच्य उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र को यदि हम रंगों और रेखाओं में चित्रित करना चाहे तो हम पायेंगे कि उनमें उजलापन बहुत कम है, अन्धेरे और गहरे रंग अधिक है, उनके चरित्र की रेखाएँ बड़ी ही कच्ची, ढुलमुल और बीच-बीच में टूटी हुई है। रंगों का यह अंधियारापन और रेखाओं की यह शिथिलता उनके अस्थिर स्वभाव और मलिन चरित्र का परिचय देती है। स्वार्थ, अवसरवाद, लोलुपता और महत्वाकांक्षा इसके कारण है। कभी-कभी ये सारे दुर्गुण उनकी विवशता से भी उत्पन्न हैं, लेकिन यह विवशता अभावजन्य नहीं, बल्कि अंधी महत्वाकांक्षा का परिणाम है। सवाल उठता है कि बुद्धिजीवियों का चरित्र ऐसा क्यों है और इसके लिए कौन से तथ्य जिम्मेदार है ?

बुद्धिजीवी वर्ग मध्यवर्ग की उपज है। मुख्यत: भारत में आधुनिकीकरण के अन्तर्गत औद्योगीकरण, आधुनिकताबोध, नई शिक्षा और राजनीतिक-आर्थिक दबावों ने इस वर्ग का निर्माण किया। अपनी प्रकृति में यह एक जड़हीन वर्ग

है जिसकी सहीं-सहीं वर्ग-स्थिति स्पष्ट नहीं है इसलिए इसका वर्ग चरित्र भी सुस्पष्ट नहीं है। इस बात की बहुत ही संगत व्याख्या करते हुए डॉ. धनंजय वर्मा लिखते हैं कि "आमतौर पर बुद्धिजीवी और रचनाकारों का अपना कोई "वर्ग" नहीं होता। अधिक-से-अधिक वह एक स्तर (स्ट्राटा) होता है। वे मौजूदा सामाजिक संरचना और स्थिति के अनुसार अलग-अलग वर्गों से आते और सम्बद्ध होते हैं। उनकी विचारधारा और मानसिकता की वे हिमायत करते और उनसे प्रेरित होते रहते हैं। हमारी मौजूदा सामाजिक संरचना में दो किस्म के बुद्धिजीवी और रचनाकार देखे जा सकते हैं, एक वे जो गाँवों, कस्बों या छोटे नगरों और जनता स्कूलों या कॉलेजों और मध्यवर्गीय या निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों से आते हैं। दूसरे वे जो सुविधा सम्पन्न और विशेष अधिकार वाले वर्ग से और पब्लिक स्कूल या विशेष संस्थानों से आते हैं और एक विशेष भद्रलोक के अंग होते हैं। चूँकि यह वर्ग अपनी स्थिति के कारण समाज और उसकी गतिविधियों में नियामक भूमिका अदा करता है, उसके प्रभुत्व और विशेष स्थिति के आकर्षण में बंधी पहली किस्म उनकी-सी भाषा ही नहीं लिखती बोलती बल्कि उनकी मानसिकता भी जीने लगती है कि प्रतिष्ठा का राजमार्ग उन्हीं के बीच से होकर जाता है। चूँकि उसकी तथाकथित शिक्षा भी उसे अपनी जड़ों और ज़मीन से कटना ही सिखाती है कि एक सामाजिक संरचना में सारे अनुशासनों को अधिकार सम्पन्न वर्ग अपने हित में ढ़ालने की साजिश में मुब्तिला होता है। उसका एक दोग़ला और दो मुँह चरित्र बनता है। टॉमस मेन ने जर्मन मध्यम वर्ग के बारे में जो टिप्पणी की थी, वह हमारे संदर्भ में भी सहीं उतरती है कि वह सर्वहारा में शामिल और उसका भागीदार होने को तैयार नहीं है। चूंकि रचना, उसकी आस्था और प्रतिबद्धता का मामला नहीं है, वह उसे "कैरियर" मानकर उसका सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करता हुआ उन्हीं भद्रलोकी मुहावरों में बंधा, अपनी वर्ग चेतना तो छोडिए, अपने वर्ग से सम्बद्धता और

अपनी स्थिति चेतना को भी छोड़ता जाता है। वह भी उसी वर्ग विचारधारा का हिमायत करता हुआ, रचना की सामाजिकता और उसकी सामाजिक भूमिका को प्रचारवादी कहता हुआ सौन्दर्य शास्त्रीवादी बुर्जुआ धारणा की तरह उसे अपना व्यक्तिगत मामला बनाना चाहता है। इसीलिए उसकी रचना में प्रामाणिक अनुभव की ही कमी होती, वह "पीड़ाभरी विवेक दृष्टि" भी गायब होती है जो उसकी अलग पहचान करा सकती।" §आलोचना का रचनाशास्त्र§ यह विश्लेषण बेबाक होते हुए भी कई सूक्ष्म और संवेदनशील प्रश्न उठाता है। रचना के स्तर पर इस बात को लेखकों ने बहुत पहले से ही उठाना शुरू कर दिया था। प्रेमचंद की विचारधारा में आदर्शवाद के सारे तत्वों के बावजूद उन्होंने अपने उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का बढ़ा यथार्थ चित्रण किया है। गबन, गोदान या मंगलसूत्र चाहे कोई भी उपन्यास उठाकर देखिए, इसमें बुद्धिजीवी वर्ग के कई चरित्र अपनी प्रामाणिकता में उल्लेखनीय है। "मंगलसूत्र" का केन्द्रीय चरित्र बुद्धिजीवी लेखक का चरित्र है और उसकी परिणति क्या होती यह कहना मुश्किल है। आगे चलकर इस वर्ग को बड़े तीखेपन के साथ चित्रित किया मुक्तिबोध ने। अपनी रचनाओं और आलोचनाओं में इस वर्ग पर मुक्तिबोध बार-बार कटाक्ष करते हैं और इसके कारणों की भी विवेचना करते हैं जैसे "ब्रह्मराक्षस का शिष्य" कहानी में इस प्रतीक का उपयोग उन्होंने अभिशप्त बुद्धिजीवी के लिए किया है। "विपात्र" बुद्धिजीवी के मानसिक संसार की तस्वीर है। यह संसार इस वर्ग के खोखलेपन, संकल्पहीनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता, बेचारगी, बौद्धिक और संवेदनात्मक पुसंकत्वहीनता से मिलकर बना है। इसके मूल में आत्मावलोकन और आत्मालोचन की अन्तर्मुखी यात्रा है। वे बहुत वेदना के साथ इस वर्ग के साथ अपने को एकाकार करते हुए लिखते हैं कि "वास्तविकता यह है कि अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से पूंछ हिलाते हैं। मेरा भी पूंछ हिलाने का अपना

तरीका है।" इसी बात को हमारे आलोच्य उपन्यास "लेकिन दरवाजा" का नायक नीलांबर दूसरे शब्दों में कहता है जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। स्पष्ट है कि मुक्तिबोध से लेकर पंकज बिष्ट, सूर्यबाला की लेखन यात्रा में बुद्धिजीवी वर्ग का चरित्र नहीं बदला बल्कि इसका संकट अधिक गहन हो गया है। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों है ? इसका जो एक उत्तर मेरी समझ में आता है, वो है विभक्त-चेतना। यह रोग वही है जिसका चित्रण करते हुए और जिसका समाधान खोजने के क्रम में जयशंकर प्रसाद ने "कामायनी" की रचना की थी। यहाँ पर कामायनी की उन चर्चित पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ कि --

"ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा पूरी क्यों हो मन की ।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विड़म्बना जीवन की ।।

अपनी दार्शनिक आध्यात्मिक प्रतिप्रास्तयों के बावजूद कामायनी की यह स्थापना आज भी प्रासंगिक और ठोस भौतिक जीवन से निष्पन्न है, आज भी यह विचारणीय है। इसी आधार पर बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने बताया है कि इस अध:पतन का कारण है ज्ञान और क्रिया के बीच दूरी। बुद्धिजीवी की तस्वीर खींचते हुए "एक लम्बी कहानी" में वे बताते हैं कि "प्रोफ़ेसर साहब, जिनके घर में सब लोग बैठे हुए हैं, एक बुद्धिजीवी अहिंसावादी, अन्तर्मुखी, उच्चवर्गीय, श्रिष्ट है। साहित्य में उनका काफी अच्छा दखल है। अभिरुचि में छिछोरेपन से दूर, बुद्धि में तर्कवाद से दूर, संसार की उलझनों में कठिनाइयों से दूर, सुखी गृहस्थ है।" ज्ञान क्रियाशून्य होने से निरर्थक हो जाता है और दिशाहीन या दिशाभ्रष्ट क्रियाज्ञान को विध्वंसक बना देती है। आज के

उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी वर्ग की विड़म्बना का कारण यही है। वह ऊँचे-ऊँचे सपने देखता है, उसके मध्यवर्गीय संस्कार उसे आई.ए.एस. अफसर से कम का लक्ष्य नहीं देते लेकिन वह अधिकतर क्लर्क ही बनकर रह जाता है। यह कुंठा उसे आजीवन सालती रहती है। "लेकिन दरवाजा" में नीलांबर सफलता के भौतिक प्रतिमानों के पीछे दौड़ता रहता है। यह तो हुई लेखक की स्थिति। बुद्धिजीवी पत्रकार जो कि यथार्थ का दावेदार और सच्चाई का समर्थक माना जाता है वह भी इन्हीं प्रतिमानों के पीछे पागल है। "अंधेरे बंद कमरे" व "नगर पुत्र हंसता है" से लेकर "लेकिन दरवाजा" तक पत्रकारों की इस प्रकृति को अनेक तरीकों से बताया गया है। "अंधेरे बंद कमरे" में गजानन मधुसूदन से कहता है "आज तक जिन-जिन लोगों की मैंने प्रशंसा की है, वे सब मेरे प्रतिद्वन्द्वी है और जिन-जिन लोगों की मैंने निंदा की है, वे सब आज मेरे दुश्मन है।" (पृ. 296) वह अपने वर्ग चरित्र को स्वयं ही उघाडते हुए कहता है कि "अगर तुम्हारा सम्बन्ध इंटलेक्चुअल वर्ग से है, तो बड़ी-बड़ी डींगे मारो, विदेश में जाकर रहने के सपने देखो और अपने ओछे स्वार्थों को सिद्धान्त और दर्शन का रूप दे लो।"(पृ. 296) "क्यों फंसे" व "महाभोज" में पत्रकारों के चरित्र पर बहुत विस्तार से लिखा गया है जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। "लेकिन दरवाजा" इस चित्रण को और तेज कर देता है जैसे पत्रकार के स्वभाव को बताते हुए इसमें कहा गया है कि आज की पत्रकारिता यथार्थ की जगह स्कैण्डलों और सत्यकथाओं में सिमट कर रह गई है। इसके पीछे कारण है बुद्धिजीवी वर्ग की दोहरी मानसिकता और जड़हीन-चरित्र। जैसा कि बताया जा चुका है कि यह वर्ग साम्राज्यवादी पूंजीवादी शक्तियों के निहित स्वार्थों के कारण एक योजनाबद्ध प्रक्रिया के अन्तर्गत, अस्तित्व में आया। यह उसी प्रकार शोषण का शिकार है जिस प्रकार कि निम्न वर्ग होता है। लेकिन

बुद्धिजीवी वर्ग हमेशा अपने से ऊँचे वर्ग में मिलने की कोशिश करता है। चाहे वो "भगोड़ा" का नायक हो या "लेकिन दरवाजा" का नीलांबर। नीलांबर कहता है कि "मैं पिछले आठ-दस वर्षों से जिस समाज में घुसने का प्रयत्न कर रहा हूँ, वहाँ लोग मेरी शकल और स्मार्टनेस की तारीफ करते हैं। मेरी बीवी मुझे एक बबुए की तरह प्रेजेंट करती है और यह सोच-सोचकर खुश होती जाती है कि देखो, मेरा खसम शुद्ध लाला नहीं, "इंटलेक्चुअल" और "हेंडसम" भी है।" (पृ. 249-280) उच्चवर्ग का एक निश्चित आर्थिक आधार है अर्थात् सम्पन्न, सुविधाभोगी वर्ग। इसमें मिलने की कोशिश में नीलांबर को बार-बार आघात लगते हैं और वह अन्त में टूट कर रह जाता है। धन और सम्पन्नता की अपनी शर्तें हैं जिन्हें निभाने के लिए बुद्धिजीवी को अपना इंटलेक्चुअल और संवेदनशील होने का दावा छोड़ना पड़ता है। वह छोड़ना नहीं चाहता और इसी ऊहा-पोह में उसका व्यक्तित्व टूटता चला जाता है। नीलांबर देवेन से कहता है कि "बीइंग रिइयूस्ड टू ए स्टैड बुल इज़ डिग्रेडिंग। जिसे इसलिए खिलाया-पिलाया जाता है जब जरूरत हो, उसके शरीर का भरपूर उपयोग हो सके। यहाँ जीवन का अर्थ तीन चीजों की संतुष्टि है -- जीभ, पेट और सेक्स। हम वापस असभ्यता की ओर बढ़ रहे हैं ...जानवरों से प्रतिद्वन्द्विता करने।"... "वह चाहती है कि मैं पढ़ने-पढ़ाने का धंधा छोड़ दूँ," क्यों ? "उसका मानना है कि मानसिक थकन, शारीरिक थकन से कहीं अधिक पंगु बनाने वाली है और ज्यादा पढ़ने-लिखने से मैं संभोग के लायक नहीं रहता।" (पृ. 280) बुद्धिजीवी निम्नवर्ग के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति रखता है। अपने को उससे ऊँचा और विशिष्ट दिखाना चाहता है। उसकी उच्च भावना (सुपिरियारिटी कॉम्पलेक्स) उसे निम्न वर्ग से मिलने नहीं देती। उच्च वर्ग को लेकर उसके भीतर विचित्र हीन भावना है जो अनावश्यक अहंकार के रूप में प्रकट होती है। जैसे "एक इंच मुस्कान" का अमर जब पाता है कि उसकी पाठिका अमला तो उच्चवर्ग की है तो वह विचित्र से हीन भाव

से ग्रस्त हो जाता है। मजेदार बात यह है कि उच्च और निम्न वर्ग के बीच त्रिशंकु बना यह बुद्धिजीवी वर्ग स्वयं अपने सह-वर्गियों के साथ मिलना नहीं चाहता। इसका विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध "विपात्र" में बताते हैं कि लेखक दो प्रकार के फासलों की कल्पना करता है। "हम अपनी ऊँचाई पर खड़े होकर नीचे वालों से फासला रखते हैं और समतल मैदान पर खड़े होकर अपने जैसे दूसरे लोगों से।" (पृ. 60) इस प्रकार अपने ही वर्ग में वह प्रतिस्पर्धा का शिकार है।

अब प्रश्न उठता है कि बुद्धिजीवी वर्ग की इस चारित्रिक विसंगति का कारण क्या है ? यह ठीक है उसकी चेतना विभक्त है लेकिन इस विभक्त चेतना के लिए जिम्मेदार कौन है ? मेरे विचार में, और मुक्तिबोध का यह कथन मेरे विचार को अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत कर सकता है कि एक वर्ग-विभक्त समाज में व्यक्ति का मन भी विभक्त हो जाता है। लेखक के रूप में तो यह विभाजन बहुत संघातक हो जाता है। मुक्तिबोध ने जिस ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की बात उठाई है उसके पीछे यही मान्यता है कि लेखक के संवेदन, ज्ञान और लेखन कर्म में अपेक्षित तारतम्य होना चाहिए। खंडित ज्ञान खंडित दृष्टि देता है और खंडित दृष्टि से उत्पन्न रचना की संवेदना भी खंडित ही होगी। इस विखण्डन का कारण निश्चय ही उस सामाजिक व्यवस्था में निहित है जिसमें रहते हुए लेखक का व्यक्तित्व निर्मित होता है। इसलिए उन शक्तियों और उन प्रक्रियाओं की जाँच-पड़ताल करना होगा जो बुद्धिजीवी चरित्र के निर्माण में केन्द्रीय भूमिका सम्पन्न कर रही है। ये शक्तियाँ औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न प्रलोभन, आकर्षण और ऐसे अनेक प्रकार के महत्वाकांक्षापूर्ण आयोजनों का एक अन्तहीन क्रय बना देती है जिसके शिकंजे में

फंसकर बुद्धिजीवी वर्ग इस असहाय परिणति को प्राप्त हो रहा है। जैसाकि पहले विवेचित किया जा चुका है कि साहित्य-सृजन की मूल प्रवृत्ति हमेशा अपने आश्रय केन्द्रों के अनुसार बदलती रही। धर्माश्रय में साहित्य को एक प्रकार से ढ़ाला, राज्याश्रय ने दूसरे प्रकार से और लोकाश्रय ने तीसरे प्रकार से। औद्योगिक पूंजीवाद के आगमन के साथ साहित्य में जिस व्यावसायिकता का प्रवेश हुआ उसके कारण साहित्य का नया आश्रय केन्द्र बना - प्रकाशन । इसके साथ ही जुड़े बड़े-बड़े प्रतिष्ठान जो कि व्यक्तिगत और सरकारी दोनों ही स्तरों पर सामने आते हैं। इसी के भयावह संकट को लक्ष्य करते हुए कार्ल मार्क्स ने कहा था कि लेखक को लिखने के लिए जीना चाहिए ना कि जीने के लिए लिखना। अर्थात् लेखक को कभी अपना लेखन अपनी आजीविका के रूप में नहीं अपनाना चाहिए क्योंकि इससे उसकी लेखनी शर्तों से बंध जाती है। इसी बात को अपने अनुभव के स्तर पर उतारते हुए प्रेमचंद ने लिखा था कि "यदि सरकार हमारे बाल-बच्चों की परवरिश का भार अपने ऊपर ले ले तो हम लिखने के लिए स्वतन्त्र और निश्चिंत हो सकते हैं।" अपने आरम्भिक उपन्यास "वरदान" में भी वे लिखते हैं -- "जब तक हम अपने साहित्य सेवियों का ठोस सत्कार करना नहीं सीखेंगे, साहित्य कभी उन्नति नहीं करेगा।" प्रेमचंद का यह सपना औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था में कभी पूरा नहीं होगा। लेखक एक मनुष्य होता है और अपनी आजीविका के लिए वह लेखन को न भी अपनाये, उसके मार्ग में व्यवस्था ऐसी अड़चनें पैदा कर देगी कि वह समझौता या विद्रोह में से किसी एक को चुनने के लिए मजबूर हो जाएगा। अधिकतर लोग समझौता ही चुनते हैं। बात केवल जीवन-निर्वाह की नहीं है, इस व्यवस्था में सफलता एक चरम मूल्य है जिसे पाने के लिए कई पड़ावों से गुजरना पड़ता है। विसंगति यह है कि व्यक्ति जितना उसके पीछे दौड़ता है वह उतना ही आगे खिसकते जाती है। परिणाम होता है

एक अंतहीन दौड़ और एक अंधी प्रतिस्पर्धा। आलोच्य उपन्यासों के सभी चरित्र इस दौड़ के शिकार है। यह प्रतिस्पर्धा ऐसी है कि यह इन चरित्रों के सकारात्मक पक्ष को भी नकारात्मक रूप में बदल देती है। कुल मिलाकर लोभ और भय ये दो प्रवृत्तियाँ हैं जो बुद्धिजीवी वर्ग को एक अंधी दौड़ में शामिल बनाए रखती है। लोभ है सफलता का। यश, धन, भौतिक-सुख सुविधाओं और अमरत्व का लोभ। भय है सत्ता के कोप का, अभाव का, भूखमरी का। "लेकिन दरवाजा" के बुद्धिजीवी नीलांबर के शब्दों में "मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि इन पुरस्कारों की प्रतीक्षा में जीवन के अमूल्य वर्ष बर्बाद कर दिये जाये या मुक्तिबोध और निराला की तरह भूख, हताशा और पागलपन में मरा जाये।"(पृ. 215)

लेकिन सारा दोष व्यवस्था पर डाल देने से बात खत्म नहीं हो जाती क्योंकि आज के सामाजिक जागरण के युग में व्यवस्था के बनाने वाले भी तो बुद्धिजीवी ही है। "संसद से सड़क तक" बुद्धिजीवियों का ही फैलाव है। तब ? जाहिर है कि इस विसंगति के लिए बुद्धिजीवी वर्ग स्वयं भी बड़ी सीमा तक जिम्मेदार है और इसे समझने व स्वीकार करने के क्रम में ही हमारे आलोच्य उपन्यासों का बुद्धिजीवी चरित्र सामने आया है। जब लेखक यह सोचता है कि मेरे लिखने का औचित्य क्या है, साहित्य की सार्थकता क्या है ? --- तब वह प्रकारान्तर से जीवन और रचना, समाज और साहित्य के बुनियादी सरोकारों की पड़ताल कर रहा होता है। ज्याँ पाल सार्त्र ने स्वीकार किया था कि "एक लम्बे काल तक मैंने अपनी कलम को तलवार समझा। अब मैं महसूस करता हूँ कि हम कितने असहाय है।" इसी तरह उर्दू

के प्रसिद्ध कवि फिराक गोरखपुरी के शब्दों में "क्या वजह है हम शायरों-अदीबों की इज्जत करते हैं ? कोई मुसीबत किसी ग़ज़ल के लिखने से दूर नहीं होती। जो कारबारी जिन्दगी की जरूरत पूरी करता है, वह बहुत बड़ी कमी पूरी करता है। हम रह तो नहीं सकते बे-रोटी के।" साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर उठाये गये सवालों का जवाब स्वयं देते हुए सार्त्र लिखते हैं कि "इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं लिख रहा हूँ, मैं पुस्तकें लिखूँगा, उनकी जरूरत है, उनका फिर भी उपयोग है, साहित्य मनुष्य की रचना है। वह इसके जरिये स्वयं को प्रक्षेपित करता है और इसमें अपने आपको पहचानता है, मात्र यह आलोचनात्मक दर्पण उसे अपना रूप दिखाता है।" इसी तरह फिराक भी स्वीकार करते हैं कि "हम रह तो नहीं सकते बे-रोटी के। लेकिन हम अपनी जिन्दगी का शऊर हासिल करना चाहते हैं। कवि हमें यह शऊर देता है। इससे हमारा परिचय कराता है। ...वजूद में हर समय बासी होने का डर रहता है। शायरी उसे बासी नहीं होने देती। ...शायरी हमारी इंसानियत वापस कर देती है। जिससे हम ज़मीन को अपना सके, उससे लिपट सके।" इस तरह साहित्य मनुष्य के होने को अर्थ देता है। लेकिन साहित्य का यह उद्देश्य तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि साहित्यकार अपने "होने" का अर्थ नहीं समझे। इसके लिए जरूरी है कि वह अपनी वर्ग-स्थिति को समझे और सत्य को पहचाने कि उसकी नियति उच्च वर्ग के पीछे दौड़ने की नहीं है, अपने वर्ग से मुख मोड़ने, पलायन करने या घृणा करने में नहीं है बल्कि निम्नवर्ग के साथ मिलकर इस वर्ग समाज में शोषण के खिलाफ संघर्ष करने में है। मुक्तिबोध के शब्दों में "मुक्ति अकेले में, अकेले को नहीं हो सकती। मुक्ति अकेले में अकेले को नहीं मिलती।" उसे यह समझना है कि वह भी निम्न वर्ग के समान शोषण का शिकार है। इसके खिलाफ जब तक वह संघर्ष नहीं करेगा तब तक उसकी असहाय नियति बदलेगी नहीं। आलोच्य उपन्यासों में इस बुद्धिजीवी चरित्र को

ही उसकी सारी कमजोरियों, कमियों, विवशताओं, शक्तियों और विसंगतियों के साथ चित्रित किया गया है। इन उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग की प्रकृति और नियति का यही बिम्ब हमारे सामने आता है। बुद्धिजीवी चरित्र की नकारात्मक प्रवृत्तियों को भी इसी सकारात्मक परिणतियों के साथ देखा जाना चाहिए।

उपसंहार

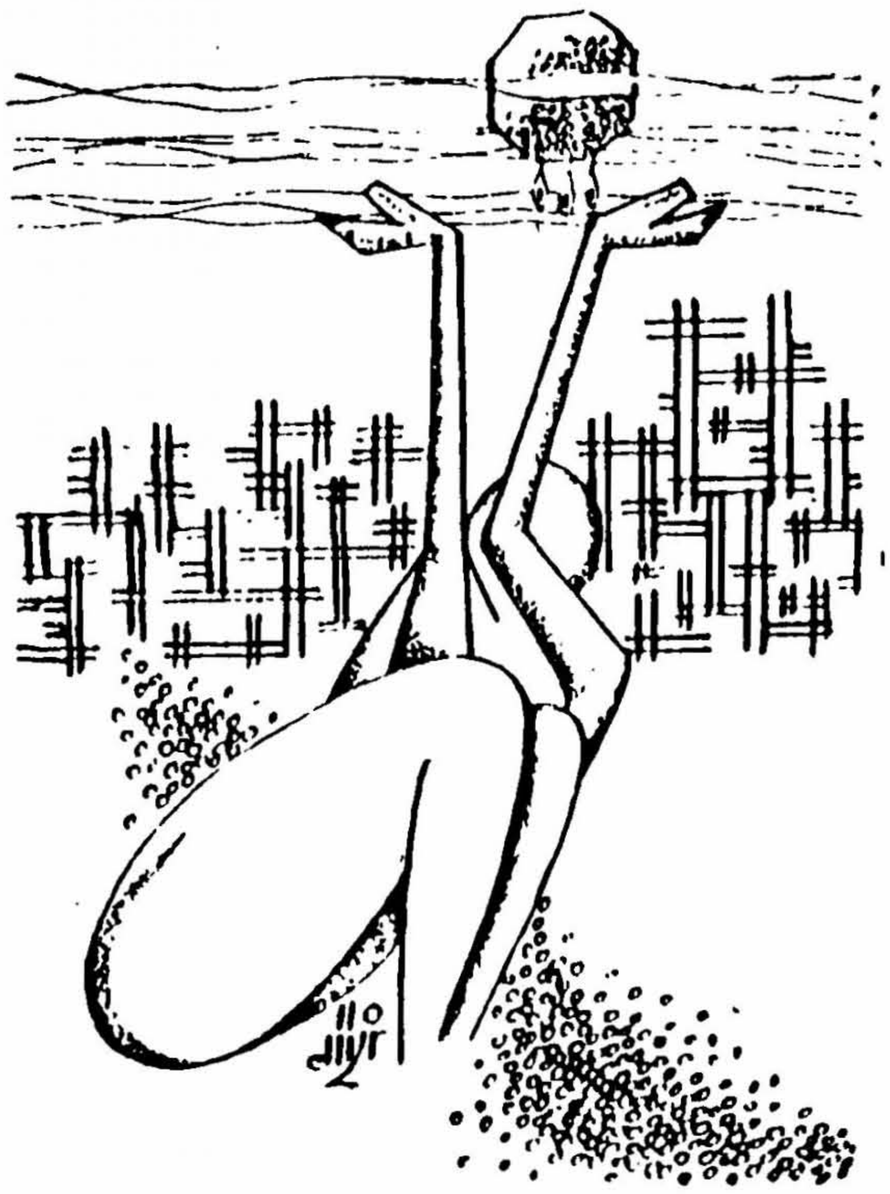

उपसंहार

आधुनिकता की दिशा में अग्रसरित होने की प्रक्रिया को आधुनिकीकरण कहते हैं। प्राचीन व पारम्परिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तन तथा नये मूल्यों व आस्थाओं का प्रकाश में आना ही आधुनिकीकरण है। आधुनिकीकरण के अन्तर्गत कुछ परिवर्तनों को सम्मिलित किया जा सकता है जैसे शहरीकरण, औद्योगीकरण, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था व सामाजिक संरचना में परिवर्तन, साक्षरता का प्रसार, तर्क बुद्धि का विकास व वयस्क मताधिकार आदि।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक मूलभूत परिवर्तन हुए। ग्रामीण उदयोग-धन्धों तथा कृषि-व्यवसाय के नष्ट होने के साथ-साथ वहाँ की सामाजिक वर्ग-संरचना में परिवर्तन हुआ परिणामस्वरूप औद्योगीकरण का प्रसार और शहरों का विकास हुआ। गाँव से निकलकर लोग शहरों की ओर रोज़ी-रोटी की तलाश में बढ़े और वहाँ बड़े-बड़े मिलों व कारखानों में काम करने लगे; वे अपने साथ पत्नी व बच्चों को ले आये जिससे संयुक्त परिवार टूटने लगे और उनके स्थान पर एकल परिवारों का उदय हुआ। इस तरह समाज में एक नया श्रमिक-मजदूर वर्ग

बना तो दूसरी ओर शिक्षा प्राप्त लोगों द्वारा शहरों के अनेक कार्यालयों में कार्य किया जाने लगा, कुछ लोग व्यापार-धन्धे करने लगे।फलस्वरूप एक विस्तृत मध्यवर्ग का निर्माण हुआ। चूंकि भारत में यूरोप का आगमन औद्योगिक साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का आगमन था जिसके कारण यहाँ की सामाजिक संरचना में मध्यवर्ग केन्द्रीय शक्ति के रूप में उदित हुआ। यही मध्यवर्ग बुद्धिजीवी वर्ग की जन्म भूमि है। बुद्धिजीवी वर्ग की प्रमुख आधार-भूमि और क्रीड़ास्थली नगर-जीवन है। इस बुद्धिजीवी वर्ग की सीमाएँ ऊपर उच्च वर्ग तक और नीचे निम्न वर्ग तक पहुँचती हैं। इसके अन्तर्गत ऐसे व्यावसायों और कौशलों से जुड़े समूहों और सदस्यों को रखा जा सकता है जिनमें बौद्धिक श्रम की ज़रूरत होती है। भारत में इस वर्ग के विकास में प्रमुखतः तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहीं -- ईसाई मिशनरी, अंग्रेज़ी प्रशासन व पाश्चात्य शिक्षा तथा सामाजिक नवजागरण। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में इस वर्ग ने प्रगतिशील भूमिका निभाई और आन्दोलन का नेतृत्व किया लेकिन इसके साथ ही अंग्रेज़ों के समर्थक नौकरशाहों और धनाढ्य उच्च वर्ग के रूप में इस वर्ग का दूसरा भी पक्ष उद्घाटित हुआ जो यथास्थिति को बनाये रखने में ही अपना लाभ देख रहा था। इस प्रकार इस वर्ग का चारित्रिक अन्तर्विरोध गहरा होता गया और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस वर्ग का जो चरित्र निर्मित हुआ उसमें प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता, संघर्षशीलता और आरामतलबी, त्यागशीलता और स्वार्थपरता, आदर्श और अवसरवाद के विरोधी सूत्र दिखाई देते हैं। कहने की आवश्कता नहीं कि व्यवस्था के द्वारा शोषित होने के क्रम में इस वर्ग का चरित्र निर्मित हो रहा है और आज देश के प्रजातांत्रिक जीवन में इस वर्ग की निर्णायक भूमिका है।

द्वितीय अध्याय में स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग की प्रस्थिति और भूमिका पर विचार करना आवश्यक हो गया क्योंकि स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत भारत में बुद्धिजीवी वर्ग का जो दोहरा चरित्र- आदर्शवादी और अवसरवादी; प्रगतिशील और प्रतिगामी-स्पष्ट हुआ था उसी का विकास और विस्तार स्वातन्त्र्योत्तर भारत में हुआ। इसीलिए राजनैतिक-आर्थिक घटनाक्रम के विश्लेषण से पता चलता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद व्यवस्था में और इस व्यवस्था के द्वारा अनुशासित बुद्धिजीवी वर्ग में दो पक्ष उभरे। मेरा मतलब यहाँ नेताओं और शासित जनता से है। नेताओं के दोहरे चरित्र ने शासित सफ़ेदपोश जनता में भी दोहरे मूल्यों को बढ़ावा दिया और इसका परिणाम निकला -- खोखले, दिग्भ्रमित वातावरण में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष के रूप में। सामाजिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद बढ़ने लगा, परिवार टूटा, इसके साथ ही मनुष्य की समन्वित मानसिकता भी टूटी। सामाजिक संरचना में बदलाव के कारण मध्यवर्ग का विकट महाकार सामने आया जिसमें आदर्श और यथार्थ, त्याग और स्वार्थ, नैतिकता और अनैतिकता का अन्तर्द्वन्द्व उभरने लगा। इसके कारण दोहरी मूल्य-व्यवस्था और दोहरा चरित्र सामने आया। बुद्धिजीवी वर्ग के आगे अस्तित्व के लिए संघर्ष का प्रश्न प्रमुख हो गया। यह प्रश्न दो स्तरों पर था -- एक जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संघर्ष और दूसरा भौतिक सुविधाओं और सफ़लताओं के मानदण्डों के पीछे अंधी-दौड़ के रूप में। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवी वर्ग की जो कमज़ोरियाँ और सबलताएँ हैं और उनमें जो चारित्रिक अन्तर्विरोध दिखलाई देते हैं उसके लिए यही जड़हीन नागरिक सभ्यता से बंधा-घिरा विकास ही जिम्मेदार है। स्वतन्त्रता के बाद हमारा देश एक भूतपूर्व उपनिवेश तथा

नव्यराष्ट्रीय देश हो गया। देश को पूंजी की ज़रूरत थी, आर्थिक विकास की आवश्यकता थी तथा सामाजिक रूपान्तर की दिशा चाहिए थी। इसके लिए नेहरू जी के नेतृत्व में उदार प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा और मिश्रित अर्थतन्त्र (मिक्स्ड इकोनॉमी) का विकास शुरू हुआ। विभिन्न आर्थिक-सामाजिक दबावों के कारण परिवार खंडित हुए, शहरीकरण बढ़ा, आर्थिक दबाव घनीभूत हुए और "शब्द" की ताक़त बढ़ी। यह शब्द मुद्रित होने के कारण बुद्धिजीवी वर्ग प्रबल हुआ। एक ओर विभिन्न राजनैतिक-आर्थिक संगठनों से जुड़ने के कारण इनकी उपयोगिता में वृद्धि हुई और दूसरी ओर व्यवस्था के क्रूर हथकंडों के कारण इनमें असुरक्षा-बोध और आत्म-निर्वासन की प्रवृत्ति बढ़ी। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ने वाली व्यावसायिकता के कारण इनकी स्थिति लोभ और त्याग के विचित्र अन्तर्विरोध में जकड़ गयी। इस बात का बहुत बढ़िया विश्लेषण करते हुए डॉ. रमेश कुन्तल मेघ लिखते हैं कि "हमने एक और भी विचित्र ढंग का आत्म-निर्वासन पाया है, जो कि प्रजातांत्रिक ढाँचे में एक ही दल के बीस साल तक सत्तारूढ़ होने तथा सर्वशक्तिशाली हो जाने से उत्पन्न हुआ है। हम इसे नैतिक बल का चूर हो जाना (डिमॉरेलाइजेशन) कहेंगे। अनेक प्रकार के त्याग करने और कष्ट सहने के बाद भी कई क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों ने आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी अपने को अकेला, अपने आदर्शों को अधूरा और अपनी विचारधारा को चिरजीवंत पाया। उन्होंने यह भी देखा कि अवसरवादी शक्ति को संचित कर के समाज की चेतना को कुंठित कर रहे हैं और सच्चे लगन वाले व्यक्ति सब गंवा बैठे हैं। कार्यनीति (टैक्टिक्स) की पकड़ की कमी तथा मानवीय गुणों में अत्यधिक आस्था की वजह से वे सामूहिक अभियानों के बिना ही सामाजिक न्याय की प्रत्याशा करते हैं। यह कुछ न होने पर उनका नैतिक बल टूट गया है। अब वे केवल व्यंग्य और कटुता से भरे हुए निष्क्रिय-से

बुद्धिजीवी हो गये हैं।" (पृ. 238) लेकिन स्थिति सर्वत्र ऐसी निराशाजनक नहीं है। "शब्द" इनके हाथ में एक ताक़त बना है और जिन्होंने इस ताक़त के सही सामाजिक सरोकारों को पहचाना है उन्होंने इस ताक़त का सही इस्तेमाल भी किया है।

तृतीय अध्याय में स्वातन्त्र्य-पूर्व हिन्दी उपन्यासों में यह देखना आवश्यक हो गया कि इनमें बुद्धिजीवी वर्ग की प्रस्तुति किस प्रकार हुई है। हमारे देश की अर्ध-सामंतवादी और अर्ध-पूंजीवादी व्यवस्था के कारण बुद्धिजीवी के चरित्र में हमें आदर्शवाद और अवसरवाद, त्यागशीलता और स्वार्थपरता, प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता की दोहरी मानसिकता दिखाई देती है। हिन्दी के पहले उपन्यास "परीक्षा गुरु" से ही बुद्धिजीवी वर्ग के चारित्रिक दोहरेपन व विसंगतियों के रंग दिखाई देने लगते हैं। स्वातन्त्र्य-पूर्व उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी का चारित्रिक अन्तर्विरोध वास्तव में भारतीय जीवन में उभर रही तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का अन्तर्विरोध है जिसकी ओर प्रस्तुत प्रबन्ध के आरम्भिक अध्याय में संकेत किया गया है। लक्ष्य करने की बात यह है कि स्वातन्त्र्य-पूर्व उपन्यासकारों ने न केवल अपने समय में अस्तित्व पा रही इस व्यवस्था के मनुष्य-विरोधी रूप को पहचाना और उसे अपनी रचनाओं में उतारा बल्कि अपने चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में उन सूत्रों की ओर संकेत भी किया है जो चरित्रों की प्रस्तुत परिणति के लिए उत्तरदायी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन उपन्यासकारों ने अपने पात्रों की चारित्रिक-दुर्बलता के लिए स्वयं पात्रों को कम और परिस्थितियों को अधिक उत्तरदायी ठहराया है, साथ ही वे

यह भी बताते हैं कि बुद्धिजीवी पात्र अपने आत्मबल से अपने पतन पर विजय पा सकते हैं। उदाहरण के लिए "गोदान" की मालती या "कायाकल्प" का चक्रधर। आदर्शवाद और अवसरवाद का अलग-अलग अथवा मिला-जुला चरित्र-विकास लाला श्रीनिवास दास से लेकर जैनेन्द्र कुमार और हिन्दी के अग्रणेता उपन्यासकार प्रेमचंद तक की प्रिय "विषय-वस्तु" (थीम) रही है। उदाहरण के लिए -- "परीक्षा गुरु" (लाला श्रीनिवास दास) के वकील ब्रजकिशोर या मास्टर शिंभू दयाल; "गोदान" (प्रेमचंद) के मेहता, मालती या खन्ना और ओमकारनाथ; "परख" (जैनेन्द्र कुमार) के बिहारी या सत्यधन। इस दोहरी मानसिकता का बहुत ही अच्छा चित्रण "मंगलसूत्र" के देवकुमार के अन्तर्द्वन्द्व में देखने को मिलता है। दुःख की बात यह है कि आदर्श पर स्वार्थ व अवसरवाद की ही विजय होती है इसीलिए जैनेन्द्र ने कहा है कि "बौद्धिक आदर्शवाद कभी कृतकार्य नहीं होता। उसका अन्त प्रतिक्रिया में होता है।" निष्कर्ष रूप में इसका कारण दिखाई देता है बेकारी, दरिद्रता तथा शिक्षा का व्यावसायीकरण। प्रेमचन्द ने शिक्षा के इस व्यावसायीकरण के बारे में कहा था कि यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए ग़रीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा बेच देने वाले छात्र निकलते हैं तो आश्चर्य क्या है ? अतः यह स्पष्ट है ऐसी शिक्षा जिस विराट व्यवस्था का अंग है वहाँ के बुद्धिजीवी चरित्र "गोदान" के खन्ना जैसे ही होंगे जो आत्मीय सम्बन्धों को भी रुपये के आगे तुच्छ समझते हैं। स्वातंत्र्यपूर्व हिन्दी उपन्यासों में प्रगतिशील विचारों वाले बुद्धिजीवी पात्रों का भी चित्रण किया गया है जो देश-प्रेमी व समाज-सेवी हैं, परम्पराओं, रूढ़ियों, कुरीतियों का विरोध करते हैं और समाज में नये मूल्य प्रस्थापित करते हैं उदाहरण "आत्मदाह" का सुधीन्द्र,

"कर्म भूमि" का अमरकान्त तथा "सुनीता" का श्रीकान्त आदि। इस प्रकार स्वातन्त्र्य-पूर्व उपन्यासकारों ने उन सभी कारणों की बारीकी से छानबीन की है जो बुद्धिजीवी वर्ग को पतन या उत्थान की ओर ले जाते हैं। इन औपन्यासिक पात्रों और प्रस्तुत प्रबंध के आरंभिक अध्यायों में विवेचित तात्कालीन पारिस्थितिक पृष्ठभूमि को मिलाकर देखने से एक बात स्पष्ट होती है कि ये पात्र अपनी परिस्थितियों के अनुरूप ही विविध वर्णी एवं विविध आयामी चरित्र हैं।

चतुर्थ अध्याय है -- "स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण : व्यावसायीकरण के परिप्रेक्ष्य में।" महत्वाकांक्षा तथा आर्थिक दबावों के कारण बुद्धिजीवी वर्ग में भी व्यावसायिक भावना अथवा व्यावसायिक दृष्टिकोण विकसित हो गया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के बुद्धिजीवियों में यह भावना चरम रूप से घर कर गई है। बुद्धिजीवियों में आई व्यावसायिक भावना या दृष्टिकोण के दो स्तर दिखाई देते हैं -- प्रथम स्तर पर ऐसे बुद्धिजीवी आते हैं जो आर्थिक रूप से सामर्थ्यवान व सक्षम होने पर भी अपने बौद्धिक कार्य को व्यवसाय का रूप दे चुके हैं, इसके लिए वे मास या जनता के लिए हर प्रकार का साहित्य रचते हैं। दूसरे स्तर पर आर्थिक रूप से कठिनाइयाँ व दिक्कतें उठाने वाले बुद्धिजीवी आते हैं जो अपनी दयनीय आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए ट्यूशन, अनुवाद और प्रूफ - रीडिंग जैसे अनेक कार्य करते हैं। आज स्थिति यह है कि अगर बुद्धिजीवी उपन्यासकार है तो वह उपन्यास लिखने से पहले उसे कहीं सीरियलाइजेशन करने का प्रयत्न करता है और यदि बुद्धिजीवी पत्रकार है तो वह भ्रष्ट-से-भ्रष्ट

सरकार के विरुद्ध लिखने की अपेक्षा सरकारी विज्ञापनों व काग़ज का कोटा प्राप्त करने हेतु उनका पक्ष लेता है। शिक्षालयों से जुड़े बुद्धिजीवी-शिक्षक ट्यूशनें करेंगे व पुस्तकों की टीका (कुंजी) लिखते हैं। इस तरह आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवियों में लेखन, शिक्षण आदि के प्रति व्यावसायिक बोध उत्पन्न हो गया है जिसे उपयोग में लाने से वे ज़रा भी नहीं हिचकते हैं। बुद्धिजीवी की ये व्यावसायिक बुद्धि और महत्वाकांक्षा उसे अन्य बुद्धिजीवियों से स्पर्धा और सफ़लता की अंधी दौड़ में शामिल कर देती है। उनकी महत्वाकांक्षाओं और जीवनाकांक्षाओं की लिस्ट लम्बी-चौड़ी है, वह अन्यों की तुलना में अधिक-से-अधिक सफ़ल होना चाहता है, भौतिक सुख-साधनों से सम्पन्न होना चाहता है तथा ज्यादा-से-ज्यादा ऊपर उठना चाहता है। चूंकि सफ़लता एक बुर्जुआ मूल्य है इसीलिए "नथिंग सक्सीडस् लाइक सक्सेस" के सिद्धान्त पर चलती पूंजीवादी व्यवस्था मनुष्य को एक अन्तहीन दौड़ में ढकेल देती है। और हमारे आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी इस सफ़लता की अंधी दौड़ में बुरी तरह शामिल हैं-वे किसी न किसी तरह अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाना चाहते हैं, अधिक से अधिक भौतिक सुख-साधनों को पाना चाहते हैं तथा सर्वोच्च स्थान पर पहुँचना चाहते हैं, चाहे वह लेखक, पत्रकार, प्रोफ़ेसर, प्राध्यापक, शिक्षक हो, या डॉक्टर, इंजीनीयर, मैनेजर हो या फिर बौद्धिक राजनीतिज्ञ ही हो। बुद्धिजीवी अपनी इन महत्वाकांक्षाओं के कारण नैतिक मूल्यों और आदर्शों को ठुकरा देता है जिसकी वजह से वह परम स्वार्थी, अवसरवादी तथा इर्ष्यालू हो जाता है। अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए वह उच्च वर्ग की तरह शोषक हो जाता है तो कहीं शोषक वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग का जिस तरह शोषण होता है उसी तरह वह भी बौद्धिक रूप से शोषित होने लगता है। इस तरह शोषण की प्रक्रिया में पड़ा हुआ यह बुद्धिजीवी शोषक

और शोषित -- दोनों ही भूमिकाएँ निभाता है। श्रमिकों की तुलना में बुद्धिजीवी को पता होता है कि उसका बौद्धिक व मानसिक शोषण हो रहा है, उसे अपने इस अपमान का भी बोध रहता है पर जैसे ही उसे भी अवसर मिलता है वह अन्य बुद्धिजीवियों का इसी तरह शोषण करने से चूकता नहीं। यहीं से बुद्धिजीवी के चरित्र में दोहरापन आ जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि बुद्धिजीवी वर्ग का जन्म ही दोहरे मापदण्ड, दोहरी नैतिकता तथा दोहरे चरित्र के साथ हुआ। अंग्रेज़ों की आधुनिक औद्योगिक प्रशासन नीति के अन्तर्गत जिस बाबू वर्ग का निर्माण हुआ था उसने स्वतन्त्रता-संग्राम के समय अपना दोहरा चरित्र प्रकट किया था -- एक प्रगतिशील और आदर्शवादी और दूसरा स्वार्थपरक और अवसरवादी। स्वतन्त्रता पाने के बाद बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र में इन दोनों पक्षों का विचित्र ताल-मेल स्थापित हुआ। अतः हमारे आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी दोहरे चरित्र, दोहरी नैतिकता तथा दोहरे मानदण्डों से ग्रस्त नज़र आते हैं -- एक वह आदर्शवादी और प्रगतिशील रूप जो वे स्वयं नहीं है लेकिन चाहते रहे हैं कि ऐसे हों और दूसरा वह यथार्थ रूप जो कि वे भीतर से हैं। बुद्धिजीवियों के चरित्र का यह अन्तर्विरोध उनके जीवन मूल्यों और जीवनाकांक्षाओं के बीच गहरी दरार डाल देता है चाहे वह "लेकिन दरवाजा" का नीलांबर हो या "रेत की मछली" का शोभन हो अथवा "शह और मात" की लेखिका सुजाता हो या फिर "काली आँधी" की संसद सदस्या मालती हो। इस तरह आलोच्य उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का चित्रण व्यावसायिक और भौतिकीकरण के परिप्रेक्ष्य में बहुत सटीक ढंग से हुआ है। व्यावसायीकरण के दबावों के अंतर्गत बुद्धिजीवी वर्ग की जीवनाकांक्षाएँ, महत्वाकांक्षाएँ, विवशताएँ और उसकी दुविधापूर्ण स्थिति का सूक्ष्म अंकन हुआ है और इन उपन्यासों के रचनाकारों ने स्पष्टत:

बुद्धिजीवी की इस दारुण यातना का कारण उसकी अपनी समझौतावादी, अवसरवादी और महत्वाकांक्षा व विवशता के आगे लड़ न पाने की दुर्बल नीति को बताया है।

पंचम अध्याय है -- "स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग : संवेदनशीलता का असाहचर्य।" आधुनिक तकनॉलोजी के परिणामस्वरूप श्रम (लेबर) तथा कार्य (वर्क) का श्रम की कृति (प्रॉडक्ट) तथा कार्य की प्रक्रिया (प्रासेस) के साथ कुछ ऐसी संगति बैठी कि मनुष्य ने अपने ही श्रम की कृति या उत्पाद्य (प्रॉडक्ट ऑफ लेबर) और कार्य की प्रक्रिया (प्रॉसेस ऑफ़ वर्क) पर अपना नियंत्रण खो दिया। अब उसका नियन्त्रण न तो कृति (उत्पाद्य) पर रहा और न प्रक्रिया पर। अतः अब श्रम और कार्य में तो जुटा रहा लेकिन श्रम के उद्देश्य तथा कार्य के उल्लास से वंचित हो गया। कार्ल मार्क्स ने इस प्रक्रिया को ऐलीयेनेशन या आत्मपरायापन कहा। आत्मपरायापन या ऐलीयेनेशन से प्रतिपन्न अमानवीयकरण (डी-ह्यूमनैजेशन) के तीन पक्ष सामने आते हैं। पहला पक्ष है -- पूंजीवादी व्यवस्था में कारीगर जो पैदा करता है वह उसकी अपनी वैयक्तिक रचना नहीं है। इस रचना के लिए वह स्वयं प्रयोजन या लक्ष्यों को निर्धारित नहीं करता। वह तो एक साधन या पुर्ज़ा मात्र है। दूसरा पक्ष है -- जहाँ रचना के अलावा प्रक्रिया भी पराई हो जाती है अर्थात कारीगर का कार्य और व्यवहार उसके द्वारा निर्धारित न होकर उत्पादन प्रणाली में उसकी सामाजिक स्थिति के द्वारा निर्धारित होते हैं। इसका तीसरा पक्ष है-- श्रम, आवश्यकताओं की तुष्टि न होकर उन आवश्यकताओं की तुष्टि का साधन मात्र हो जाता है जो बाहरी हैं। इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था में स्वभावतः

मानवीय एवं सृजनात्मक श्रम केवल जैविक आवश्यकताओं की तृप्ति का साधन बन गया है। इस विश्लेषण से हमें आधुनिक भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की मानसिकता और व्यवहार को समझने में आसानी होती है। भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से परिचालित ये बुद्धिजीवी चरित्र एक ओर तो सामन्ती मूल्यों, रूढ़ियों, परम्परागत दायित्वों और बन्धनों में जकड़े हुए हैं तो दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था की लाभमूलक प्रतिस्पर्धात्मक नीति उनका तेज़ी से अमानवीयकरण करती जा रही है। इन बुद्धिजीवियों का बौद्धिक श्रम उसी प्रकार पण्य वस्तु (कॉमोडिटी) है जिस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में कोई भी वस्तु होती है। किन्तु बुद्धिजीवी इसे समझकर भी इससे मुक्त होना नहीं चाहते। फलतः झूठा अहंकार, प्रदर्शनवृत्ति; मूल्यरक्षा का संकल्प, तथाकथित प्रगतिशीलता और बौद्धिक दम्भ इनकी संवेदनशीलता में दरार पैदा कर देता है। इसी प्रक्रिया को "संवेदनशीलता का असाहचर्य" कहा गया है। फलतः ये बुद्धिजीवी बुरी तरह शोषित होते हैं। भावना के स्तर पर, ("पचपन खम्भे लाल दीवारें" की सुषमा, "परछाइयों के पीछे" की सुमित्रा) श्रम के स्तर पर ("दीक्षांत" के शर्मा सर) बुद्धि के स्तर पर ("नगर पुत्र हंसता है" का गुणाकर, "गिरती दीवारें" का चन्दर) कहीं आदर्श के नाम पर ("भ्रम भंग" का चन्दन) तो कहीं यथार्थ का बहाना लेकर इन्हें शोषित किया जाता है। परिवार के द्वारा, अंतरंग और आत्मीय सम्बन्धों के बहाने, व्यवस्था और पूंजीवादी प्रतिष्ठानों के द्वारा प्रतिस्पर्धा और महत्वाकांक्षा के नाम पर शोषित होने के लिए आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी पात्र अभिशप्त दिखाई देते हैं। रोचक बात यह है कि जहाँ अपने शोषक की प्रक्रिया को पहचान कर कुछ पात्र चरम-आत्म निर्वासन और अवसाद में डूब जाते हैं वहाँ उन्हीं में से

कुछ अवसर मिलते ही दूसरे का ऐसा शोषण करने से नहीं चूकते। दूसरी ओर आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवी अनेक संदर्भों में अपने ही वर्ग की स्वार्थपरता, अवसरवादिता, महत्वाकांक्षा, दोहरी नैतिकता, व्यक्तिवादिता, परम्पराबद्धता और प्रगतिशीलता, आदर्शवादिता और संघर्षशीलता आदि गुणों तथा अवगुणों को अपने विचारों से प्रकट करते रहे हैं। "विपात्र" के मिश्रा जी अपने वर्ग को "एबीलार्डस" मानते हैं, यही भाव "दीक्षांत" के डिसूजा के हैं। "क्यों फँसे" का भास्कर बुद्धिजीवी को "दिमाग और विचारों की वेश्यावृत्ति करने वाले" कहा है तो "गोबर गणेश" के विनायक "पाखण्डी" मानते हैं। बुद्धिजीवी की सबसे घातक और दारूण स्थिति है आत्मनिर्वासन की। रमेश कुंतल मेघ इसे आत्मपरायापन कहते हुए स्पष्ट करते हैं कि यह लोगों के आपसी सम्बन्धों में विश्वासपात्रता को विलुप्त कर देता है, व्यक्ति को संवेदनशून्य और निष्क्रिय बना देता है। हमारे उपन्यासों के बुद्धिजीवी पात्र चरम अकेलेपन से ग्रस्त हैं। इसका कारण है -- महानगरीय परिवेश, जीवन की एकरसता, मूल्यहीन व्यावसायी-कृत शिक्षा व्यवस्था, अनचाहे सम्बन्धों को ढोये चलने की विवशता, मनचाहे सम्बन्धों की असफल परिणति आदि। ये सारे कारण इन पात्रों में व्यर्थताबोध, मूल्यहीनता अति-संवेदनशीलता या संवेदनशून्यता, अमानवीयकृत होते जाने का बोध और यांत्रिकता के ख़िलाफ़ संघर्ष के रूप में दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ "विपात्र" के कथानायक में की यह उक्ति "भयानक व्यर्थता का भाव रह-रहकर मंडरा आता था और अपनी असमर्थता का भान घुटनों में दर्द और दिल में कचोट पैदा करता था। ----हम कितने अकेले हैं। जीवन में कहीं कोई मीनिंग; कोई अर्थ चाहते हैं, और वह भी मिल नहीं पाता।"(पृ. 38-39) यह आत्मनिर्वासन आलोच्य उपन्यासों में कई तरह से बहुत अधिक मात्रा में चित्रित हुआ है।

षष्ठ अध्याय है -- "स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी वर्ग की प्रगतिशील भूमिका।" पिछले दो अध्याय बुद्धिजीवी वर्ग के नकारात्मक पक्ष को उभारने वाले थे। उनके चरित्र में व्याप्त दुर्गुणों तथा कालिमायुक्त पक्ष का अत्यधिक चित्रण आलोच्य उपन्यासों में हुआ जो कि यथार्थ के दबाव के कारण ही है। इस अध्याय में बुद्धिजीवी वर्ग के सकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है अर्थात् आलोच्य उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का अवसरवादी, समझौतावादी और विवश रूप ही चित्रित नहीं हुआ बल्कि इस वर्ग की प्रगतिशील, संघर्षशील, उत्तरदायी और आदर्शवादी भूमिका का भी चित्रण हुआ है। इसके अन्तर्गत बुद्धिजीवी चरित्रों के दो महत्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित होते हैं -- एक - परम्परा और यथास्थिति को यथावत स्वीकार न करके उसके विरुद्ध जाने, परिस्थितियों को बदलने, उन्हें अपने अनुकूल बनाने और ऐसा न हो पाने की दशा में कम-से-कम अपने विरोध को व्यक्त करने की स्थिति। और दूसरा पक्ष है -- अपनी वैयक्तिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर परिवार, समाज और देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाने तथा महत्तर मूल्यों के लिए संघर्ष करने की स्थिति। पहले पक्ष में हम देखते हैं कि कुछ बुद्धिजीवी वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में प्रगतिशील विचार रखते हैं। वे विवाह के परम्परावादी रूप को स्वीकार नहीं करते अर्थात् माता-पिता द्वारा तय किये गये लड़की अथवा लड़के से विवाह न कर अपनी इच्छानुसार प्रेम-विवाह करना चाहते हैं। दहेज़-प्रथा तथा अन्य कुरीतियों-कुरिवाज़ों का विरोध करते हैं और मैरिज ब्यूरो जाकर साधारण ढंग से क़ानूनी विवाह कर लेते हैं। उनके इस प्रगतिशील कार्य से समाज में जाति-बन्धन की जटिलता टूटने लगी है, भाषाई और धार्मिक कट्टरता नष्ट होने लगी है। इस

तरह वे मानवता व विश्व-बंधुतत्व के अग्रचेता बनकर समाज के अन्य लोगों को सद्प्रेरणा दे रहे हैं चाहे वेह "उखड़े हुए लोग" के बुद्धिजीवी शरद और जया हों या फिर "एक इंच मुस्कान" के अमर और रंजना हों। इसके अतिरिक्त हमारे उपन्यासों के बुद्धिजीवी अनचाहे पारिवारिक बन्धनों को तोड़कर मनचाहे सम्बन्ध भी जोड़ने लगे जिससे तलाक प्रथा का प्रचलन हुआ जिसका निदान दूसरे विवाह में होता है, चाहे वह "उसके हिस्से की धूप" की मनीषा हो या "रेत की मछली" का शोभन अथवा "शेषयात्रा" के डॉ. प्रणव या फिर "वही बात" के चीफ़ इंजीनियर नकुल। इससे एक क़दम और आगे चलकर हमारे बुद्धिजीवी विवाह जैसी प्राचीन परम्परा का निषेध कर देते हैं और बिना विवाह किये साथ-साथ रहने लगते हैं चाहे वह "कोई तो" की डॉ. वर्तिका या पत्रकार नारायण हो या फिर "क्यों फँसे" का पुनैया। और दूसरे पक्ष में हमें ऐसे बुद्धिजीवी दिखाई देते हैं जो अपने उत्तरदायित्वों को समझते हैं और उन्हें पूरा करने के लिए प्रयत्नशील व संघर्षशील रहते हैं। इस उत्तरदायित्व के दो स्तर हैं -- पहला पारिवारिक स्तर, जिसमें वे अपने परिवार के प्रति उत्तरदायित्व को निभाते हैं और संघर्षरत रहते हैं जैसे -- छोटे भाई - बहनों की पढ़ाई-लिखाई, विवाह आदि, माता-पिता की देखभाल आदि, पत्नी-सन्तान की जिम्मेदारी आदि। इन उत्तरदायित्वों को निभाते हुए आलोच्य उपन्यासों के अनेक पात्र संघर्षरत दिखाई पड़ते हैं जैसे — "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की सुषमा, "परछाइयों के पीछे" की सुमित्रा अथवा "भ्रम भंग" का चंदन तथा "निशिकान्त" का निशिकान्त आदि। ध्यातव्य है कि परिवार के प्रति उत्तरदायित्व निभाने में नारी पात्रों की ही संख्या अधिक दिखाई देती है। दूसरा स्तर है -- सामाजिक तथा व्यावसायिक उत्तरदायित्व। यहाँ भी ये बुद्धिजीवी अपने उत्तरदायित्वों को

समझते हैं और इन्हें निभाने में "सरकार" से तक "संघर्ष" करते हुए दिखाई देते हैं। इसमें वे अपने कार्य-लेखन, शिक्षण, प्रकाशन, डॉक्टरी, प्रशासनिक तथा पत्रकारिता आदि क्षेत्रों से पूरी तरह जुड़े रहते हैं। यह उत्तरदायित्व, पारिवारिक उत्तरदायित्व से महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यहाँ वे समाज, और देश से जुड़ते हैं उनका भला करते हैं। कई पत्रकार देश की भलाई के लिए, जनता को सरकार की वास्तविकता से परिचित कर उन्हें जागरूक बनाने के लिए सरकार की ग़लत नीतियों का विरोध करते हैं और उन्हें अपने इस सत्कार्य के बदले नौकरी से निकाल दिया जाता है और वे इस तरह समाज में महत्तर मूल्य स्थापित कर देते हैं उदाहरण के लिए "नगर पुत्र हंसता है" का गुणाकर। इसी तरह शिक्षक भी छात्रों को सुशिक्षा देकर उनका जीवन उच्च बनाते हैं जैसे "अलग-अलग वैतरणी" का मास्टर शशिकांत, "दीक्षांत" के शर्मा सर तथा "गली आगे मुड़ती है" के प्राध्यापक सुबोध भट्टाचार्य। लेखक भी सत्साहित्य रच कर समाज-देश को अनुकरण की प्रेरणा देता है जैसे -- "एक इंच मुस्कान" का अमर तथा "उसके हिस्से की धूप" की मनीषा। समाज के साथ ही देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करने वाले भी कई बुद्धिजीवी दिखाई देते हैं जैसे "दूसरा भूतनाथ" का पत्रकार भूतनाथ, "शेखर : एक जीवनी" का शेखर तथा "टूटते बन्धन" का यशवंत आदि। इसके अतिरिक्त आलोच्य उपन्यासों के बुद्धिजीवियों में आत्म-गौरव और स्वाभिमान की भावना उनकी नस-नस में बसी हुई है जिसकी वजह से वे समाज में महत्तर मूल्यों की स्थापना करते हैं। इस प्रकार इन आलोच्य उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग के धनात्मक पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है।

सप्तम अध्याय वस्तुतः प्रस्तुत अध्ययन और विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को ही सैद्धांतिक आधार प्रदान करता है। स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग का जैसा चित्रण किया गया है उसके निष्कर्ष रूप में हमारे सामने एक ऐसे महाकार विकट शक्तिशाली प्राणी का बिम्ब आता है जो अपनी दिशा न पहचानने के कारण अपनी ही शक्ति के वेग से एक अथाह खाई में उतरता चला जा रहा है। ऐसा क्यों है, इन सवालों के जवाब इन्हीं उपन्यासों की केन्द्रीय वस्तु और इनके लेखकों के दृष्टिकोण में समाहित दीख पड़ते हैं। यह बड़ी रोचक विडम्बना है कि जिस बुद्धिजीवी अर्थात् लेखक के द्वारा उपन्यास लिखा जा रहा है, वह इसके माध्यम से अपने ही वर्ग की विसंगतियों को उजागर कर रहा है। सवाल उठता है कि ऐसा वह जानबूझकर कर रहा है या अनजाने ? इन उपन्यासों के गहन विश्लेषण के बाद मुझे ऐसा लगता है कि बुद्धिजीवी वर्ग का यह चरित्र यथार्थ के दबाव के कारण अपने वास्तविक रूप में उभर कर आया है। रोचक बात यह है कि इन उपन्यासों के लेखक स्वयं भी उन्हीं दबावों से परिचालित हो रहे हैं जिनसे उनके उपन्यासों के चरित्रों का निर्माण हुआ है। एक तरह से इन उपन्यासकारों ने अपने चरित्रों के माध्यम से अपने ही जीवन-यथार्थ, अनुभव, अंतर्विरोध, अन्तःसंघर्ष और दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है। इसीलिए बुद्धिजीवी वर्ग का यह चित्रण इतना स्वाभाविक और विश्वसनीय बन पड़ा है। सवाल उठता है कि बुद्धिजीवियों का चरित्र ऐसा क्यों है और इसके लिए कौन-से तथ्य जिम्मेदार हैं ? इसका जो एक उत्तर मेरी समझ में आता है वह है विभक्त-चेतना। ज्ञान क्रियाशून्य होने से निरर्थक हो जाता है और दिशाहीन या दिशाभ्रष्ट क्रिया ज्ञान को विध्वंसक बना देती है। आज के उपन्यासों में चित्रित बुद्धिजीवी वर्ग

की विडम्बना का कारण यही है। वह ऊँचे-ऊँचे सपने देखता है, उसके मध्यवर्गीय संस्कार उसे आई.ए.एस. अफ़सर से कम का लक्ष्य नहीं देते लेकिन अधिकतर क्लर्क ही बनकर रह जाता है। यह कुंठा उसे आजीवन सालती रहती है। अब प्रश्न उठता है कि बुद्धिजीवी वर्ग की इस चारित्रिक विसंगति का कारण क्या है ? यह ठीक है कि उसकी चेतना विभक्त है लेकिन इस विभक्त चेतना के लिए जिम्मेदार कौन है ? मेरे विचार में, और मुक्तिबोध का यह कथन मेरे विचार को अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत कर सकता है कि एक वर्गविभक्त समाज में व्यक्ति का मन भी विभक्त हो जाता है। लेखक के रूप में तो यह विभाजन बहुत ही संघातक हो जाता है। मुक्तिबोध ने जिस ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की बात उठायी है उसके पीछे यही मान्यता है कि लेखक के संवेदन, ज्ञान, और लेखन कर्म में अपेक्षित तारतम्य होना चाहिए। खंड़ित ज्ञान खंड़ित दृष्टि देता है और खंड़ित दृष्टि से उत्पन्न रचना की संवेदना भी खंड़ित ही होगी। इस विखण्डन का कारण निश्चय ही उस सामाजिक व्यवस्था में निहित है जिसमें रहते हुए लेखक का व्यक्तित्व निर्मित होता है। इसलिए उन शक्तियों और उन प्रक्रियाओं की जाँच-पड़ताल करना होगा जो बुद्धिजीवी चरित्र के निर्माण में केन्द्रीय भूमिका सम्पन्न कर रही हैं। ये शक्तियाँ औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न प्रलोभन, आकर्षण और ऐसे अनेक प्रकार के महत्वाकांक्षापूर्ण आयोजनों का एक अन्तहीन क्रम बना देती हैं जिसके शिकंजे में फंसकर बुद्धिजीवी वर्ग इस असहाय परिणति को प्राप्त हो रहा है। लेकिन सारा दोष व्यवस्था पर डाल देने से बात ख़त्म नहीं हो जाती क्योंकि आज के सामाजिक जागरण के युग में व्यवस्था के बनाने वाले भी तो बुद्धिजीवी ही हैं। "संसद से सड़क तक" -- बुद्धिजीवियों का ही फैलाव है। तब ? ज़ाहिर है कि इन विसंगतियों के

लिए बुद्धिजीवी वर्ग स्वयं भी बड़ी सीमा तक जिम्मेदार है और इसे समझने व स्वीकार करने के क्रम में ही हमारे आलोच्य उपन्यासों का बुद्धिजीवी चरित्र सामने आया है। साहित्य मनुष्य के होने का अर्थ देता है। लेकिन साहित्य का यह उद्देश्य तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि साहित्यकार अपने "होने" के अर्थ नहीं समझे। इसके लिए ज़रूरी है कि वह अपनी वर्ग-स्थिति को समझे और यह सत्य पहचाने की उसकी नियति उच्च वर्ग के पीछे दौड़ने की नहीं है, अपने वर्ग से मुख मोड़ने, पलायन करने या घृणा करने में नहीं है बल्कि निम्न वर्ग के साथ मिलकर इस वर्ग/समाज में शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने में है। आलोच्य उपन्यासों में इन बुद्धिजीवी चरित्रों को उनकी सारी कमज़ोरियों, कमियों, विवशताओं, शक्तियों और विसंगतियों के साथ चित्रित किया गया है। इन उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग की प्रकृति और नियति का यही बिम्ब हमारे सामने आता है। बुद्धिजीवी चरित्र की नकारात्मक प्रवृत्तियों को भी इसी सकारात्मक परिणतियों के साथ देखा जाना चाहिए।

/ विभक्त

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में बुद्धिजीवी वर्ग

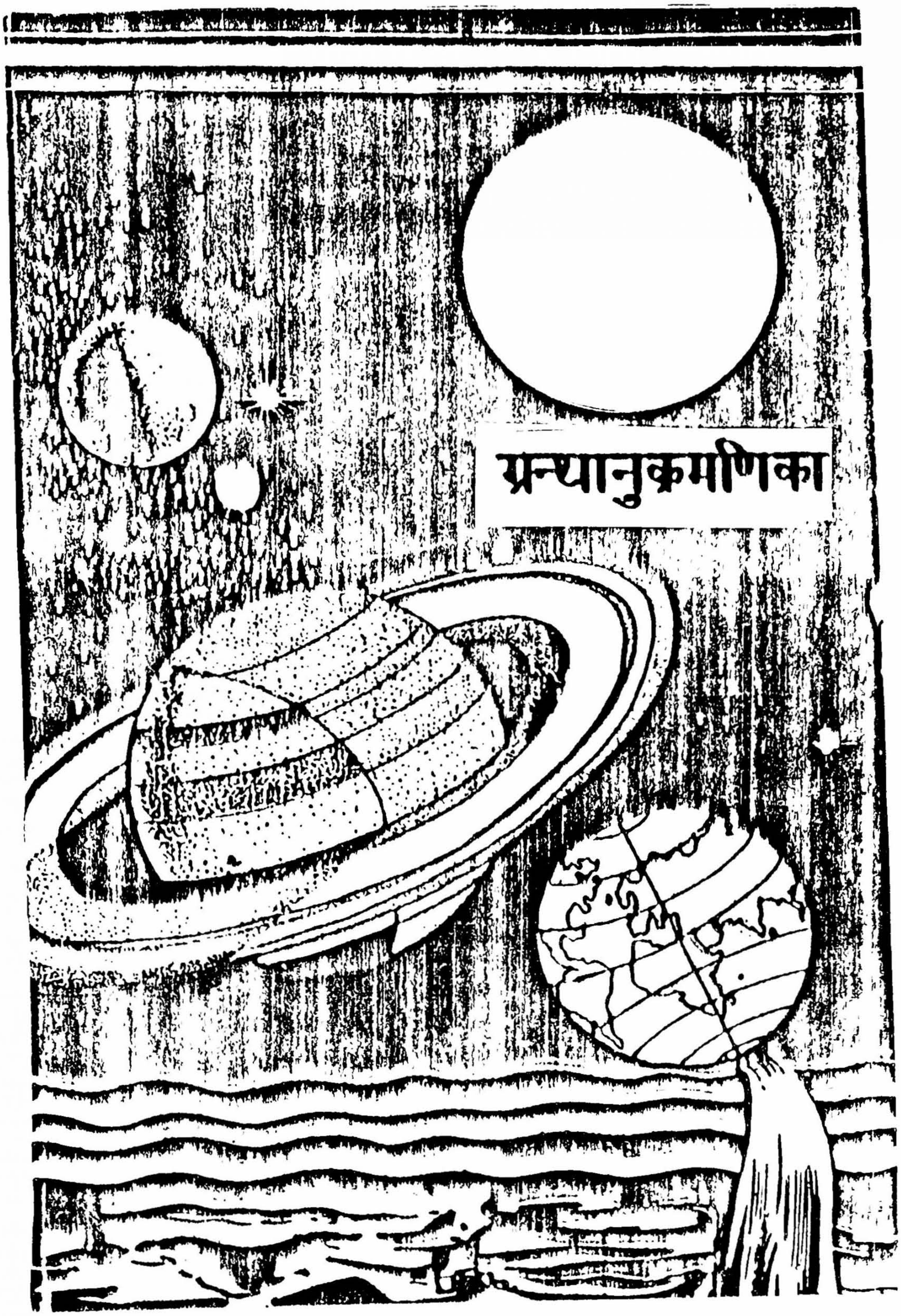

आधार - ग्रन्थ

क्रमांक	उपन्यास	उपन्यासकार	प्रकाशन	संस्करण
1.	अन्तराल	मोहन राकेश	राजकमल प्रकाशन	1973
2.	अन्धेरे बंद कमरे	मोहन राकेश	राजकमल प्रकाशन	1961
3.	अपना मोर्चा	काशीनाथ सिंह	,,	1985
4.	अलग अलग वैतरणी	शिवप्रसाद सिंह	लोकभारती प्रकाशन	1988
5.	अस्पताह	गिरिराज किशोर	वाणी प्रकाशन	1989
6.	आत्मदाह	आचार्य चतुरसेन	प्रभात प्रकाशन	1988
7.	आपका बंटी	मन्नु भण्डारी	अक्षर प्रकाशन	1977
8.	उखडे हुए लोग	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन	1975
9.	उसके हिस्से की धूप	मृदुला गर्ग	अक्षर प्रकाशन	1975
10.	एक इंच मुस्कान	राजेन्द्र यादव/ मन्नु भण्डारी	राजपाल एण्ड संस	1987
11.	एक नन्हीं कन्दील	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन	1967
12.	कर्मभूमि	मुंशी प्रेमचंद	नावेल्टी एण्ड कम्पनी	1987

13.	काया कल्प-भाग 1, 2	मुंशी प्रेमचंद	पल्लव प्रकाशन	1992
14.	क्यों फँसे	यशपाल	विपल्व प्रकाशन	1972
15.	काली आंधी	कमलेश्वर	राजपाल एण्ड संस	1978
16.	कोई तो	विष्णु प्रभाकर	शब्दकार प्रकाशन	1982
17.	गबन	मुंशी प्रेमचंद	राजकमल प्रकाशन	1994
18.	गली आगे मुड़ती है	शिव प्रसाद सिंह	नेशनल प्रकाशन	1974
19.	गिरती दीवारें	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन	1967
20.	गीता पार्टी कामरेड	यशपाल	लोकभारती प्रकाशन	1984
21.	गुनाहों का देवता	धर्मवीर भारती	भारतीय ज्ञानपीठ	1981
22.	गोदान	मुंशी प्रेमचंद	राजकमल प्रकाशन	1993
23.	गोबर गणेश	रमेशचन्द्र शाह	लोकभारती प्रकाशन	1978
24.	चिड़िया घर	गिरिराज किशोर	नेशनल पब्लिशिंग	1993
25.	टूटते बंधन	भगवती प्रसाद वाजपेयी	हिन्द पॉकेट बुक्स	1967
26.	त्याग-पत्र	जैनेन्द्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन	1993
27.	तोडम फोडम	मन्मनाथ गुप्त	राजपाल एण्ड संस	1984
28.	दारूल शफा	राजकृष्ण मिश्र	शब्दकार प्रकाशन	1981
29.	दीक्षांत	सूर्यबाला	नेशनल पब्लिशिंग	1992

30.	दूसरा भूतनाथ	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	राजपाल एंड संस	1985
31.	न आने वाला कल	मोहन राकेश	राजपाल एंड संस	1984
32.	नगर पुत्र हंसता है	धर्मेन्द्र गुप्त	प्रवीण प्रकाशन	1978
33.	नदी के द्वीप	अज्ञेय	सरस्वती प्रेस प्रकाशन	1981
34.	नरक दर नरक	ममता कालिया	लोक भारती प्रकाशन	1975
35.	निर्वासित	इलाचन्द्र जोशी	भारती भण्डार प्रकाशन	2022 संवत
36.	निश्चिकांत	विष्णु प्रभाकर	शब्दकार प्रकाशन	1986
37.	पचपन खम्भे लाल दीवारें	उषा प्रियम्वदा	राजकमल प्रकाशन	1976
38.	परख	जैनेन्द्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन	1993
39.	परछाइयों के पीछे	शशि प्रभा शास्त्री	नेशनल पब्लिशिंग	1979
40.	परती परिकथा	फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन	1992
41.	परीक्षा-गुरु	लाला श्रीनिवास दास	अनुराग प्रकाशन	1992
42.	प्रश्न और मरीचिका	भगवतीचरण वर्मा	राजकमल प्रकाशन	1973
43.	बांधो न नाव इस ठाँव भाग-1, 2	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन	1974
44.	भगोड़ा	मुद्राराक्षस	साहित्यकार सहकार प्र.	1978
45.	भ्रमभंग	देवेश ठाकुर	भारतीय ज्ञानपीठ प्रका.	1975

46.	मंगलसूत्र	[illegible] प्रेमचंद	भारती भाषा प्रकाशन	1991
47.	महाभोज	[illegible] मन्नू भण्डारी	राधाकृष्ण प्रकाशन	1979
48.	मैला आँचल	[illegible] फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन	1993
49.	रूकोगी नहीं राधिक	[illegible] इला प्रसम्वदा	हिन्द पॉकेट बुक्स	1976
50.	राग-दरबारी	[illegible] श्रीलाल शुक्ल	राजकमल प्रकाशन	1978
51.	रेखा	[illegible] अमृतलाल वर्मा	राजकमल प्रकाशन	1964
52.	रेत की मछली	[illegible] कृष्ण भारती	लोक भारती प्रकाशन	1975
53.	लेकिन दरवाजा	[illegible] सीमा जैष्ट	राधाकृष्ण प्रकाशन	1982
54.	वही बात	[illegible] उमाशंकर	शब्दकार प्रकाशन	1982
55.	विपात्र	[illegible] अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ प्र.	1978
56.	शह और मात	[illegible] राजेन्द्र यादव	अधर प्रकाशन	1974
57.	शहर में घूमता आइना	[illegible] अवन्तिका अश्क	नीलाभ प्रकाशन	1992
58.	शेखर : एक जीवनी भाग-1, 2	अज्ञेय	सरस्वती प्रेस प्रकाशन	1981
59.	शेषयात्रा	[illegible] इला प्रसम्वदा	राजकमल प्रकाशन	1991
60.	सुनीता	[illegible] जैनेन्द्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन	1990
61.	सितारों के खेल	[illegible] अवन्तिका अश्क	नीलाभ प्रकाशन	1979
62.	सेवासदन	[illegible] प्रेमचंद	भारती भाषा प्रकाशन	1992

संदर्भ - ग्रन्थ

1. प्रेमचन्द : एक विवेचन -- डॉ. इन्द्रनाथ मदान
2. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि -- ए.आर. देसाई
3. हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष -- ओमकारनाथ श्रीवास्तव
4. आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में -- गंगा प्रसाद विमल
5. आलोचना का रचनाशास्त्र -- डॉ. धनंजय वर्मा
6. मुक्तिबोध रचनावली : चार, पाँच -- सं. नेमीचन्द्र जैन
7. हिन्दी उपन्यासों में वर्ग भावना -- प्रताप टंडन
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास -- बच्चन सिंह
9. द इंडियन मिडिल क्लासेस : देअर ग्रोथ इन माडर्न टाइम्स -- वी. वी. मिश्रा
10. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना -- बीना श्रीवास्तव
11. आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण -- डॉ. रमेशकुन्तल"मेघ"
12. समकालीन भारतीय समाज -- वी.पी. सिंह, आर.पी. पाण्डेय
13. आधुनिक परिवेश और नवलेखन -- डॉ. शिव प्रसाद सिंह
14. छायावाद का समाजशास्त्र -- प्रो. शशि मुदिराज

कोश

01. डिक्शनरी ऑफ सोशियॉलोजी -- सं. हेनरी पी. फेयरचाइल्ड
02. हिन्दी साहित्य कोश -- सं. धीरेन्द्र वर्मा

पत्र-पत्रिकाएँ

01. आलोचना
02. प्रकर
03. हंस